वेद प्रकाश गर्ग

हिन्दी साहित्य का इतिहास समस्याएँ और समाधान



- मेरा विश्वास है कि यदि श्री वेद प्रकाश जैसे सूक्ष्म द्रष्टा पाठक, हिन्दी को बीस ही मिल जाएँ, तो हिन्दी साहित्य में ऊल–जलूल सामग्री पढ़ने को नहीं मिलेगी । लेखक लेखनी सम्भाल कर उठाएँगे । अधीति गर्ग जी की लेखनी हिन्दी साहित्य में राई और नौंन को अलग–अलग करती है । इनकी लेखनी तथ्य के साथ सत्य का उद्घाटन करती है ।

— डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन'

- श्री वेद प्रकाश गर्ग जिस लगन और निष्ठा से शोध कार्य में संलग्न हैं, वह स्तुत्य है। इन जैसे लोग तो अब लालटेन लेकर ढूँढने से ही शायद कहीं मिल सकें। गर्ग जी का काम बाल की खाल निकालना नहीं है, बाल को खाल से अलग करना है, जो श्रम साध्य होने के साथ अध्ययन सापेक्ष है।

— डा० विजयेन्द्र स्नातक

- श्री वेद प्रकाश गर्ग जैसे सुधी समीक्षकों का कार्य भ्रांतियों को दूर करने के लिए आवश्यक है। इस कार्य के लिए मान्य विद्वानों का एक पैनल भी हो सकता है। परन्तु ऐसी व्यवस्था हिन्दी क्षेत्र में नहीं है। अपनी ही प्रेरणा से श्री गर्ग जिस प्रकार तथ्याधारित प्रमाण पुरस्सर कार्य करते हैं वह अपने आप में नितांत अनूठा है,आदर्श है।

—डा० शरणबिहारी गोस्वामी

- मैं श्री वेद प्रकाश गर्ग की शोधात्मक प्रवृत्ति का सदैव प्रशंसक रहा हूँ। उन्होंने जो बहुसंख्यक अनुसंधान परक लेख लिखे हैं, उनकी पर्याप्त प्रशंसा हुई है। इनसे अनेक नवीन तथ्य प्रकाश में आए हैं और साहित्य जगत् में व्याप्त अनेक भ्रान्तियों का निवारण हुआ है।

—डा० प्रभुदयाल मीतल

- भ्रान्तियों का घटित होना और फिर उनका निराकरण किया जाना, दोंनो का ही जैसे अखण्ड क्रम है, जो बना है और कदाचित बना ही रहेगा। ऐसे में जो विद्वान् इस निराकरण के प्रयत्न में रत हैं, उनके श्रम का आदर करते हुए यथासमय अपने इतिहास में संशोधन कर लेना ही उचित होगा। श्री वेद प्रकाश गर्ग हिन्दी के उन्हीं विद्वान् साधको में से हैं जो दीर्घ काल से इस प्रकार की भ्रांतियों के निराकरण में अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा रहे हैं।

—संपादक 'सम्मेलन पत्रिका' भाग ८३ संख्या १

- श्री वेद प्रकाश गर्ग ने विगत अनेक वर्षो में हिन्दी पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित तथा अन्यान्य आलोचनात्मक पुस्तकों और साहित्येतिहास ग्रन्थों के अतिरिक्त खोज –विवरणों में दिये गये तथ्यों में पायी जाने वाली तिथियों, व्यक्ति स्थान तथा नामों और विभिन्न रचना कारों की कर्तृत्व सम्बन्धी भूलों की ओर अपनी टिप्पणियों में सप्रमाण इंगित किया है। अनेक विद्वानों ने उनके निर्देशों की सत्यता और उपयोगिता को साभार स्वीकार किया है ।

— डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित

- समय–समय पर भ्रान्तियों तथा त्रुटियों की ओर विद्वान् अपने लेखों के माध्यम से इंगित करते हुए उनके निराकरण का प्रयास करते हैं। इनमें श्री वेद प्रकाश गर्ग का स्थान अन्यतम है। विगत लगभग चालीस वर्ष से वे इस कार्य में दत्तचित्त हैं। जहाँ तक मेरी जानकारी है, उनके द्वारा निर्दिष्ट त्रुटियों को विद्वान लेखकों नें प्राय: स्वीकार किया है तथा इसके प्रति कृतज्ञता व्यक्त की है। उनके शोध–कार्य की यह एक बड़ी सफलता है।

—डा० रामस्वरूप आर्य

हिन्दी साहित्य का इतिहास : समस्याएँ और समाधान

वेदप्रकाश गर्ग

कुसुम प्रकाशन
नवेन्दु सदन, आदर्श कालोनी
मुजफ्फरनगर (उ०प्र०)—२५१००१

प्रकाशक :

कुसुम प्रकाशन
नवेन्दु सदन, आदर्श कालोनी
मुजफ्फरनगर (उ०प्र०)–२५१००१

सर्वाधिकार : लेखक
संस्करण : प्रथम, २००० ई०
आवरण : श्री रजनीश गौतम
टाइप-सैटिंग : सिंह लेजर प्रिंटर्स, मुजफ्फरनगर
मुद्रक : मोहन आफसेट प्रिंटर्स, मेरठ

मूल्य : रु० 300.00

卐 समर्पण 卐

सुप्रसिद्ध भाषाशास्त्री आदरणीय

डा० कैलाशचन्द्र जी भाटिया

की सेवा में

सादर समर्पित

जिनकी सत्प्रेरणा से आलेखों का

पुस्तक-रूप साकार हो सका।

— वेदप्रकाश गर्ग

लेखानुक्रम

दो शब्द

किसी भी भाषा के साहित्य का इतिहास अपनी किसी भी सीमा-बिन्दु पर अन्तिम नहीं हो सकता। साहित्य के स्वरूप में प्राचीन ग्रन्थों की पांडुलिपियों की उपलब्धि से नवीन साहित्य के सर्जन से या तथ्यों के मूल्यांकन में दृष्टि-परिवर्तन से साहित्य का इतिहास अपना स्वरूप बदलता रहता है। यह सत्य है कि हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखन में पं. रामचन्द्र शुक्ल के नीर-क्षीर-विवेक से युक्त प्रौढ़ और परिपक्व चिन्तन ने जो व्यापक दृष्टि निर्धारित की, वह अत्यन्त मूल्यवान् थी परन्तु उसकी पृष्ठभूमि में उनसे पूर्व के कितने ही इतिहास-ग्रन्थों की भूमिका विद्यमान थी। पुनः, श्री शुक्ल जी ने जो मूल्य-दृष्टि निर्धारित की, वह आगे ज्यों की त्यों स्वीकृत नहीं हुई और सुधी समीक्षकों ने सतर्क कारण प्रस्तुत करते हुए अनेक परिवर्तन प्रस्तुत किये। सिद्ध-साहित्य हो या कबीर और जायसी का मूल्यांकन, भक्ति-साहित्य हो या रीतिकाल अथवा आधुनिक साहित्य सभी क्षेत्रों में वस्तु और मूल्यांकन के नवीन प्रतिमानों के आधार पर इतिहास-दृष्टि को नवीन आयाम मिले। साहित्य के इतिहास में मूल्य-परिवर्तन का आधार विभिन्न विचारधाराओं के आग्रही व्यक्तियों द्वारा भी किया गया है और सत्य के अन्वेषी साधकों द्वारा भी। हम सभी जानते हैं कि 'प्रगतिशीलता' के ध्वजवाहक साहित्यकारों ने हिन्दी-साहित्य के सभी युगों के इतिहासों का मूल्यांकन अपनी प्रतिबद्ध सैद्धान्तिक मान्यताओं के कठघरे में खड़े होकर किया है। इन प्रयासों से जहाँ कुछ रूढ़ियाँ शिथिल हुई लगती हैं, वहीं भारतीय नैतिकता और आदर्शों को चोट मारकर इन्होंने आहत भी किया है।

साहित्य के इतिहास के सभी काल-खंडों की नवोपलब्ध सामग्री का भली-भाँति परीक्षण और तथ्यों के निकष पर कसकर उनकी परख, उससे प्राप्त तटस्थ निष्कर्ष प्रस्तुत करने वाले समीक्षक ही साहित्येतिहास के सच्चे शोधकर्ता हैं। ऐसे शोध-साधकों में श्री वेदप्रकाश गर्ग का नाम मेरी दृष्टि में महत्त्वपूर्ण है। वे न तो किसी विश्वविद्यालय के साधन-सम्पन्न प्रोफेसर हैं, न किसी शासकीय संस्थान के वरिष्ठ अधिकारी, जो अपने श्रम का कम, साधनों का उपयोग अधिक कर क्रान्तिकारी फतवे देते रहते हैं, परन्तु श्री गर्ग पदाति अन्वेषक होकर भी अपने शोध की निरन्तरता को बनाये हुए हिन्दी-साहित्य के इतिहास की दरारों को खूबसूरती से पाटने में संलग्न रहे हैं। मैं उन्हें बहुत पहले से एक लेखक के रूप में जानता हूँ। जब मैं अखिल भारतीय ब्रजभाषा साहित्य मंडल का महामंत्री और उसकी मुखपत्रिका 'ब्रजभारती' का संपादक था, वे अपने शोधपूर्ण लेखों से हमें कृतार्थ करते रहते थे। श्री वेदप्रकाश गर्ग साहित्य के इतिहास के किसी भी क्षेत्र की समस्याओं को सहज ही पहचान लेते हैं और तब उन व्यापक प्रश्नों को, समस्त उपलब्ध सामग्री का संकलन कर उसका अंतस्तल तक अध्ययन करते हुए समस्याओं के रेशे-रेशे को सुलझाते हुए, बिना किसी पक्षपात के इतिहास के ठोस धरातल पर, सभी प्रश्नों का पारदर्शी हल ढूँढ़ लेते हैं। आज उनकी पुस्तक 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास : समस्याएँ और समाधान' मेरे समक्ष है। इतिहास के सभी कालखंडों से चुनी हुई समस्याओं

का सामना करने के लिए जो श्रमपूर्वक प्रयास उन्होंने किये हैं, उनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दु इस ग्रंथ में संकलित हैं।

आदिकाल संबंधी इनके नौ लेख (या टिप्पणियाँ) – कालिंजर के राजा नंद एवं मसऊद, मुंज रासो, संत कवि जयदेव, कवि जल्ह, चंद का पृथ्वीराज रासो, पीपा जी का समय, प्राकृत-पैंगलम के कुछ छंद, सन्त रैदास जी का समय, बीसलदेव रासो– जैसे सभी विषयों की समस्याओं का उन्होंने सीधा सामना किया है। सन्त कवि जयदेव को ही लें। गुरु ग्रंथ साहब में उनके 'दो पद' और 'गीतगोविन्द' दोनों में कहीं साम्य परिलक्षित होता ही नहीं। क्या पदों के कर्ता और गीतगोविन्दकार एक ही जयदेव हैं या भिन्न व्यक्ति हैं ? ये प्रश्न पहले उठ चुके हैं। श्री गर्ग ने जयदेव के नाम से प्राप्त अन्य पदों को भी उद्धृत किया है और विचार के लिए महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की है। आवश्यक नहीं है कि वे अपनी ओर से कोई सायास समाधान पाठकों पर थोपें। वे साक्ष्यों को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि समस्या के समाधान का मार्ग स्वयं खुलता है। जहाँ वे निर्णय करने की स्थिति में होते हैं, दो टूक निर्णय भी करते हैं।

भक्तिकाल वेदप्रकाश जी का प्रमुख विचार-क्षेत्र है। प्रेमाख्यान के छिताई चरित का उन्होंने गहन विवेचन किया है। सगुण भक्ति-सम्प्रदायों में साम्प्रदायिक दृष्टि से लिखे गये आग्रहपूर्ण इतिहासों में निम्बार्क सम्प्रदाय के अनेक आचार्य और रचनाकार श्री केशव काश्मीरी भट्ट, श्री श्रीभट्ट, हरिव्यास देव, परशुराम देवाचार्य, तत्त्ववेत्ता जी, चतुर चिन्तामणि देवाचार्य आदि के काल-निर्धारण की समस्या, जानबूझकर साम्प्रदायिकों द्वारा प्रस्तुत भ्रामक साक्ष्य – सभी का गहरा विवेचन करते हुए उन्होंने पूर्ण तटस्थता के साथ, इतिहास-ग्रंथों की संगति में, इन आचार्यों के ऐतिह्य पर विचार कर भ्रमपूर्ण कुहासे को काटकर साहित्य के इतिहास को अपनी अमूल्य देन दी है। सूर और सूर नवीन का पार्थक्य दिखाने के भ्रामक प्रयासों को उन्होंने विच्छिन्न कर दिया है; इसी प्रकार के अनेक उलझे विषयों को सुलझाकर उन्होंने भक्ति-साहित्य को इतिहास की भूमिका प्रदान की है।

रीतिकाल भी भक्तिकाल के समान ही उनके चिन्तन का क्षेत्र रहा है, जहाँ-जहाँ भ्रम है, वहीं वेदप्रकाश जी की कलम का भ्रम-विच्छेदक तर्क भी है, परन्तु वे केवल तोड़ते ही नहीं, बड़ी कुशलता से विचारों को समन्वित भी करते हैं और सतर्क समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास भी करते हैं।

आधुनिक युग के अनेक विषयों पर भी उनके द्वारा किया गया सामग्री-संकलन का कार्य और विचार महत्त्व के हैं। कहना न होगा कि श्री वेदप्रकाश गर्ग ने बड़ी से बड़ी और छोटी से छोटी समस्याओं को इतिहास के परिप्रेक्ष्य में सुलझाने का कुशलता से प्रयास किया है और नये मार्ग सुझाये हैं। उनकी भाषा-शैली बड़ी ही तर्कसंगत, सुरुचिपूर्ण और प्रवाहमयी है। विषय से चित्त हटता ही नहीं और निष्कर्ष से मन को विश्रान्ति मिलती है।

मैं श्री वेदप्रकाश जी गर्ग के इस सार्थक प्रयास का हृदय से अभिनन्दन करता हूँ।

शरणबिहारी गोस्वामी
कार्यकारी उपाध्यक्ष
उ.प्र. हिन्दी संस्थान, लखनऊ

विहार पंचमी
मार्गशीर्ष शुक्ल पंचमी, सं. २०५६ वि.

लेखकीय निवेदन

'हिन्दी-साहित्य का इतिहास : समस्याएँ और समाधान' नामक अपने इस द्वितीय लेख-संग्रह को साहित्य के गम्भीर अध्येताओं के हाथों में सौंपते हुए मुझे प्रसन्नता हो रही है। इसमें संकलित लेखों एवं टिप्पणियों में से अधिकांश सामग्री का विभिन्न प्रतिष्ठित शोध-पत्रिकाओं में पूर्व प्रकाशन हो चुका है। प्रस्तुत संकलन की सारी सामग्री तथ्यात्मक शोधपरक है।

प्रारम्भ से ही शोध-प्रवृत्ति के कारण अध्ययन के समय हिन्दी-साहित्य के इतिहास के परिप्रेक्ष्य में जो तथ्यात्मक समस्याएँ मेरी दृष्टि में आयीं, उनका भरसक समाधान प्रमाण-पुष्ट तथ्यों एवं तर्कों से करने का मैं निरन्तर प्रयास करता रहा हूँ। यह प्रयास ऐतिहासिक संदर्भों में प्रमाण पुरस्सर है। इसी लिए उक्त लेखों में शोध की ही प्रधानता है। जहाँ किसी समस्या का पूर्ण समाधान सम्भव नहीं हो सका है, वहाँ उसे प्राप्त सामग्री के आधार पर निकटतम स्थिति तक ले जाया गया है, क्योंकि उसकी पूर्ण समाधान-स्थिति भविष्य में प्राप्त होने वाली सामग्री के अधीन है अर्थात् भावी शोध पर आधारित है। संकलन की इस समस्त सामग्री को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य के इतिहास के प्रचलित काल-क्रमानुसार व्यवस्थित कर दिया गया है क्योंकि इसमें इतिहास के सभी कालखंडों से सम्बन्धित समस्याओं पर वैचारिक स्थिति है।

यों तो हिन्दी-साहित्य के इतिहास की काल-क्रम, काल-विभाजन और युगानुसार सामान्य तथा विशेष प्रवृत्तियों के विश्लेषण से सम्बन्धित भी समस्याएँ हैं और विद्वानों ने जिनका समाधान अपने-अपने वैचारिक धरातल पर करने का प्रयास किया है, किन्तु यहाँ इस ओर विचार न करके केवल उसकी वस्तुपरकता की ओर ही ध्यान दिया गया है। हिंन्दी-साहित्य के इतिहास-विषयक ग्रन्थ शुद्ध तथ्यों के प्रकाश में दोषरहित रूप ग्रहण कर सकें, इसी दृष्टि से प्रमाण एवं तर्कों के आधार पर उनका समाधान करने की चेष्टा है, जिससे इस क्षेत्र में कार्यरत महानुभावों के सम्मुख वास्तविक स्थिति आ सके और वे भ्रमित होकर किसी गलत निष्कर्ष पर न पहुँच सकें कारण कि एक अन्वेषक भावी शोधार्थियों को दिशा-बोध ही नहीं देता, अपितु अनुसंधान की अज्ञात रहस्यमयी वीथिकाओं को भी प्रकाशमान करता है। अतएव अन्वेषक को अपने शोध-विषयक निष्कर्षों के प्रस्तुतीकरण में नितान्त सतर्क, स्पष्ट एवं सत्यनिष्ठ रहना चाहिए, अन्यथा भावी अनुसंधित्सु, अन्वेषक के भ्रामक एवं संदिग्ध मार्ग में पड़कर भ्रमित हो जाएगा। अत: शोध-क्षेत्र के अल्पप्रमाद भी क्षम्य नहीं, क्योंकि एक सामान्य भूल भी भविष्य में परम्परा का रूप ले सकती है और शोधार्थी उससे भ्रमित हो सकते हैं। अत: विशेष अवधान की आवश्यकता है।

पुस्तक में निम्बार्क-सम्प्रदाय के कई आचार्यों से सम्बन्धित लेखहैं, जिनमें उनके ऐतिह्य पर विचार कर उनका काल-निर्धारण किया गया है। कारण कि निम्बार्कीय आचार्यों के ऐतिहासिक विकास-क्रम पर शोध की बड़ी आवश्यकता थी। कृष्ण-भक्तिपरक यही एक ऐसा संप्रदाय रहा है, जिसके आचार्यों एवं क्रमिक साहित्यिक विकास पर अत्यन्त सीमित कार्य हुआ है। एक प्रकार से उनके काल-क्रम के सम्बन्ध में तो अराजकता

की-सी स्थिति बनी हुई थी। ऐसा सांप्रदायिकों द्वारा प्रस्तुत भ्रामक साक्ष्यों तथा आग्रहपूर्ण ऐतिह्याभासों के कारण था। अत: प्राप्त सामग्री का गहन विवेचन कर तटस्थतापूर्वक इतिहासमूलक संगति में उनका काल-निर्धारण किया गया है, जो उनकी क्रमबद्धता को रेखांकित करता है।

आचार्य केशव काश्मीरी को सरोजकार ने ब्रजभाषा का कवि होना लिखा है,जो भ्रमपूर्ण है। वे ब्रजभाषा के कवि न होकर संस्कृत के उद्‌भट विद्वान् थे। उनके शिष्य श्रीभट्ट ही निम्बार्क-सम्प्रदाय में सबसे पहले ब्रजभाषा में रचना करने वाले हैं। इसी से वे 'आदिवाणीकार' के रूप में ख्यात हैं। इन श्रीभट्ट तथा आगे होनेवाले आचार्यों के सही एवं संगतिपरक समय को निर्धारित करने हेतु केशव काश्मीरी का काल-निर्धारण नितान्त आवश्यक था। इसी दृष्टि से उनके काल-निर्धारण विषयक लेख को विशेष रूप से स्थान दिया गया है। विश्वास है, इससे इस सम्प्रदाय के आचार्यों को समझने में सुविधा होगी।

सम्भव है, पुस्तक में कुछ पुनरावृत्तियाँ खटकें। इस विषय में निवेदन है कि इन लेखों का प्रणयन-प्रकाशन क्योंकि पृथक्-पृथक् रूपों में हुआ है, अत: ऐसा हो जाना स्वाभाविक है। साथ ही पुस्तक में यदि कहीं कोई प्रूफ की अशुद्धि दृष्टिगत हो तो सहृदय पाठक उसे अपने विवेक से ठीक कर लेने का कष्ट करें।

जिन विद्वानों की रचनाओं से मैंने इन लेखों के प्रणयन में लाभ उठाया है, उन सबके प्रति लेखक अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है। पुस्तक में जिन विद्वानों की रचनाओं की अशुद्धियों का परिहार करते हुए आलोचना हुई है, उनके प्रति लेखक के हृदय में भारी सम्मान है। मैं उनका भी कृतज्ञ हूँ।

अपने अगले लेख-संग्रह में अन्य लेखों को संकलित कर प्रकाशित करने का विचार है। यदि अवसर और विद्वानों का सहयोग मिला तो पाठकों को यथाशीघ्र वे भी पढ़ने को मिलेंगे।

लेखक अपने समस्त पूज्यजनों एवं आत्मीय इष्ट-मित्रों के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता है, जिनकी सत्प्रेरणा एवं प्रयास से यह द्वितीय लेख-संग्रह पुस्तक-रूप में सामने आ सका। उत्तर प्रदेश हिन्दी-संस्थान के कार्यकारी उपाध्यक्ष तथा हिन्दी के मर्मज्ञ विद्वान् डा. शरणबिहारी जी गोस्वामी का मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने मेरा अनुरोध स्वीकार कर इस पुस्तक पर 'दो शब्द' लिख देने की कृपा की है।

डा. कैलाशचन्द्र जी भाटिया मेरे शोध-लेखों को पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित कराने को निरन्तर प्रोत्साहित करते रहे हैं। एतदर्थ यह पुस्तक उन्हीं को समर्पित है।

डा. कृष्णचन्द्र गुप्त तथा डा. कमल सिंह जैसे अनन्य बंधुओं का मैं अत्यधिक आभारी हूँ, जिनके अयाचित सहयोग के फलस्वरूप ही इस कृति का साकार रूप प्रस्तुत हो सका है। इन सबकी महती कृपा और सदिच्छाओं के प्रति लेखक अत्यधिक अनुगृहीत है।

यदि इस प्रयास से हिन्दी-साहित्य के इतिहास से सम्बन्धित कुछ समस्याओं के समाधान में थोड़ी भी सफलता मिली, तो लेखक अपने श्रम को सार्थक समझेगा। विद्वानों के दिशा-निर्देश और सुधी पाठकों के समुचित सुझावों की सादर प्रतीक्षा रहेगी।

धनु-संक्रान्ति **वेदप्रकाश गर्ग**

१६.१२.९९ *१४, खटीकान, मुजफ्फरनगर, उ.प्र.*

१. आदिकाल

१.१ कालिंजर के राजा नन्द एवं मसऊद के कवि होने का आधार

हिन्दी साहित्य के इतिहास की सामग्री के मुख्य आधार अब तक केवल हिन्दी-भाषा के ही ग्रन्थ अधिकतर रहे हैं। दूसरी भाषाओं के ग्रन्थों की ओर हमने अभी तक यथेष्ट ध्यान नहीं दिया है, जबकि उनमें प्राप्य सामग्री किसी प्रकार भी महत्त्वहीन नहीं है।

जिस समय भारतवर्ष पर मुसलमानों के आक्रमण हो रहे थे और मुसलमानी शासन प्रारम्भ हो रहा था, वही समय हिन्दी का आरम्भिक काल भी था।

हिन्दी के आरम्भिक काल का परिचय हिन्दी भाषा के ग्रन्थों में यथेष्ट प्राप्त नहीं होता और न ही हिन्दी के अलावा दूसरी भाषाओं के ग्रन्थों को हमने अभी तक टटोला है। यही कारण है कि हिन्दी के आरम्भिक काल के विषय में हम अधिक जानकारी प्राप्त नहीं कर सके हैं।

मुसलमानी शासन के साथ हिन्दी का प्रारम्भ से ही घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। मुसलमानों की मुख्य भाषा अरबी, फारसी और उर्दू रही है। उनके यहाँ आबाद हो जाने पर यद्यपि उनका झुकाव हिन्दी काव्य साहित्य की ओर हुआ, तो भी वे अरबी, फारसी, उर्दू भाषाओं तथा फारसी लिपि का मोह नहीं त्याग सके। फलस्वरूप मुसलमानों ने हिन्दी-सम्बन्धी जितने ग्रन्थ लिखे, वे अधिकतर अरबी, फारसी एवं उर्दू में ही लिखे और उन्होंने हिन्दी में भी जो लिखा, उसे भी फारसी लिपि का ही जामा पहनाया।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास का, विशेष रूप से आरम्भिक काल का, अधिकाधिक परिचय प्राप्त करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि हम मुस्लिमकालीन इतिहास-ग्रन्थों, सफरनामों तथा तज़किरों का अध्ययन करें और उनसे उपयुक्त सामग्री का चयन कर हिन्दी-साहित्य के इतिहास को अधिकाधिक समृद्ध एवं प्रामाणिक बनाएँ।

इस प्रकार के एक-दो उदाहरण यह दिखाने को प्रस्तुत कर रहा हूँ कि किस प्रकार से इन भाषाओं के ग्रन्थों में हिन्दी-साहित्य के इतिहास से सम्बन्धित सामग्री छिपी पड़ी है।

मिश्रबन्धु विनोद (द्वि०सं०, प्रथम भाग, पृष्ठ ६२ एवं १६०) में कालिंजर के राजा नन्द (३) के विषय में लिखा गया है कि "सम्वत् ११३७ वाले कालिंजर के राजा नन्द भी कवि माने गये हैं।" (पृष्ठ ६२) "सुना जाता है कि सम्वत् १०७५ के लगभग जब सुलतान

महमूद ने राजा नन्द, कालिंजर-नरेश पर आक्रमण किया तब राजा ने उसकी प्रशंसा का एक छन्द लिखकर भेजा और सुल्तान ने प्रसन्न होकर कालिंजर की चढ़ाई उठा ली तथा चौदह किले भी राजा को दिए। परन्तु हमें फिरदौसी का हाल स्मरण कर इस बात पर विश्वास नहीं होता।''

मिश्रबन्धुओं के राजा नन्द-विषयक इस उल्लेख में किसी ठोस आधार का उल्लेख नहीं है। यह केवल जनश्रुति पर ही आधारित जान पड़ता है। साथ ही राजा नन्द के प्रति सुलतान महमूद के किए गये व्यवहार पर भी अविश्वास प्रकट किया गया है।

श्री अगरचन्दजी नाहटा ने अपने लेख 'मिश्रबन्धु विनोद की भूलें' में लिखा है- ''उपर्युक्त तीनों उल्लेखों का कोई भी आधार आज तक ज्ञात नहीं है। नन्द, सोमेश्वर, मसऊद और क़ुतुब अली में से किसी की रचना की एक भी पंक्ति उपलब्ध नहीं है। अतः बिना प्रमाण के ही इन्हें लेकर केवल संख्या बढ़ाते चलना उचित प्रतीत नहीं होता। हाँ, भविष्य में प्रमाण मिल जाने पर इनका उल्लेख करने में कोई बाधा नहीं।''[१]

मिश्रबन्धुओं द्वारा उल्लिखित हिन्दी के कवि कालिंजर के राजा नन्द की कोई रचना तो प्राप्त नहीं हुई, किन्तु उसके कवि होने का आधार प्रारम्भिक मुस्लिम इतिहास-ग्रन्थों में अवश्य प्राप्त हुआ है।

सुलतान महमूद के दरबार में अरब और फारस के विद्वानों के साथ-साथ भारतीय विद्वान् भी थे। कालिंजर के राजा नन्द ने सन् ४१३ हि० में सुलतान की शान में हिन्दी में शेर लिखकर भेजा, उनका हवाला फरिश्ता में यों है – ''नन्दा बजबान हिन्दीदर मदः सुलतानशअरी गुफ्तः न्जिदा व फरिशतादसुल्तान आँरा बफजलाय हिंदा व अरब व अजम कि दर मुलाजिमत अबबूदंद नमूदः हमगी तहखीन व आफरीं करदंद।''[२]

मुसलमान इतिहासकारों ने कालिंजर के राजा 'गंड' का उल्लेख 'नन्द' के रूप में किया है और उक्त घटना सं० १०७६ की है। अतः सं० १०७५ गंड (नन्द) का उपस्थिति काल है और सं० ११३७ पूर्णतया अशुद्ध है। राजा नन्द (गंड) की कोई रचना अभी नहीं मिली। उसके कवि होने का उल्लेख मात्र मिलता है।[३]

इसी प्रकार मिश्रबन्धु-विनोद के पृष्ठ ६२ और १६१ पर हिन्दी के मुसलमान कवि मसऊद का उल्लेख इस प्रकार हुआ है – ''साद का पुत्र मसऊद भी हिन्दी का कवि था। इसका समय ११८० के लगभग समझना चाहिए।''

इस उल्लेख में भी मिश्रबन्धुओं ने किसी आधार का उल्लेख नहीं किया कि किस प्रमाण पर यह उल्लेख आधारित है।

श्री नाहटा जी ने इस पर टिप्पणी लिखी है, जो पहले उद्धृत की जा चुकी है। मसऊद की रचना तो कोई प्राप्त न हो सकी, किन्तु हिन्दी के कवि होने का आधार

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५४, अंक १, पृ० ३७

२. मतबूअः नवलकिशोर, सफा ३१, जिल्द अव्वल। 'उर्दू क्योंकर पैदा हुई ?' मौलाना सैयद हुसैन, शिवली, आजमगढ़, द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ४०५

३. दे० चन्देल और उनका राजत्वकाल, ले० श्री केशव चन्द्र मिश्र, पृ० ८६-६३, प्र० ना० प्र० सभा, काशी।

अवश्य प्राप्त हुआ है।

'मसऊद साद सलमाँ' अल्मुतवफ्फी ने, जो सन् ५ हिजरी में लाहौर में पैदा हुआ था और लाहौर ही में रहता था, एक अरबी का, एक फारसी का तथा एक हिन्दी का दीवान यादगार छोड़ा – ''यके बताजी व यके बपारसी व यके बहिन्दी।''[1]

हिन्दी के प्रसिद्ध कवि अमीर खुसरो ने भी हिन्दी के कवि मसऊद के बारे में अपने दीवान इज्जतुल्कमाल के अन्त में इस प्रकार लिखा है – ''पेश अर्जी अज बादशाहाने सखुन कसे रासह दीवान न बूद मगर मरा कि खुसरूए ममालिके कलामम मसऊदे सादए सलमाँरा अगरचे: हस्त अमा आँ सह दीवान दर इबारत अस्त अरबी व पारसी व हिन्दी दर पारसी मुजर्रद कसे सखुन रा सेह किस्म न करद: जुज मन कि दरीं कार कस्साम आदिलम् किस्मत् चू चुनीं बूदचे तदबीर कुनम्।''[2]

मसऊद सअद सलमान (सन् १०५४-११३१ ई०), जो महमूद के पौत्र इब्राहीम के दरबार में था और जिसके पूर्वज ईरान के हमदान स्थान से आये थे, को हिन्दी का सर्वप्रथम मुसलमान कवि स्वीकार किया जाता है। इसकी भी कोई रचना अभी नहीं मिली।[3]

इनकी रचनाओं के उदाहरण प्राप्त करने के लिए पर्याप्त अनुसंधान की आवश्यकता है। आशा है कि उस समय की उपयुक्त और आवश्यक सामग्री को टटोलने पर शीघ्र ही इनकी रचनाओं के उद्धरण भी प्राप्त हो जाएँगे।

खुदाबख्श लाइब्रेरी, पटना जैसी संस्थाओं में इनकी रचनाएँ प्राप्त होने की सम्भावना है।

मैं विद्वानों से प्रार्थना करूँगा कि वे इस ओर ध्यान देकर इनके और इनकी रचनाओं के बारे में पूर्ण विवरण प्राप्त करने का प्रयत्न करें।

१.२ मुंज रासो

यद्यपि इस नाम की कोई रचना अभी तक नहीं मिली है, किन्तु सुप्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण – 'सिद्ध हैम' (सिद्ध हेम शब्दानुशासन), मेरुतुंगाचार्य की 'प्रबन्ध चिन्तामणि' तथा एक अन्य जैन प्रबन्ध-संग्रह में, जिसका उपयोग मुनि जिनविजय जी ने 'पुरातन प्रबन्ध-संग्रह' के सम्पादन में किया है, मुंज विषयक कुछ छन्द मिलते हैं। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि हेमचन्द्र के पहले ही मालवा (धार) के परमार राजा मुंजराज के चरित्र को आधार मानकर अपभ्रंश में लिखा कोई काव्य-ग्रन्थ रहा होगा और ये छन्द उसी ग्रन्थ के हों। सम्भव है, यह रचना रासो-परम्परा की ही हो

---

१. लुबाबुल् अलबाब ओफी, जिल्द २, सफा २४६ गब्र; द्विवेदी-अभिनन्दन ग्रन्थ, 'उर्दू क्योंकर पैदा हुई ?' पृ० ४०६।

२. खात्म: इज्जतुल्कमाल अमीर खुसरो कलमीदारुलमुसन्नफीन; द्विवेदी-अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ४०६।

३. (अ) दे० हिन्दुई साहित्य का इतिहास (गार्सां द तासी) भूमिका, पृ० १०७-१०८, प्र० हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद। अनु० डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय।

(आ) दे० भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, ले० डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या, पृ० २०१-२०२।

और इसका नाम 'मुंजरासो' रहा हो, यद्यपि इस सम्बन्ध में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। चूँकि मेरुतुंग की 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' (सं० १३६१) में 'मुंज-प्रबन्ध' अर्थात् मुंज की कथा भी दी हुई है, इसलिए इस रचना का 'मुंजरासो' नाम अनुमित कर लेना अस्वाभाविक नहीं है।

इस रचना का रचयिता अज्ञात है और रचना-काल भी निश्चित नहीं है, क्योंकि यह रचना एक स्त्री के प्रेम में मुंज की दुर्गतिपूर्ण मृत्यु का चित्रण करती है, इसलिए उसके किसी वंशज द्वारा इसका निर्माण कराया जाना सम्भव प्रतीत नहीं होता। इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है। पर, यह हेमचन्द्र (१२वीं शती) के पहले की रचना है, इसमें सन्देह नहीं।

धार-नरेश मुंज का शासन-काल सं० १०२७ वि०सं० से लेकर सं० १०५४ वि० के आसपास तक माना जाता है[1] और हेमचन्द्र के 'सिद्धहैम' का रचना-काल सं० ११६२ मान्य है। अतः इस रचना का समय सं० १०५४ और ११६२ के बीच सम्भवतः सं० ११५० के आसपास माना जा सकता है। इन प्रबन्धों में जो कथा 'मुंज' की आती है, उससे जान पड़ता है कि यह रचना आकार में छोटी न रही होगी।

मुंज और मृणालवती की जो प्रणय-कथा 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' और 'पुरातन प्रबन्ध-संग्रह' के मुंज-प्रबन्धों में आती है, वह इस प्रकार है –

धारेश मुंज का दक्षिणपथ के कल्याणपुर (कल्याणी) के चालुक्यवंशीय राजा तैलप (द्वितीय) से घोर वैमनस्य है, जिसके कारण कई बार उनमें भयंकर युद्ध होता है और बार-बार तैलप को पराजय का मुख देखना पड़ता है। फिर भी उसने अपना दुस्साहस नहीं छोड़ा और उसमें प्रतिशोध की भावना प्रबल रही। वह मुंज को किसी भी तरह परास्त करने की ताक में था। मुंज उसकी चालाकी न समझकर, उसकी छेड़छाड़ से उत्तेजित हो उस पर आक्रमण करने को उद्यत हुआ। आक्रमण का अनुकूल अवसर न देखकर महामात्य रुद्रादित्य ने उचित सम्मति देकर मुंज को रोकने की चेष्टा की, किन्तु अति उत्साह में मन्त्री की सम्मति पर ध्यान न देते हुए मुंज ने नदी पार कर उसके राज्य में घुसकर उस पर आक्रमण किया। परिणाम वही हुआ, जिसकी महामात्य को शंका थी। विषम परिस्थितियों एवं छल-बल से मुंज पराजित हुआ और कैद में डाल दिया गया। कारावास में तैलप की ज्येष्ठा विधवा बहिन मृणालवती से उसका प्रेम हो गया। मुंज के सहायकों ने उसे वहाँ से निकालने की एक कार्य-योजना बनाई। मुंज ने मृणालवती से उस योजना की बात बताते हुए, उससे भी साथ भाग निकलने के लिए कहा। मृणालवती अपयश के भय से उसके साथ भागना नहीं चाहती और न उससे अलग होना। वह चाहती है कि वह बन्दी-गृह में बना रहे, जिससे उसका प्रणय-व्यापार चलता रहे। यह सोचकर उसने अपने भाई से रहस्योद्घाटन कर मुंज के उस षड्यन्त्र को विफल कर दिया। तदनन्तर मुंज की बड़ी दुर्गति की जाती है। उससे घर-घर भीख मँगवाई जाती है; यहाँ तक कि

१. दे० वीणा (धार-अंक), वर्ष १५, अंक १, पृ० ६

मृणालवती के घर पर भी। मृणालवती ने ऐसे कठोर दण्ड की कल्पना तक न की थी। अपने प्रेम को इस प्रकार अपमानित होते देख उसे बड़ा पश्चात्ताप हुआ। अन्त में मुंज को हाथी से कुचलवाकर मरवा दिया जाता है। प्रेम की यह कहानी अपने अति कारुणिक रूप में जनजीवन में व्याप्त हो गयी।

यदि देखा जाए तो 'मुंजरासो' का इस प्रकार एक प्रबन्ध-काव्यात्मक रचना-रूप प्रकट होता है, क्योंकि इसमें मुंज के जीवन के एक व्यापकतर अंश की कथा का आधार लिया गया है और यह कथा दु:खान्त है। यद्यपि इसमें परकीया प्रेम का वर्णन हुआ है, किन्तु अविहित प्रेम का परिणाम कितना भयंकर होता है, मुख्यत: यही इस कथा में दर्शाया गया है। छन्द-योजना की दृष्टि से इस रचना में अधिकांशतया दोहे हैं, किन्तु 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' के 'मुंजरास प्रबन्ध' में उद्धृत छन्द 'दोहा' के अतिरिक्त 'गाथा, शिखरिणी, अनुष्टुप आदि वर्णवृत्त भी हैं', अत: कहा जा सकता है कि इसकी रचना पठन-पाठन के लिए हुई थी, यह गाये जाने के लिए नहीं लिखा गया।

धार के परमार राजा मुंज की वाक्पति राज, अमोघ वर्ष, उत्पलराज, पृथ्वीवल्लभ, श्री वल्लभ आदि उपाधियाँ थीं। वह स्वयं विद्वान्, वीर, जनप्रिय तथा विद्वज्जन मंडित शासक था। इसके सुरपुर-गमन करने पर कवियों ने 'गते मुंजे यश: पुंजे निरालम्बा सरस्वती' के रूप में अपनी भावना को व्यक्त किया था। महाराज मुंज जैसे शूरवीर, उदार, दानी थे, वैसे ही विद्वान् और विद्वज्जन-वल्लभ भी थे। कवियों ने उन्हें 'कवि-मित्र' कहा है। स्वयं मुंज देव की कुछ कविताएँ प्राप्त होती हैं। प्रबन्धों एवं सुभाषितावलियों में मुंज के बनाए कई श्लोक दिये हुए हैं और क्षेमेन्द्र ने भी उनका एक श्लोक उद्धृत किया है। 'अमरु शतक' की टीका में अर्जुन देव ने मुंज का एक पद्य लिया है। 'एपिग्राफिका इंडिया' के अनुसार अलंकार शास्त्र के कुछ ग्रन्थों में भी मुंज के कतिपय पद्य प्राप्त होते हैं।[१]

मुंज एवं मृणालवती की प्रणय-कथा से सम्बन्धित जो दोहे प्रसिद्ध हैं, उनके बारे में यह प्रश्न उठता है कि वे क्या मुंज के बनाए हुए हैं ? इन दोहों में मुंज का नाम तो आता ही है, साथ ही कुछ दोहों में 'मुंज भणइ' की छाप भी है, जिसके आधार पर कुछ विद्वानों का ऐसा विचार है कि ये दोहे मुंज के हैं और इसीलिए वे परमार राजपुत्र को पुरानी हिन्दी का कवि स्वीकार करते हैं। किन्तु केवल 'मुंज भणइ' (मुंज कहता है) की भणिति के आधार पर यह निर्णय करना कठिन है कि ये मुंज-रचित हैं या किसी अन्य कवि द्वारा रचित, क्योंकि 'मुंज भणइ' (मुंज कहता है) का अर्थ जहाँ यह हो सकता है कि यह मुंज की कविता है, वहाँ यह भी अर्थ हो सकता है कि यह किसी अन्य कवि द्वारा निबद्ध पात्र मुंज का कथन (उक्ति) है। वैसे तो प्रबन्ध चिन्तामणिकार के समय (सं० १३६१) तक तो यह मान्य था कि ये दोहे मुंज के हैं। जो भी हो, इतना निश्चित है कि इन दोहों की मूल भावना प्रेमपरक है और ये मुंज एवं मृणालवती के प्रेम के बड़े मर्मस्पर्शी एवं संवेद्य स्वरूप का चित्रण करते हैं।

---

१. दे० जिल्द १, पृ० २२७

कैसी विडम्बना है कि प्रतापी राजा मुंज, जो कभी दुष्टों, आततायियों को कड़ा दण्ड देता था, जो कितने राजाओं को पराजित करता, कितनों को पुरस्कृत, वही काल की गति से रस्सी में बँधकर मर्कट (बन्दर) की भाँति नचाया जा रहा है। पश्चात्ताप की घड़ियों में वह अपने जीवन को ही व्यर्थ समझने लगता है। वह आग की ज्वाला में जलकर राख क्यों न हो गया। विषाद का एक कारुणिक दृश्य इस प्रकार है –

झाली तुट्टी किं न मुउ किं हुयउ छार पुंज।
हिंडइ दोरी बंधीयउ जिम मंकड तिम मुंज॥

फिर यह कहकर अपने को ढाढ़स बँधाता है कि – 'रत्नाकर की भाँति अनेक गुणों के पुंज हे मुंज ! विधाता का ढोल जैसे-जैसे बजता है, उसी प्रकार मनुष्य को नाचना पड़ता है। विषाद क्यों कर रहे हो ? देखो न, रावण को, जो दस शिर वाला था, जिसके पास सोने की लंका थी, सागर खाई था, फिर भी भाग्य के क्षय से सब समाप्त हो गया' –

चित्ति विसाउ ण चिंति यइ, रयणायर गुण पुंजु।
जिम जिम वायहि विहि पडहु, तिम नाचिंजइ मुंजु॥
सायरु षाई लंक गढ़, गढवइ दस शिर राउ।
भगगषइ सो भंजि गउ, मुंज म करिसि विसाउ॥

अंत में मृणालवती को बड़ा पश्चात्ताप और आत्मग्लानि हुई। उसने किसी अवसर पर मुंज से अपने पश्चात्ताप को प्रकट भी किया था, पर मुंज को वह वेदना इतनी गहरी हो गयी थी कि वह केवल इतना ही कहकर रह गया कि – 'जो मति पीछे उपजती है, वह मति यदि पहले हो तो मुंज कहता है कि हे मृणालवती ! कोई विघ्न न घेरे।'

जा मति पच्छइ संपज्जइ, सा मति पहिली होइ।
मुंज भणइ मुणालवइ, विघन न वेढइ कोइ॥

मुंज के यौवन और अपनी अधेड़ उम्र के विचार से म्लान मुख मृणालवती के इस प्रेम-प्रवंचना के पश्चात्ताप को देखकर मुंज ने उसे ढाढ़स बँधाते हुए कहा कि – 'हे मृणालवती ! गये हुए यौवन को न पछता। शर्करा के सौ के सौ खण्ड हो जाने पर भी उसकी चूरी (चूर्ण की हुई) वैसी ही मीठी होती है।'

मुंज भणइ मुणालवइ जुव्वन गयुं न झूरि।
जइ सक्कर सय खंड थिय तो इस मीठी चूरि॥

मुंज भणिति के रूप में ये अपभ्रंश पद्य प्रेम के नाम पर विश्वासघात का प्रबल प्रहार सहनेवाले मुंज के दग्ध अन्तःकरण की गाथा कहते हैं। तैलंगराज की बहिन मृणालवती के धोखा देकर बन्दी बनवाने पर मुंज स्त्री जाति के प्रति विश्वासहीन हो उठता है। वह कहता है कि – 'सबके चित्तों को हर्षित करने या हरने के अर्थ प्रेम की बातें बनाने में चतुर स्त्रियों में जो विश्वास करते हैं, वे हृदय में बहुत दुःख पाते हैं–

सउ चित्त हरि सट्ठी मम्मणह वत्तीस डीहियां।
हियम्मि ते नर दड्ढ सीझे जे बीस सइ थियां॥

मुंज गलियों में माँगता फिरता था। हाथ में उसके पड़ुआ (पत्तों का दोना) था। किसी स्त्री ने घमण्ड से सिर मटकाकर भीख न दी, तब वह लक्ष्मी की अस्थिरता को लक्ष्य करके कहता है कि – 'हे भोली, हे मुग्धे, मत गर्व कर, मुझे हाथ में पड़ुआ लिये देखकर। इस मुंज के चौदह सौ छिहत्तर हाथी चले गये' –

भोलि मुंधि या गब्बु करि पिक्खिवि पडुगुपाइं।
चउदसइ सइं छहुत्तरहं मुञ्जह गयह गवाइं॥

अन्त में मुंज अपने मन्त्री रुद्रादित्य, जिसने राजा का भावी अनिष्ट समझ और अपने को असमर्थ जान चिता में जलकर प्राण दे दिये थे, को याद करते हुए कहता है कि – 'जिसके गज, रथ, घोड़े और पैदल चले गये हैं, जो बिना सेवक के है, ऐसे मुझको हे स्वर्ग-स्थित रुद्रादित्य ! बुला ले। मैं तेरी ओर मुँह किये हुए हूँ –

गय गय रह गय तुरंग गय पायक्कडा निभिच्च।
सग्गट्ठिय करि मंतण उम्मुंहहु (ता ?) रुद्दाइच्च॥

मुंज के सम्बन्ध में एक घटना का और उल्लेख मिलता है। मालव-नरेश मुंज का राजकार्य तो उसका मन्त्री रुद्रादित्य ही देखता था और मुंज किसी स्त्री पर आसक्त था। रात ही रात में वह चिरक्किल नाम के ऊँट पर चढ़कर उसके पास बारह योजन चला जाता और लौट आता। कुछ दिन पीछे मुंज ने आना-जाना छोड़ दिया तो उस खंडिता ने मुंज को यह दोहा लिख भेजा, जिसमें कहा गया है कि – 'मुंज (प्रेम की) डोरी ढीली हो गई है, खसक गई है, गँवार ! तू नहीं देखता कि आषाढ़ में घन (मेघ) गरजने पर अब भूमि फिसलनी हो जायगी' –

मुंज षडल्ला दोरडी पेक्खेसि न गम्मारि।
आषाढि घण गज्जीइँ चिक्किलि होसेऽवारि॥

हेमचन्द्र के व्याकरण में जो अपभ्रंश के दोहे दिये हैं, उनमें एक दोहा इस प्रकार है[1] –

बाह बिछोडवि जाहि तुहुँ, हउँ तेवँइ को दोसु।
हिअयट्ठिय जइ नीसरहि, जाणउ मुंज सरोसु॥

'बाँह छुड़ाकर तुम जा रहे हो, मैं तुम्हें क्या दोष दूँ ? ऐ मुंज, तुम हृदय में स्थित हो, यहाँ से निकलो तो मैं समझूँ कि तुम सचमुच सरोष हो।'

---

१. हेमचन्द्र – व्याकरण के दोहों पर 'दोधक वृत्ति' नामक ग्रन्थ मिलता है, जिसमें उदाहरणों की संस्कृत-व्याख्या की गयी है। ग्रन्थ की पुष्पिका इस प्रकार है –

'इति श्री हैम व्याकरण प्राकृत वृत्तिगत दोधकार्थः समाप्तः लिखितो महोपाध्याय........य सं०१६७२ वर्षे शके १५३८ प्र० (वर्तमाने) वैशाख वदि १४ शनौ।'

आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने अपने 'छंदोऽनुशासन' पर 'स्वोपज्ञ वृत्ति' की रचना भी की है, जिसका अपर नाम 'छंदश्चूडामणि' भी है। इस स्वोपज्ञवृत्ति के अध्याय ६, सूत्र १ की वृत्ति में मुंज के अर्थात् मुंज-विषयक पाँच दोहे मुख्य प्रतीक रूप से देकर उन्हें कामदेव के पंच बाणों के तौर पर बताया गया है। उक्त दोहों के विशेष ज्ञातव्य हेतु देखिए – 'अगर चन्द नाहटा-अभिनन्दन-ग्रन्थ', द्वितीय भाग में प्रकाशित डा० एच०सी० भायाणी का 'दि फाइव अपभ्रंश वरसज कम्पोज्ड बाई मुंज दि परमार किंग आफ मालवा' शीर्षक अंग्रेजी लेख।

उक्त दोहे में किसका कथन है, इस सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं और इसीलिए इसका अर्थ भी अपने-अपने मतानुसार अलग-अलग रूप में किया गया है। मुंज की कविताओं में नाम देने की चाल को देखकर कुछ ने इसे मुंज का कथन माना है और इसके चौथे चरण का अर्थ किया है – 'मुंज कहता है कि मैं जानूँ कि तू सरोष है।' कुछ ने इसे मृणालवती का कथन माना है और इसका अर्थ इस रूप में किया है – 'मृणालवती मुंज का अन्त देखकर बिफर उठती है और कहती है कि – 'मुझ बहती हुई अथवा मेरी बाँह छुड़ाकर मुझको छोड़कर जा रहे हो। मैं तुझे क्या दोष दूँ (सारा दोष तो अपना है), पर तुम्हारा स्थान अब मेरे हृदयस्थल में है, यदि वहाँ से निकल जाओ तो तुम्हें सरोष जानूँ।' इस दोहे से इतना तो स्पष्ट है कि यह बात किसी ने मुंज से कही है। अतः यह भी सम्भव है कि जिस खंडिता नायिका ने फिसलनी भूमि वाला दोहा मुंज को लिखा था, उसी का लिखा यह भी हो[1] और यह उचित भी प्रतीत होता है। मृणालवती के कथन रूप में यह कुछ जँचता नहीं और मुंज का यह कथन लगता नहीं। कम से कम इतना निश्चित है कि यह दोहा सं० ११६६ से किसी समय पहले की रचना है, जिसे उस समय या तो स्वयं मुंज का रचित या किसी से मुंज को प्रेषित माना जाता था। अतः इसकी प्राचीनता में सन्देह नहीं है।

उपर्युक्त पद्यों के अतिरिक्त सम्भव है, मुंजविषयक और भी कुछ पद्य हों, इन सबको एक ही स्थान पर संगृहीत करने की आवश्यकता है।

इस प्रकार मुंजरासो में मुंज और मृणालवती के साथ एक सुन्दर संवाद की योजना है, जिसमें नीतिमय युक्तियों का सुभाषित रूप में प्रचुर प्रयोग है, जो उन दोनों के मार्मिक वियोग से सम्बन्धित है। इस रासो की मूल भावना प्रेमपरक है, जिसमें प्रेम के बड़े मर्मस्पर्शी एवं सम्बन्ध-स्वरूप का चित्रण हुआ है। अतः कहा जा सकता है कि इस रासो का रचना-संसार अत्यन्त सुन्दर, सरस, सुनियोजित एवं ललित है। निश्चित ही अपनी सरस प्रेमभंगिमा, अति कारुणिक परिणति, अपने-अपने अनुभवों की पीड़ा के कारण मुंजरासो में वह मर्मस्पर्शिता मिलती है, जो भाषा काव्य-जगत् में दुर्लभ है। निश्चय ही मुंज प्राचीन हिन्दी काव्य के ललित कवि हैं।

१.३. संतकवि जयदेव

'सन्त' शब्द का प्रयोग यों तो भिन्न-भिन्न अर्थों में किया जाता रहा है, किन्तु किसी समय विशेष रूप से इस शब्द का प्रयोग केवल उन साधकों के लिए ही रूढ़िबद्ध हो गया था, जिनकी साधना 'निर्गुण भक्तिपरक' थी। प्रायः सभी सन्तों ने अपने-अपने विचारानुसार 'सन्त' शब्द की व्याख्या करते हुए सन्तों की रहनी तथा करनी के सामंजस्य की ओर ध्यान देने की चेष्टा की है। यद्यपि साधना-भेद से उनके वर्णनों में बहुधा ज्ञान,

---

१. नायिका की यह उक्ति प्रायः सूरदास के जीवन-वृत्त से सम्बन्धित निम्न दोहे से मिलती है –

बाँह छुड़ाए जात हौ, निबल जानि के मोंहि।
हिरदय से जब जाहू तौं, सबल बदौंगो तोहि॥

भक्ति एवं आचरण की प्रधानता के कारण सूक्ष्म अन्तर भी दिखलाई पड़ता है, परन्तु सभी सन्तों का लक्ष्य मानव-जीवन को समुचित महत्त्व देते हुए, एक प्रकार से आध्यात्मिकता के आधार पर उसका उत्थान करना ही रहा है। यही कारण है कि सन्तों की भावधारा बहुधा उपदेशात्मक रही है। ऐसे वैचारिक सन्तों को 'निर्गुणपंथी' नाम से अभिहित किया गया है। अत: प्रतीत होता है कि 'निर्गुण पंथ' शब्द का प्रयोग पहले सगुणोपासक भक्तों के सम्प्रदायों से इसकी विभिन्नता दिखलाने हेतु किया जाने लगा था। कालान्तर में इसी सन्त-परम्परा को 'सन्त-मत' से भी पुकारा जाने लगा।

यह 'सन्त-मत' अर्थात् सन्त-साधना की परम्परा प्राक् वैदिक ऋषि और मुनि परम्पराओं की समन्वित विचारधारा का ही प्रतिफल है, क्योंकि प्राक् इतिहासकाल में सन्त-साधना की ऐसी अनेक मूल धाराएँ प्रचलित थीं, जिनका संकेत वैदिक तथा पौराणिक साहित्य में प्रचुर मात्रा में मिलता है और जो विभिन्न धर्म-साधनाओं को आत्मसात् करके भी अपना मूल रूप सुरक्षित रखते हुए सतत प्रवहमान रहीं। इसे धाराओं का समन्वित रूप भी कह सकते हैं।

भारतवर्ष में चतुर्थाश्रमी विरक्त संन्यासियों की परम्परा बहुत प्राचीन है। इनकी अनेक शाखाएँ और पृथक्-पृथक् साधन-प्रणालियाँ लोक में प्रचलित रही हैं, जिन्हें वैदिक और वैदिकेतर रूप में देखा गया है। किन्तु वास्तविकता यह है कि इनके चिन्तन-तत्त्वों में एकान्विति की स्थिति विद्यमान है और जिसकी अखण्डता निरन्तर गतिमान है।

प्राचीन भारत में अन्य शाखाओं के साथ ही दिगम्बर यतियों की शैव-भागवत शाखाओं के समान ही श्रमण एवं अवधूत शाखाएँ भी प्रचलित रहीं और अवधूत शाखा के परिवर्तन-परिवर्द्धन की प्रक्रिया से ही निर्गुण सन्त-साधना का विकास हुआ। इसी से निर्गुण सन्त-मत भारतीय चिन्तन की एक सहज स्वाभाविक विचारधारा का ही परिणाम है; कोई पृथक् वैचारिक स्थिति नहीं। किन्तु यह भी सत्य है कि जहाँ इसने पूर्व परम्परागत साधना-प्रणालियों से प्रभाव ग्रहण किया, वहाँ पर सत्य-प्रयोग के क्षेत्र में स्वानुभूतिपरकता को महत्त्व देते हुए अपना स्वतन्त्र अस्तित्व भी बनाए रखा। सन्त-मत में भिन्न-भिन्न पंथों का निर्माण तथा पंथ-प्रवर्तकों का स्वतन्त्र महत्त्व इसी तथ्य पर आधारित है। इसीलिए सन्त की निजी अनुभूति का विशेष महत्त्व है।

अवधूत योग-धारा से विकसित इस निर्गुण सन्त-विचारधारा को सन्त कबीर के द्वारा पूर्णता प्राप्त हुई। इसे स्पष्ट तथा व्यापक रूप देने का श्रेय कबीर साहब को ही है। यद्यपि इसकी पृष्ठभूमि रूपाकार तो पहले ही से होने लगी थी और कुछ सन्तों ने इस नवीन धारा के प्रवाह में सहयोग प्रदान कर इसकी एक प्रारम्भिक रूपरेखा भी प्रस्तुत कर दी थी, किन्तु उनमें 'सन्त-मत' को अन्तिम रूप प्रदान करने की पूर्ण क्षमता न थी। हाँ, ये सन्त कबीर साहब के पथ-प्रदर्शन करनेवाले अवश्य बने। इसीलिए इन सन्तों की गणना 'सन्त-मत' के पूर्वकालीन पथ-प्रदर्शक सन्तों में की जा सकती है। ऐसे सन्तों में सर्वप्रथम नाम 'जयदेव' का आता है यहाँ इन्हीं जयदेव का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

सन्त-काव्य-परम्परा का प्रारम्भ जयदेव से माना गया है।[1] कबीर साहब ने अपनी रचनाओं में इनका नाम बड़े आदर से लिया है और इन्हें 'भक्ति के रहस्यों से परिचित' बतलाया है।[2] ये वे ही जयदेव हैं, जो 'गीत-गोविन्द' के रचयिता के रूप में प्रसिद्ध हैं, क्योंकि गीतगोविन्दकार को छोड़कर और दूसरा कोई सन्त ऐसा नहीं जान पड़ता है, जिसके सम्बन्ध में कबीर के जयदेव सम्बन्धी उल्लेख ठीक बैठ सकें। इन्हीं के दो पद आदिग्रन्थ (गुरु ग्रन्थ साहिब) में संकलित हैं।[3] एक है 'राग गूजरी' और दूसरा 'राग मारू'। इन दोनों पदों का वस्तु एवं शैलीगत प्रभाव 'ग्रन्थ' के धरु ४ की पहली सबदी तथा 'सूर सरु सोषिलै' पद पर देखा जा सकता है।

गीतगोविन्दकार जयदेव और आदि-ग्रन्थ में संगृहीत पदों के रचयिता जयदेव की अभिन्नता के सम्बन्ध में विद्वान् एकमत नहीं हैं। कुछ ने इन दोनों की अभिन्नता पर सन्देह प्रकट किया है[4], तो कुछ ने इनको एक ही माना है। वैसे अधिकांश विद्वान् प्राय: हिन्दी कवि जयदेव तथा संस्कृत कवि जयदेव को एक मानने के पक्ष में ही हैं।[5] नाभादास जी ने अपनी 'भक्तमाल' में दो जयदेवों का उल्लेख किया है[6]– एक 'उजागर गीतगोविन्द के कर्ता कवि नृप चक्कवै' और दूसरे 'संसार से निवृत्त' होने वाले, किन्तु यहाँ आशय गीतगोविन्दकार से ही है। तात्पर्य यह है कि भक्तमालकार की दृष्टि में भी दोनों एक ही हैं। वस्तुत: गुरु ग्रन्थ साहिब में संकलित जयदेव छाप के पदों की शब्दावली और भावना – दोनों उनके रचयिता के गीतगोविन्दकार होने का ही संकेत देती हैं। गीतगोविन्द के श्लोकों में लोक-लय, राग-प्रयोग, जन-भाषा और जन-भावना का आभास प्रतिबिम्बित है। जयदेव के पदों से भी ऐसा ही आभास मिलता है और ध्यातव्य है कि उन पर नाथ-साधना-पद्धति का प्रभाव तत्कालीन युग-चेतना के समन्वित रूप का निदर्शन है। इससे यह सरलतापूर्वक कहा जा सकता है कि कवि जयदेव ने तत्कालीन जन-भाषा में भी अवश्य ही काव्य-रचना की होगी। अत: दोनों जयदेव एक ही प्रतीत होते हैं।

कवि जयदेव बंगाल के सेन वंशी राजा लक्ष्मण देव की सभा के पंचरत्नों में से एक थे। लक्ष्मण देव का राज्य-काल सं० १२३६ - १२६२ (सन् ११७६-१२०५ ई०) माना जाता है। इस सम्बन्ध में अनेक पुष्ट प्रमाण प्राप्त हैं।[7] कुछ विद्वानों का यह भी अनुमान

---

१. हिन्दी-सन्त-साहित्य – डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, पृष्ठ २७।

२. गुरु परसादी जैदेउ नामा, भगति कै प्रेमि इनही है जाना – सन्त कबीर, राग गउड़ी ३६।

३. जयदेव का एक अन्य हिन्दी पद, राग वसन्त पुरातन संग्रह के हस्तलेख (काशी ना०प्र० सभा, सं० २२४१ । १४०६, पृ० २३६) में भी उपलब्ध है, जिसमें राम-लक्ष्मण के होली खेलने का वर्णन है।

४. हिन्दी-साहित्य, पृ० ११८, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी; मध्यकालीन सन्त-साहित्य, पृ० ४५, डा० रामखेलावन पाण्डेय। पं० बलदेव उपाध्याय ने इन दोनों पदों को किसी जयदेव नामधारी निर्गुणिया सन्त की सामान्य रचना माना है – दे० भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा, पृ० २४५।

५. हिन्दी-काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० ३३, डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल; मीराँबाई, पृ० ५०४ डा० प्रभात; उ०भा० की सन्त-परम्परा (द्वि०सं०), पृ० ६१ आ० परशुराम चतुर्वेदी।

६. छ० ४४, पृ० ३४३; छ० १४७ (सामूहिक भक्तों के साथ), पृ० ८२३ (दे० रूपकला-संस्करण)

७. जयदेव-चरित, पृ० १२, रजनीकान्त गुप्त।

है कि ये उड़ीसा के राजा कामार्णव देव (सं० ११६६-१२१३) तथा राजा पुरुषोत्तम देव (सं० १२२७-१२३७) के समकालीन थे।[१] जो भी हो, इतना निश्चित है कि इनका जीवन-काल विक्रम की १३वीं शताब्दी ठहरता है। इनके जन्म एवं मृत्यु के संवत् अभी तक अनिश्चय की स्थिति में ही हैं।

जयदेव का जन्म एक वर्ग के विद्वानों के अनुसार बंगाल के वीरभूमि जिले में अजय नदी के तट पर केंदुली (किंदु विल्व) नामक स्थान में हुआ था, जिसका उल्लेख गीतगोविन्द में भी हुआ है।[२] दूसरा वर्ग जगन्नाथपुरी के निकट प्राची नदी पर स्थित केंदुली-सासन गाँव में इनका जन्म होना स्वीकार करता है।* अतः आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने इन दोनों मतों की समन्वयात्मक स्थिति को ग्रहण कर यह मत निश्चित किया है कि इनका मूल निवास-स्थान उड़ीसा था और कार्यक्षेत्र बंगाल रहा है।[३] इसी से उड़ीसा के सहजयानी सम्प्रदाय का प्रभाव इन पर पड़ा और देश्य भाषा में काव्य-रचना का भी यही कारण हो सकता है। इन्होंने गीतगोविन्द के अन्त में अपने पिता का नाम भोजदेव तथा माता का नाम राधा देवी दिया है।[४] इनकी पत्नी का नाम पद्मावती था। इनके विषय में अनेक चमत्कारी एवं अलौकिक बातें प्रसिद्ध हैं[५] जो इनकी महत्त्व-वृद्धि का कारण प्रतीत होती हैं। ये परम भक्त थे और किंवदंती के अनुसार ये वृद्धावस्था तक जीवित रहे। केंदुली गाँव से अति निकट बहने वाली धारा, आजकल 'जयदेई गंगा' के नाम से प्रसिद्ध है।

इनका 'गीतगोविन्द' काव्य-ग्रन्थ अपने शब्द-सौन्दर्य, पद-लालित्य तथा संगीत-माधुर्य के लिए संस्कृत-साहित्य में विख्यात है। इसमें शृंगार के साथ-साथ भक्ति का पुट भी प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। गौड़ीय सम्प्रदाय के अनुयायी तो उसे अपनी भक्ति का प्रबल स्रोत मानते हैं। कुछ विद्वानों की राय में 'गीतगोविन्द' मूलतः संस्कृत में न लिखा जाकर पहले जन-भाषा में लिखा गया[६] और फिर उसका संस्कृत में रूपान्तरण किया गया, क्योंकि उनका विचार है कि सम्पूर्ण काव्य की रचना-पद्धति संस्कृत से अधिक प्राकृत-अपभ्रंश से प्रभावित है। इसीलिए आदि-ग्रन्थ में 'सलोक सहस्रकृती' के आदर्श

---

१. उ०भा० की सन्त-परम्परा, पृ० ६३।

२. दे० तृतीय सर्ग, श्लोक ८। वहाँ इनकी समाधि पर प्रति वर्ष मकर-संक्रान्ति के अवसर पर एक बड़ा भारी मेला लगता है और सहस्त्रों वैष्णव एकत्र होकर संकीर्तन करते हैं।

* दे० भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा (पं० बलदेव उपाध्याय) पृ० २४४ पर चन्द्र दत्त रचित भक्तमाल की उद्धृति (श्लोक २१)।

३. दे० उ० भा० की सन्त-परम्परा, पृ० ६३ ।

४. 'भोज देव प्रभवस्य, राधा देवी सुत श्री जयदेवकस्य' १२वाँ सर्ग, श्लोक ५।

५. 'भक्तमाल' के टीकाकार प्रियादास ने अपनी टीका में कवित्त सं० १४४ से १६३ तक २० कवित्तों में इनके जीवन की ऐसी बहुत-सी घटनाओं का वर्णन किया है।

६. दे० सूर पूर्व व्रजभाषा और उसका साहित्य, पृ० ६६, डा० शिवप्रसाद सिंह; डा० पिशल इस बात में सबसे अधिक विश्वास करते हुए प्रतीत होते हैं। 'गीतगोविन्द' का 'वेदानुद्धरते वाला श्लोक, जो गुजरात के शार्ङ्गधर बघेल के सं० १३४८ के शिलालेख में उद्धृत हुआ है, प्राकृत-पैंगलम में भी मिलता है। अतः दे० 'प्राकृत-पैंगलम' श्लो० २०७, पृ० ४७० तथा श्लो० २१३, पृ० ५८१।

रूप में जयदेव के पद रखे गये।

'रागु गूजरी' शीर्षक यह पद इस प्रकार है –

परमादि पुरुष मनोपियं सति आदि भाव रतं।
परमदभूतं परक्रिति परं जदि चिति सरब गतं।
केवल राम नाम मनोहरं।
बदि अंम्रित तत मइअं।
न दनोति ज समरणेन जनम जरादि मरण भइअं। पद १

इसी परम्परा में प्रथम गुरु नानकदेव जी के ४ तथा गुरु अर्जुन देव के ६७ श्लोक भी संगृहीत हुए। परन्तु 'गीतगोविन्द' के गीतों के मूल प्रारूप (यथा - आलंकरिक भाषा, ग्रन्थ की वर्णन-शैली, अंत्यानुप्रासों के प्रयोग आदि) की स्थिति उस समय संस्कृत-काव्य के लिए भी कोई नवीन बातें नहीं थीं और न अनुवाद में कोई वैसा सौन्दर्य लाना ही सम्भव था। अत: यह कहना अधिक उचित होगा कि जयदेव पर उस समय की लोकभाषा (प्राकृत-अपभ्रंश आदि) रचनाओं का कुछ न कुछ प्रभाव पड़ा और ये उनकी विशेषताओं की ओर आकृष्ट हुए होंगे।

यह पहले लिखा जा चुका है कि आदि-ग्रन्थ में जयदेव की रचना के रूप में केवल दो पद ही मिलते हैं। इनमें से एक उपदेशात्मक है और दूसरा योग-साधना से सम्बद्ध है। पहले पद में 'राम-नाम' तथा सदाचरण के साथ-साथ मनसा, वाचा, कर्मणा से की जानेवाली अनन्य भक्ति का महत्त्व दरसाते हुए, उसे योग, जप एवं दानादि से श्रेष्ठ बतलाया गया है। वस्तुत: वस्तु की दृष्टि से उक्त पद का प्रतिपाद्य, नाम-स्मरण की महिमा है। इसीलिए सिख-गुरुओं की अष्टपदियों में भी 'सिमरन' और नाम-महिमा का गान हुआ है। अत: जान पड़ता है कि बाद के गुरुमुखी साहित्य में अष्टपदियों की जो परम्परा प्रारम्भ हुई, उसका श्रेय जयदेव को ही है। स्वयं गुरुनानक की कई अष्टपदियाँ हैं। इस परम्परा में महत्त्वपूर्ण अन्य रचना मिहिर बान सोढ़ी की 'सहंसरनाम' शीर्षक ३० अष्टपदियाँ हैं। जयदेव की दूसरी अष्टपदी राग मारू में है[1], जिसमें इड़ा, पिंगला के माध्यम से इन्द्रियों को वश में कर चित्त को एकाग्र करने का सन्देश दिया गया है। इस पद की शब्दावली पर नाथपन्थी प्रभाव स्पष्ट है। इसकी वर्णन-शैली आगे आनेवाले सन्तों के बहुत से 'सबदों' का स्मरण दिलाती है। भक्तमाल के जयदेव विषयक छप्पय की 'अष्टपदी अभ्यास करै तिहिं बुद्धि बढावै' विशेषता को लक्षित करते हुए प्रसिद्ध विद्वान् मेकालिक ने तो इस पद को 'एक अत्यन्त कठिन मानवीय रचना' कहा है।[2] उक्त दोनों पदों का पाठ 'आदि ग्रन्थ में पूर्णत: शुद्ध नहीं है अर्थात् उनका पाठ विकृत है।

जयदेव का गीतगोविन्द जहाँ सफल शृंगारिक भावप्रधान गीतिकाव्य का रूपादर्श

---

१. चंद सत भेदिया नाद सत पूतिआ सूर सत षोड़शा दत्तु कीआ।

x x x x x

वदति जै देव, जै देव्र कौ रंभिआ ब्रह्म निरवाण लिवलीण कीआ। पद १

२. दे० दि सिक्ख रिलिजन, भाग ६, पृ० १६

प्रस्तुत करता है, वहाँ इसके विपरीत उनके पदों में वैराग्यमूलक भक्तिभाव को अलंकारविहीन सीधी-सादी भाषा में अभिव्यंजित किया गया है। इन दो भावधाराओं एवं शैलियों का अनुसरण हिन्दी में आगे भी गतिमान हुआ। पहले प्रकार की धारा विशुद्ध अनुरक्तिमूलक थी, जिससे अनेक परवर्ती भक्त कवि प्रेरित हुए और इसका अत्यधिक विकास हुआ। दूसरी योग-मत से प्रभावित धारा का परिणाम महानुभावी एवं वारकरी सम्प्रदायों के सन्तों की वाणी में परिलक्षित हुआ। उक्त सन्तों की वाणी – भावना, अभिव्यक्ति-शैली तथा भाषा – तीनों दृष्टियों से सन्त-काव्य के रूप को स्पष्टतया प्रस्तुत करती हैं।[1]

अत: हम निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि जयदेव वास्तव में एक बड़े महत्त्वपूर्ण सन्धिकाल में उत्पन्न हुए थे और अपनी रचनाओं द्वारा उन्होंने एक ऐसे मार्ग का प्रदर्शन किया, जो 'सन्त-मत' के लिए आदर्श प्रस्तुत कर सका।[2]

गुरु ग्रन्थ साहब के दो पद –

१. चन्द सत भेदिया, नाद सत पूरिया
सूर सत षोड़शादतुकीया
अबन्द बन्दु तोड़िया, अचल चलु थापिया
अघटु घड़िया तहां अपिउ पीया, मन आदि गुण आदि बर्षाणिया
तेरी दुविधा दृष्टि संभाणिआ, आराधि को आराधिया
सरधि को सरधिया, सलिलको सलिल संमानि आइया
वदति जैदेव जै देव को रंमिया, ब्रह्मनिरवाणु लवलीण पाइया।

– वाणी, जैदेव जी का, राग मारू

---

१. 'गुरु ग्रन्थ साहिब' में संकलित दोनों पदों में ज्ञान की प्रधानता है। उनमें नाद-साधना का संकेत एवं नाम-जप का महत्त्व-कथन है। ऐसे पदों की रचना निर्गुणपंथी कवियों ने की है। जयदेव जैसे शृंगारिक कवि ने ऐसे पद कैसे रचे ? किन्तु वैष्णव भक्तिधारा पर गम्भीरता से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि चैतन्यदेव के भक्ति-आन्दोलन के बाद ही ज्ञानमिश्रा भक्ति से प्रेमा भक्ति की धारा ने स्वतन्त्र रूप लिया है। अत: यह निर्विवाद रूप में कहा जा सकता है कि कबीर से शुद्ध ज्ञान-मार्ग और चैतन्य से शुद्ध भक्तिमार्ग ने अपनी अलग पहचान बनाई है। पूर्व स्थिति मिश्रित है। तत्कालीन उड़िया साहित्य में तो ऐसे स्पष्ट संकेत मिलते हैं। उड़िया कवि मार्कण्डदास की रचना 'केशव-कोइलि' शुद्ध भक्तिपरक रचना है, किन्तु इन्हीं कवि ने 'महाभाव' नामक ज्ञानमिश्रा भक्तितत्त्वपूरित ग्रन्थ की रचना की है। ऐसे ही भागवतकार जगन्नाथ कवि ने 'केशव कोइलि' (भक्तिपरक रचना) पर पूर्णत: ज्ञानपरक टीका – 'अर्थ कोइलि' लिखी है। पंचसखा कवि एक ओर तान्त्रिक मतवादी ज्ञान मिश्रा भक्ति के उपासक थे, तो दूसरी ओर राधाकृष्ण लीला के गायक थे। अत: उक्त दोनों पद गीतगोविन्दकार के हैं, ऐसा मानने में कोई बाधा नहीं है। डा० बड़थ्वाल ने तो पूरे गीतगोविन्द को ही अन्योक्ति से ज्ञान कथन माना है। इन दोनों पदों का संग्रह सम्भवत: गुरु नानक ने अपनी पुरी-यात्रा के दौरान भक्तों से सुनकर किया होगा। उत्कल में ब्रजबुलि-पद की परम्परा जयदेव से प्रारम्भ होती है।

२. आदि-ग्रन्थ के उक्त दो पदों के अतिरिक्त जयदेव की भणिता वाले 'ब्रजबुलि' के पाँच पद और प्राप्त हुए हैं, जो विषय की दृष्टि से गीतगोविन्दकार के ही माने गये हैं। इनकी भाषा उड़िया प्रभावित 'ब्रजबुलि' है। इन सभी पदों को लेख के अन्त में दिया जा रहा है।

२. परमादि पुरुषोमनोपिमं सत आदि भावरतं
परम भूत पराकृत परं यदि चिन्ति सरवगतं।
केवल राम नाम मनोरमं अमृत तत मयं
न दनोतेज समरणेन जनम-जराधि-मरण भयं।
इच्छसि यमादि पराभयं यस स्वसति सुकृत कृतं
भवभूत भई समव्ययं परमं परसन्न मिदं।
लोभादि दृष्टि परिग्रहं यदि विधि आचरणं
तजि सकल दुष्कृतं दुरुमति भज चक्रधर शरणं।
हरि भगति निज नेह केवलं हृदि कर्मणा वचसा
योगेन किं यागेन किं दीनेन किं तपसां।
गोविन्द गोविन्देति जपि नर सकल सिद्धिपदं
जैदेव आयो तसं सफुटं भवभूत सरवगतं।

– जैदेव जीउ का पद, राग-गुंजरी घरचै कथा

डा० वंशीधर महान्ति के द्वारा प्रकाशित दो पद –

३. भज हो मन मोहन वेणुधरं।
ब्रजसुख सागर प्रेम उजागर नागर बहुरस रंग।
नवघन सुन्दर सरस मनोहर सुललित ललित त्रिभंग।।१।।
रसिक रसायन रसवती जीवन रसमय रास बिहारी।
पुच्छ मुकुट सिर पीताम्बरधर मुरलीधर गिरिधारी।।२।।
कुल वनिता घन कुल विभंजन नयनांजन कृत भंग।
वृन्दावन वन आनन्द दायक मोदायक भवरंग।।३।।
गोपयुवती पति लम्पट वर वर केलि चपल सुखराशि।
वृन्दावन रमणी मन मोहन रतिपति रंगाभिलाषी।।४।।
श्री जयदेव भणतिमितिगीतं जय जय आनन्दकन्दे।
रहित चरण कमलरे शोभाकृत जन वन्दे।।५।।

४. अविरत चिन्त हो मन
शरद शशधर चारु वदना जलद कुलवर निन्दि नयना
गोपे उतपति गोपे विहरति गाव वृन्दे श्रीकान्त। अविरत चिन्त हो
अविरते चिन्त हो मन मउलि चलमूल चारु गुंजफल वरही गुच्छ तापरेण उज्चल
निविड़ जलदे इन्दु राजित शत्र कार्मक भ्रान्तिया
पाद युग जिणि वकच नलिनि अतनु निन्दित अंग पिक वाणी
मनोहर नृत्य। अविरत चिन्त हो।
मन कमठ पृष्ठ कठोर कार्मुक गुणे सुस्यन्दन से पंच नायक
यदि अइखन कोपे कम्पन असुर सुरगन भ्रान्तिया
बचने किंकर रुद्र विधि सुर सुखदायक सो हरि चरणे शरण जयदेव।
भावे वर्णन्ति भावि अविरत चिन्त हो।

डा० नगेन्द्रनाथ प्रधान की खोज द्वारा प्राप्त तीन पद –

५. सरस वसन्त घन, यमुना तट विपुन्य, नीप तरु मूले विजे नन्दवन्दन
त्रिभंथिमा रूपे उभा, श्रीकरे मुरली शोभा, करन्ति मुरली ध्वनि अति गहन
दइबर संयोगयहि, काखे कुंभ घेनि ब्रीखभानु तनयी॥१॥
नवीन सुन्दर साम, निन्दित कोटिए काम हरिसुतपति कोटि श्री मुखठाणि
कटीरे पीतवसन, शक्रचाप नीलघन, दलित अंजन तनु प्रकत मणि
नासापरे सारंग फल, वनसुत प्रतिहत कर्णे कुण्डल॥२॥
देखिण सुन्दरी राधा, हृदये कन्दर्प वाधा, दमदम पयोधरतट रमणि
सलजिते हेठ माथ.................................
ससिमुखी होइण भोल, ब्रजकुलवर सेक्ष्य धइले कोल॥३॥
चेतना पाइण राही, प्रभुंकु वचन कहि, शिरे कर देइ बोले चाटउत्तर
धेन गो दइनि साम, दरिद्र कु दिअ दान, तोषित चातेक पिउ से घोर नीर (घोषा)
सुधारस अघरु देइं, दासीपणे रख मोते गोकुल साइं॥४॥
दुइ तनु सम योग, समये ये सुखभोग, पयोधर मन्दर कि होइल मेलि
हेमरे कलंक लग्न, येसने होये निमग्न, तेसन रूपे राधामाधव केलि (घोषा)
बढ़िलाक सुरति रस, चलिले मानिनी तां कर ये निज दोष॥५॥
गो कष्टे रहिले हरि गोधेनु पल आबोरि, भणे जयदेव कवि से पादे सिर (घोषा)

६. मो नयना मोरे नाचइ, चितचोर घरे आसिबे।
त्र्यामसुन्दर रुचि मनोहर, देखि करि दुःख नाशिबे॥१॥
षयन षपने देखिलि, आज नयन सुफल मुं कलि।
चतुरी दूतिकाए बेगे चलिले, एये गज गमनी।

७. वसन्त ऋतु येहु मधु पवपू, मदन सरे बसि कान्दु जीवन गो। सुण सजनी।
माधबे मान तु न कर मानेनि गो।
तोहोर प्राणनाथ विरहे दुःखी, सदने किस सुख तांकु न देखि गो। सुण सजनी।
विच्छादे केते कोर्ध हउ विकल, देखि हसन्ति सवबु युवती मेल गो। सुण सजनी।
तालफलु सुन्दर तो पयघर, कान्त विहुने एहा नास न कर गो।
केते कहिबि तोर मनर सरि, नछनड़ माघवंकु मान न करि गो॥ सुण सजनी।
ललणि दले कृष्ण करि सयन, देखि सुफल कर बेनि नयन।
देख हरिक शोभा बहुमघुर, किंपाइं करुसखि मन विघुर गो। सुण सजनी।
भणिले जयदेव अति नलित, सुजने सुणि येहा होइंब मुक्त गो। सुण सजनी।
माधवे मान तु न कर मानेनि।

१.४ हिन्दी का एक प्राचीन कवि 'जल्ह'

हिन्दी-साहित्य के प्रसिद्ध प्रारम्भिक इतिहास-ग्रन्थ 'मिश्र-बन्धु-विनाद' में कवि जल्ह(न) के सम्बन्ध में उल्लेख है कि – 'चंद के पीछे उसका पुत्र जल्हन ही प्रधान कवि हुआ। उसने चंद के बाद रासो की पूर्ति की थी।'[१]

---

१. दे० पृ० ६४, १६६ कवि सं० १२, (द्वि०सं०)।

ऐसा जनश्रुति के रूप में अवश्य प्रसिद्ध है और रासो के प्रकाशित वृहद्संस्करण के निम्नलिखित छन्दों[1] से स्पष्ट है कि – 'जब चंद मुहम्मद गोरी का पृथ्वीराज के हाथों वध कराने की युक्ति सोचकर गजनी चलने को प्रस्तुत होता है, तो वह अपना अपूर्ण 'रासो' अपने पुत्र जल्ह(न) के हाथों में सौंप देता है और ग्रन्थ के अन्त में कहा जाता है कि इस ग्रन्थ का उद्धार तदन्तर चन्द-नन्द (जल्ह) ने किया –

दूहा – फिरिय आनि जोगिनि पुरह रासौ गुन दै पुत्त।
पुच्छि त्रीय परिवार सब कहौ तौ साधों मुत्ति॥

कवित्त– दहति पुत्र कवि चंद सूर सुन्दर सुज्जानं।
जल्ह बल्ह बलिभद्र कविय केहरि वष्षानं।
वीर चंद अवधूत दसय नंदन गुनराजं।
अप्प-अप्प क्रमजोग बुद्धि भिन-भिन करि काजं।
जल्हन जिहाज गुन साज कवि चंद छंद सायर तिरन।
अप्पौ सुहित रासो सरस चाल्यौ अप्प राजन सरन॥

दूहा – दहति पुत्र चंद कै सुन्दर रूप सुजान।
इक्क जल्लह गुन बावरौ गुन समंद ससि भान॥
आदि अंत वृत्तमन वृन्नि गुनी गुन राज।
पुस्तक जल्हन हथ्थ दै चलि गज्जन त्रप काज॥
प्रथम वेद उद्धार बंभ मच्छह तन किन्नौ।
दुतिय बीर बाराह धरनि उद्धरि जस लिन्नौ॥
कौ नारक नभ देस धरा उद्धरि सुर सष्षिय॥
कूरम सूर नरेस हिंदु हद उद्धरि रष्षिय॥
रघुनाथ चरित हनुमंत क्रत भूप भोज उद्धरिय जिम।
प्रथिराज सुजस कवि चंदक्रित चंद नंद उद्धरिय तिम॥

इस प्रकार उक्त छन्दों से ज्ञात होता है कि चंद के पीछे जल्ह (न)[2] कवि ने रासो के अन्तिम भाग की रचना की और ग्रन्थ सुरक्षित रखा। यद्यपि इसके समर्थन में पुष्ट प्रमाणों का अभाव है, किन्तु फिर भी इस सम्बन्ध में इतना और ध्यातव्य है कि इस प्रसंग के ऊपर उद्धृत प्रथम तीन छन्द तो पृथ्वीराज रासो के चार रूपान्तरों में से एक अर्थात् बृहद् रूपान्तर में पाये जाते हैं और अन्तिम छन्द बृहद् एवं लघु रूपान्तर की कुछ प्रतियों में ही पाया जाता है,[3] किन्तु लघु रूपान्तर की इन प्रतियों में 'पाठ' 'चंद-नंद' के स्थान पर चंद्रसिंह है। यह चंद्रसिंह कौन था ? खोज से इसका पता भी चलता है। 'मुंहणोत नैणसी की ख्यात' में इसका नाम 'चांद सिंह' दिया है,[4] इसके पिता का नाम सूरसिंह था,

---

१. दे० पृथ्वीराजरासो (६७, ५१), (६७, ८३-८५), (६८, २२१)।
२. पृ०रा० रासो में 'जल्ह' और 'जल्हन' दोनों नाम रूपों का उल्लेख हुआ है।
३. 'रासो' के मध्यम तथा लघुतम रूपान्तरों में यह छन्द नहीं पाया जाता है।
४. दे० मुंहता नैणसी री ख्यात, पहला भाग, पृ० ३०० (रा०प्रा० वि० प्रतिष्ठान, जोधपुर का संस्करण)।

जो कूर्मवंशी (कछवाहा) आंबेर महाराज मानसिंह का छोटा भाई और अकबर बादशाह का एक सेनापति था। इस प्रकार यह चांद सिंह महाराजा मानसिंह का भतीजा था। अतः ज्ञात होता है कि 'रासो' के लघु रूपान्तर का उद्धारक यही कूर्म (कछवाहा) वंशी राजा सूरसिंह का पुत्र चांदसिंह (चंद्रसिंह) है।[१] छन्द में भी 'कूरम सूर नरेस.....' का उल्लेख हुआ है।

जान पड़ता है कि बृहद् रूपान्तर का जब संकलन हुआ, तब तक लोग कछवाहा चंदसिंह को भूल चुके होंगे, इसलिए चंद्रसिंह शब्द उनके लिए अर्थहीन हो गया होगा, जिससे 'चंद्रसिंह' के स्थान पर 'चंद-नंद' पाठ परिवर्तित हो गया या कर लिया गया। चंद्रसिंह की जगह चंद-नंद पाठ से विद्वानों को यह कल्पना करने का अवसर मिला कि 'चंद' 'रासो' को पूरा नहीं कर सका और चंद-नंद अर्थात् चंद के पुत्र 'जल्ह' ने पूरा किया। इसके साथ ही ऐसा प्रतीत होता है कि लघु रूपान्तर के इस छन्द को 'चंद्रसिंह' के स्थान पर 'चंद-नंद' में बदलकर बृहद् रूपान्तर में शामिल कर लिया गया है, क्योंकि बृहद् रूपान्तर के ऊपर उद्धृत तीन छन्द केवल किसी प्रसिद्ध जनश्रुति को ही उजागर नहीं करते, अपितु जल्ह की किसी रचना के कुछ अंशों को भी 'पृथ्वीराज रासो' में समाविष्ट कर लेना दरसाते हैं। इस तथ्य की संभावना का आधार 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' में प्राप्य सूत्रों से भी ज्ञात होता है।

मुनि जिनविजय जी द्वारा सम्पादित-प्रकाशित 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' में अन्य प्रबन्धों के साथ पृथ्वीराज और जयचंद से सम्बन्धित प्रबन्ध भी दिये गये हैं। इन दोनों प्रबन्धों में चार ऐसे छन्द आए हैं और जिनमें से तीन चंद की छाप से नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'पृथ्वीराज रासो' में भी पाये जाते हैं, जो चंद के द्वारा पृथ्वीराज एवं जयचंद को सम्बोधित किये गये बताये गये हैं, किन्तु इस विषय में मुनि जी कुछ भ्रमित हुए हैं। वास्तव में उक्त छन्दों में से दो, जो जयचंद को सम्बोधित कर कहे गये हैं, वे चंद के न होकर 'जल्ह' के हैं, क्योंकि उन दोनों छन्दों में चंद की छाप न होकर 'जल्ह' की छाप स्पष्ट रूप से आती है। वे दोनों छन्द निम्नलिखित हैं –

(१) त्रिण्हि लक्ष तुष्षार सबल पाखरिअइं जसुहय।
चऊदसइं मयमत्त दंति गज्जंति महामय।
बीस लक्ख पायक्क सफर फारक्क धणुद्धर।
ल्हूसडु अरु बलुयान संखकु जाणइ ताँह पर।
छत्तीस लक्ष नरा हिवइ विहि विनडियो हो किम भयउ।
जइचंद न जाणउ 'जल्हु' कइ गयउ कि मूउ कि धरिगयउ॥

(२) जइत चंदु चक्कवइ देव तुह दुसह पयाणउ।
धरणि धसवि उद्धसइ पडइ रायह भंगाणओ।
सेसु मणिहि संकियउ मुक्कु हय खरि सिरि खंडिओ।

१. यह अन्तिम उद्धृत छन्द लघु रूपान्तर के लिए ही लिखा गया था, यह सम्भावना पुष्ट होती है।

तुट्टओ सो हर धवलु धूलि जसु चियतणि मंडिओ।
उच्छलीउ रेणु जसगिग गय सुकवि 'ब (ज) ल्हु' सच्चउ चवइ।
वग्ग इंदु बिंदु भुय जुअलि सहस नयण किण परि मिलइ॥

वस्तुतः मुनि जी ने यदि ध्यान दिया होता तो उन्हें ज्ञात हो जाता कि जो चार छन्द उक्त प्रबन्धों में चंद के कहकर उद्धृत किये गये हैं, उनमें से दो 'चंद' के नहीं, बल्कि 'जल्ह' के हैं। अस्तु !

इससे 'जल्ह' का भी हिन्दी के एक प्राचीन महत्त्वपूर्ण कवि के रूप में अस्तित्व सिद्ध होता है। जल्ह के उक्त छन्दों में से प्रथम छन्द 'रासो' के बृहद् रूपान्तर में भी मिलता है[1], जिसमें 'जल्ह' के स्थान पर छाप चंद की कर दी गयी है। अतः जान पड़ता है कि 'रासो' के बृहद् रूपान्तर में कम से कम जल्ह की किसी रचना के कुछ छन्द भी रख लिये गये हैं, जिससे जल्ह के पूरक कृतित्व रूप में उक्त रचना में भी उन अंशों को देखकर किसी प्रकार का सन्देह न हो।

'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' में उद्धृत जल्ह के उपर्युक्त दोनों छन्दों की भाषा-शैली तथा छन्द-योजना वही है, जो उक्त 'संग्रह' में उद्धृत चंद के छन्दों की है और 'संग्रह' में संकलित 'जयचंद प्रबंध' में, जिसमें जल्ह के उक्त छन्द आते हैं, कुछ कथाएँ भी हैं। अतः यह सम्भव है कि चंद के पृथ्वीराज रासो की भाँति ही जल्ह का भी कोई 'जयचंद रासो' रहा हो, जो पीछे यह पृथ्वीराज रासो में अन्तर्भुक्त कर लिया गया हो कि 'जल्ह' चंद का पुत्र था और उसके देहावसान के अनन्तर उसने अपूर्ण 'रासो' को पूर्ण कर उसका उद्धार किया और ग्रन्थ सुरक्षित रखा।

पृथ्वीराज रासो के पूरक कृतित्व वाले 'जल्ह' का समय 'पृथ्वीराज रासो' की रचना के बाद और 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' में संकलित 'प्रबन्धों' के लेखन से पूर्व का होना चाहिए, क्योंकि प्रबन्ध-संग्रहों की जिन दो प्रतियों के आधार पर पुरातन प्रबन्ध-संग्रह में इन प्रबन्धों का सम्पादन किया गया है, उनमें से एक का प्रतिलिपि काल सं० १५२८ वि० है।[2] डा० माताप्रसाद गुप्त ने परिश्रमपूर्वक इस समय-समस्या का समाधान ढूँढ़ने का प्रयास किया है। उन्होंने प्रतियों की पाठ-परम्परा के आधार पर चन्द के समय के साथ ही जल्ह के समय का भी अनुमान किया है। उनका विचार है कि सं० १५२८ वाली प्रति के कई प्रबन्ध - जिनमें से एक 'पृथ्वीराज प्रबन्ध' भी है, उक्त 'संग्रह' की दूसरी प्रति में

---

१. यह छन्द अन्य रूपान्तरों में नहीं मिलता है और उद्धृत द्वितीय छन्द तो रासो के किसी भी पाठ की प्रतियों – (रूपान्तरों) में नहीं मिलता है। ना०प्र० सभा, काशी द्वारा प्रकाशित 'पृथ्वीराज रासो' में प्रथम छन्द की अन्तिम पंक्ति का पाठ - जैचंद राइ कवि चंद कहि उदधि बुडि के घर लियो।" है। (दे० पृ० २५०२)।

२. संव्रत् १५२८ वर्ष मार्गसिर के १४ सोम श्री कोरराट गच्छे श्रीसावदेव्र सूरीणां शिष्येण मुनि गुण वर्द्धनेन लिपिकृतः। मु० उदयराज योग्यम्। श्री। (दे० पु० प्र०सं०, पृ० १३६)। दूसरी प्रति में खंडित होने के कारण प्रतिलिपि-काल का अभाव है। इन दोनों प्रबन्ध-संग्रहों की केवल एक-एक प्रतियाँ ही मिली हैं।

भी पाये जाते हैं और दोनों के पाठों में इस प्रकार का अन्तर है कि वे एक-दूसरे से लिये हुए नहीं, बल्कि किसी अन्य पूर्वज प्रबन्ध संग्रह की प्रति से लिये गये होंगे। अत: वह पूर्वज प्रबन्ध-संग्रह सं० १५२८ की एक संग्रह की प्रति से लगभग दो सौ वर्ष प्राचीन होना चाहिए। इस प्रकार जल्ह का समय चंद के समय सं० १३२८ के आसपास या उसके पूर्व पड़ता है।[1] इतना तो निश्चित है कि सं० १५२८ के काफी पूर्व जल्ह का समय था।

इधर 'जल्ह' नाम के एक कवि का और पता चला है। राजस्थान में 'हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज', प्रथम भाग में डा० मोतीलाल मेनारिया ने इस कवि की रचना 'बुद्धि रासो' का परिचय दिया है।[2] यह रचना अभी तक अप्रकाशित है और इसकी एक प्रति उदयपुर के सरस्वती भण्डार में है, जिसका प्रतिलिपि काल सं० १७०४ है। यह रचना दोहा, छप्पय, गाहा, पाघड़ी, मोतीदाम, अडिल्ल आदि छन्दों में लिखी गयी है और सब मिलाकर १४० छन्दों में समाप्त हुई है। 'पृथ्वीराज रासो' के भी प्रमुख छन्द ये ही हैं। अत: छन्द-योजना की दृष्टि से यह रचना भी रासो-परम्परा की जान पड़ती है, जिसमें 'पृथ्वीराज रासो' आता है। इसमें रचना-काल का अभाव है और यह एक छोटा-सा प्रेमाख्यान है। इसकी कथावस्तु काल्पनिक है।

इसमें चम्पावती नगरी के राजकुमार और जलधि तरंगिनी नामक एक रूपवती स्त्री की प्रेमकथा का वर्णन है। राजकुमार जलधि तरंगिनी के साथ समुद्र के किनारे किसी निर्जन स्थान में आकर रहने लगता है। किसी कार्यवश वह वहाँ से एक मास के लिए कहकर चला जाता है, किन्तु राजकुमार अवधि बीतने पर भी नहीं लौटता है, तो विरहिणी जलधि तरंगिनी संसार से विरक्त हो जाती है और अपने बहुमूल्य वस्त्राभूषण उतार फेंकती है। इस पर उसकी माँ राजकुमार का प्रेम-सम्बन्ध त्यागकर जीवन का सुख भोगने के लिए उत्साहित करती है, किन्तु वह अपने प्रेम पर अटल रहती है। इतने में राजकुमार भी आ पहुँचता है। दोनों का पुनर्मिलन हो जाता है और तदनन्तर वे हास-विलासपूर्वक अपना समय व्यतीत करते हैं।

यह जल्ह कौन था, इस सम्बन्ध में कुछ भी पता नहीं चलता। अत: इसका विशेष वृत्त ज्ञात नहीं है, किन्तु उक्त खोज-विवरण के सम्पादक डा० मोतीलाल मेनारिया ने अपने ग्रन्थ 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' में लिखा है कि ग्रन्थ की रचना-शैली से यह कोई जैन कवि प्रतीत होता है।[3] उन्होंने रचना से उदाहरण स्वरूप कुछ पंक्तियाँ भी उद्धृत की हैं, किन्तु उद्धृत पंक्तियों की रचना-शैली में तो कोई बात ऐसी नहीं है, जिससे यह कहा जा सके कि इनका कवि जैन था। बुद्धि रासों में जो कथा दी गयी है, वह भी जैन कथा नहीं है। वह तो पूर्णतया एक शुद्ध प्रेमकथा है। खोज-रिपोर्ट में उद्धृत ग्रन्थ के 'आदि अंश' में जैन नमस्क्रिया का भी अभाव है और 'अंत-अंश' से भी कवि के जैन होने का कोई संकेत नहीं मिलता है। अत: मेनारिया जी का यह अनुमान मान्य

---

१. दे० नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६०, अंक ३-४, पृ० २३७-२३६

२. दे० पृ० ७६-७७।

३. दे० पृ० १२१ (प्र०सं०)।

नहीं प्रतीत होता है।

मेनारिया जी ने अपने इसी ग्रन्थ में कवि का आविर्भाव-काल सं० १६२५ के लगभग लिखा है,[1] किन्तु इसकी पुष्टि में उन्होंने किसी आधार का उल्लेख नहीं किया है। हाँ, खोज-रिपोर्ट के परिशिष्ट-१ में नव ज्ञात ग्रन्थकारों पर टिप्पणियों के अन्तर्गत 'जल्ह' पर लिखते हुए उन्होंने लिखा है – श्रीयुत अगरचंद नाहटा ने अपने 'ऐतिहासिक जैन काव्य-संग्रह' में इसी नाम के एक जैन कवि की कविता का थोड़ा-सा अंश उद्धृत किया है, जो सं० १६२५ का लिखा हुआ है।[2] इसी के आधार पर उन्होंने यह अनुमान किया है कि यदि ये दोनों कवि एक ही हों, तो 'बुद्धि रासो' का रचना-काल भी सं० १६२५ ठहरता है, किन्तु इसी के साथ यह भी लिखा है कि दोनों की भाषा-शैली में बहुत अन्तर है।[3] इससे ज्ञात होता है कि मेनारिया जी के उक्त उल्लेख किसी पुष्ट प्रमाणाभाव में अनुमानाधारित अधिक हैं। इसलिए 'बुद्धिरासो' के कर्ता कवि जल्ह को 'जैन कवि' मानना अनुपयुक्त एवं निराधार प्रतीत होता है।

जल्ह की रचना 'बुद्धिरासो' काव्य-कलापूर्ण है और उसकी भाषा अपभ्रंशमिश्रित हिन्दी है, किन्तु काव्यकला की अपेक्षा भाषाशास्त्र की दृष्टि से इस ग्रन्थ का महत्त्व विशेष है, क्योंकि उसमें उसका प्रकृत रूप बहुत कुछ सुरक्षित लगता है। यद्यपि 'बुद्धिरासो' के उद्धृत अंशों की भाषा जल्ह के उन छन्दों की भाषा से भिन्न है, जो 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' में संकलित हैं, किन्तु उस छन्द की भाषा से बहुत भिन्न नहीं है, जो 'पृथ्वीराजरासो' में मिलता है, फिर दोनों की शैली भिन्न है, एक वीररस विषयक है और बुद्धिरासो के छन्द शृंगाररस विषयक हैं, इसलिए शैली-विषयक अन्तर होना स्वाभाविक है। यदि 'पुरातन प्रबन्ध-संग्रह' में उद्धृत दो छन्दों का रचयिता जल्ह ही, जो पृथ्वीराजरासो का पूरक कवि भी है, 'बुद्धिरासो' का भी रचयिता हो[4], तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। यह अभिन्नता

---

१. दे० वही।

२. दे० राज० में हिं० के ह०लि० ग्रन्थों की खोज, प्र० भा०, पृ० १६७। यह ध्यान रहे कि 'आविर्भाव-काल' और 'रचना-काल' में अन्तर होता है।

३. डा० मेनारिया ने अपने एक और ग्रन्थ 'राजस्थान का पिंगल-साहित्य' में भी बुद्धिरासो के कर्ता 'जल्ह कवि' का परिचय दिया है और यहाँ कवि के जैन-कवि होने की सम्भावना को एक प्रकार से वास्तविक रूप ही दे दिया गया है। यहाँ दोनों (ऐ० जैन का० संग्रह का जैन कवि और बुद्धिरासोकार) की भाषा-शैली में पर्याप्त सादृश्य का उल्लेख हुआ है। इस प्रकार मेनारिया जी के उल्लेख विरोधात्मक हैं। एक स्थान पर दोनों की भाषा-शैली में बहुत अन्तर होना लिखते हैं और दूसरी जगह उनमें पर्याप्त सादृश्य होना लिखते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ जान-बूझकर बुद्धिरासोकार को जैन कवि सिद्ध करने की चेष्टा की गयी है, जबकि वास्तविकता यही है कि दोनों की भाषा-शैली में पर्याप्त अन्तर है। अतः इस आधार पर 'दोनों कवि एक ही हैं' का अनुमान संगत नहीं है। (दे० ऐ० जैन-काव्य संग्रह, पृ० १३८)

४. 'जल्हण' नामक एक कवि का 'सोमपाल विलास' नामक एक ऐतिहासिक संस्कृत-काव्य-ग्रन्थ और जल्हणकृत 'सूक्ति मुक्तावली' (सं० १३१४ वि०) भी एक सुभाषित-संग्रह-ग्रन्थ मिलते हैं, किन्तु इन सबकी अभिन्नता के विषय में प्रमाणाभाव है। हाँ, इनसे इस बात का पता चलता है कि तत्कालीन समय में 'जल्हण', 'जल्ह' आदि नाम अवश्य प्रचलित थे।

यद्यपि सम्भावनापरक है, किन्तु इस विषय में पूर्णतया निश्चित रूप से अभी कुछ नहीं कहा जा सकता है।

१.५. कवि चन्द बरदाई तथा उनका 'पृथ्वीराज रासो'

डा० मोतीलाल मेनारिया के अनुसार 'पृथ्वीराज रासो' का प्रथम प्रामाणिक उल्लेख 'राज-प्रशस्ति' महाकाव्य में मिलता है। इसके तीसरे सर्ग में रावल समर सिंह के वर्णनान्तर्गत इसका उल्लेख हुआ है।[१] 'राज प्रशस्ति' महाकाव्य एक इतिहास-प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें इतिहास और काव्य दोनों का सुन्दर समन्वय है। इस महाकाव्य का लेखन-कार्य सं० १७१८ में प्रारम्भ हुआ था और उसकी समाप्ति सं० १७३२ में हुई थी। अतः इसी के आस-पास पृथ्वीराज रासो की रचना का भी समय है। मेनारिया जी के विचार से अधिक से अधिक यह समय सं० १७०० तक ले जाया जा सकता है, परन्तु इससे आगे ले जाना उचित नहीं है।[२]

अब देखना यह है कि इस समय के आस-पास और इससे पूर्व के चन्द एवं पृथ्वीराज रासो विषयक उल्लेख प्राप्त होते हैं या नहीं। जब इस दृष्टि से विचार करते हैं, तो अनेक ऐसे प्रमाण प्राप्त होते हैं, जिनसे उक्त काल से काफी समय पूर्व ही 'रासो' का रचा जाना सिद्ध होता है।[३] ऐसे प्रमाण क्रमशः इस प्रकार हैं –

---

१. ''भाषा 'रासा' पुस्तकेस्य युद्धस्योक्तोस्तिविस्तरः।।२७।।''

२. दे० 'राजस्थान का पिंगल-साहित्य', पृ० ३८; ४०-४१; ५३ तथा राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० ६४।

३. 'राज-प्रशस्ति' महाकाव्य के उल्लेख के बाद के तो 'रासो' विषयक काफी उल्लेख मिलते हैं, जिनमें से दो विशेष उलेखनीय हैं – (अ) कवि जदुनाथ ने करौली के जादों राजा गोपाल लाल (गोपाल सिंह) के राज्य-समय अर्थात् वि०सं० १८०० के आस-पास 'वृत्त विलास' नामक पिंगल का ग्रन्थ बनाया था। रचयिता प्रसिद्ध कवि चन्द बरदाई का वंशज था, ऐसा उसके कवि-वंश वर्णन से ज्ञात होता है। उसने अपने वंश का परिचय देते हुए लिखा है कि 'चंद ने १०५००० श्लोक (अनुष्टुप छन्द) के परिमाण का पृथ्वीराज के चरित्र का 'रासो' बनाया –

एक लाख रासौ कियो, सहस पंच परिमान।
पृथ्वीराज नृप को सुजसु, जाहर सकल जिहान।।५६।।

यह कथन रासो के बृहत् रूपान्तर के परिमाण से मिल जाता है। कवि के यहाँ अपने पूर्वज का बनाया हुआ मूल ग्रन्थ अवश्य होगा, जिसके आधार पर ही उसने उक्त ग्रन्थ का परिमाण लिखा होगा। जदुनाथ ने अकबर के शासन-काल तक के अपने पूर्वजों का क्रमबद्ध उल्लेख किया है। इससे प्रकट है कि 'चंन्द' उक्त काल (सं० १६००) से पूर्व का कवि था।

'वृत्तविलास' के रचयिता उक्त कवि जदुनाथ कृत सं० १८०५ में रचित एक अन्य खांडेराय रासौ के अन्तर्गत 'जंग जस' नामक काव्य-ग्रन्थ और मिलता है। इस ग्रन्थ से वृत्त विलास में प्राप्य जानकारी का समर्थन होता है। इसमें भी कवि ने अपने को कवि चन्द बरदाई का वंशज लिखा है। अतः उसका महत्त्व अधिक बढ़ जाता है। दे० ओझा निबन्ध संग्रह, भाग ३, पृ० १-७ तथा प्रस्तावना, पृ० २-३। (आ) कवि वल्लभ कृत 'कुंती प्रसन्नाख्यान' में भी 'रासो' का नामोल्लेख मिलता है। इस कथा-काव्य के मंगलाचरण में कवि ने रासो के कवि चंद बरदाई पर आक्षेप किये हैं। आख्यान का यह अंश गुजराती वाङ्मय में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। वल्लभ गुजरात के सुप्रसिद्ध कवि प्रेमानन्द के पुत्र थे। उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना सं० १८३८ में की थी। दे० राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ० ३६-४०।

दलपित मिश्र ने अपने ग्रन्थ 'जसवंत-उद्योत' में चन्द की कृति के रूप में 'पृथ्वीराज रासो' का उल्लेख करते हुए संयोगिता-स्वयंवर की कथा का संक्षेप में निर्देश किया है –

संयोगिता कुमारिका, रच्यौ स्वयंवर काजु।
देस विदेसनि ते तहाँ, आयौ राज समाजु॥४०१॥
चंद भाट की चाकरी, पृथ्वी राज विचारि।
संग सोरह सामंत ले, गयो गुपत अनुहारि॥४०२॥
संयोगिता कुमारिका, वर्‌यौ जहाँ चौहानु।
तहीं पिथौरा कह दयौ, राइ अभैं जियदानु॥४०३॥
रासौ पृथ्वीराज कौ, तहाँ बहुत विस्तारु।
मैं बरन्यौ संछेप ही, सकल कथा को सारु॥४०४॥

इस ग्रन्थ में इसका रचना-काल सं० १७०५ दिया हुआ है (पाँच अधिक सत्रसई, संवत को परमानु) किन्तु मेनारिया जी ने इस सम्वत् को संदिग्ध माना है, क्योंकि उनका विचार है कि इसमें महाराजा जसवन्त सिंह के जीवन की कुछ ऐसी घटनाओं का वर्णन भी है, जो उक्त सम्वत् के बाद की हैं।[1] इस सम्बन्ध में उल्लेख्य है कि हो सकता है उक्त सम्वत् ग्रन्थ की समाप्ति का न होकर उसके शुरू करने का हो। इस ऐतिहासिक काव्य-ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति सं० १७४७ की लिखी हुई बीकानेर के अनूप संस्कृत पुस्तकालय में सुरक्षित है। अतः संम्वत् १७४७ से पूर्व ही इसकी रचना तो निश्चित रूप से हो चुकी थी। जोधपुर-नरेश महाराज जसवन्त सिंह की मृत्यु सं० १७३५ में हुई थी।

'रासो' की सं० १७०० के बाद की तो अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हैं, किन्तु उक्त सम्वत से पूर्व की भी कई हस्तलिखित प्रतियाँ मिलती हैं, जिनका उल्लेख प्रतियों के विवरण के साथ किया जाएगा। यहाँ तो दलपति मिश्र और उसके 'जसवन्त उद्योत' से पूर्व के अन्य प्रमाणों का उल्लेख किया जा रहा है।

बादशाह जहाँगीर के शासन-काल में 'पुहकर' नामक एक कवि हो गए हैं। उनकी 'रस रतन' नामक एक सुन्दर सरस रचना है, जो भारतीय प्रेमाख्यानक वर्ग की है। इस ग्रन्थ का वास्तविक रचना-काल सं० १६७५ (१०२७ हि०) है।[2] इस रचना के आरम्भ में कवि ने अपने पूर्वज कवियों की चरण-वन्दना करते हुए, उनमें कवि चन्द बरदाई का भी नामोल्लेख किया है – **'भानुदत्त उदयेन चंद बरदाइक चंडिय'** (छंद १२ के अन्तर्गत)।

इसमें चंद बरदाई का नाम महत्त्वपूर्ण है। रासो जैसे महान् ग्रन्थ के रचनाकार का यह कम दुर्भाग्य नहीं रहा कि उसके अस्तित्व को नकारनेवाले अनेक लेख समय-समय पर प्रकाशित होते रहे। ऐसी स्थिति में वि०सं० १६७५ के एक कवि द्वारा चन्द बरदाई का उल्लेख किया जाना मामूली बात नहीं है। नामोल्लेख ही नहीं, उसे महान् कवियों की शुभ्र पंक्ति में रखकर वन्दनीय मानना, उसके अक्षुण्ण यश का अकाट्य प्रमाण है। चंडी

१. दे० वही, पृ० ३६
२. दे० परिषद्-पत्रिका, वर्ष १०, अंक १ में प्रकाशित मेरा लेख – 'कवि पुहकर कृत रस रतन का रचना-काल', पृ० ४५-५०।

के इस वरद पुत्र की पुहकर ने सिर्फ वन्दना ही नहीं की, अपितु उसकी शैली का पुरस्सर अनुसरण भी किया है। वास्तव में 'रस रतन' पर 'रासो' के बृहद् रूपान्तर का पर्याप्त प्रभाव है। अत: ज्ञात होता है कि रसरतन की रचना के समय 'रासो' का वृहद् रूपान्तर अपना आकार ले चुका था।

अबुल फजल द्वारा 'आईन-ए-अकबरी', जिसकी रचना सं० १६५४-५५ में अकबर के राज्य के ४२वें वर्ष में समाप्त हुई थी, में दिल्ली का इतिहास देते हुए पृथ्वीराज के विषय में जो विवरण कथा-रूप में दिया गया है, वह पृथ्वीराज रासो पर आधारित है। दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात स्वत: प्रकट है। यद्यपि अबुल फजल ने 'रासो' का नामोल्लेख नहीं किया है और कथा को 'हिन्दू इतिहास' पर आधारित बताया है। इस विवरण में 'चाँदा' नामक भाट का उल्लेख हुआ है, जो निश्चय ही 'चंद' है और उसके 'रासो' में जो कथा आती है, उसका 'आईन' में दिये हुए विवरण से पर्याप्त साम्य है। अत: स्पष्ट है कि 'आईन-ए-अकबरी' के विवरण का आधार अन्य कोई ग्रन्थ न होकर सीधा 'पृथ्वीराज रासो' ही है। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि उक्त विवरण का आधार 'रासो' का लघुतम या उससे मिलता-जुलता ही कोई पाठ हो सकता है। इस दिशा में डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा किया गया प्रयास उल्लेखनीय है। उन्होंने दोनों की विस्तार से तुलना कर इस बात को सिद्ध किया है।[1]

ऐसी ही स्थिति इसी प्रकार 'आईन-ए-अकबरी' की समकालीन रचना 'सुर्जन चरित महाकाव्य' में भी दिखाई पड़ती है।

चन्द्रशेखर कृत 'सुर्जन चरित महाकाव्य' की रचना अकबर के समकालीन और उसके अधीनस्थ हाड़ा राय सुर्जन की प्रेरणा से प्रारम्भ हुई थी और उसकी समाप्ति उनके उत्तराधिकारी राय भोज के राज्यारोहण के तत्काल बाद ही हुई थी। कवि ने ग्रन्थ का रचना-काल नहीं दिया है, किन्तु इसमें उसने राय सुर्जन के देहान्तोपरान्त राय भोज के राज्यारोहण का वर्णन मात्र किया है, उसके शासन-काल की घटनाओं का कोई उल्लेख नहीं किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि उसके राज्यारोहण के तत्काल बाद ही समाप्त हुआ होगा। राय सुर्जन का देहान्त सं० १६४६ के लगभग हुआ था। अत: यह उक्त सम्वत् के आस-पास की रचना है।

राय सुर्जन के एक पूर्वज होने के नाते इसमें पृथ्वीराज चौहान का भी वृत्त आया है। यह रचना के दसवें सर्ग में है, किन्तु पृथ्वीराज विषयक वृत्त-कथा के सम्बन्ध में महाकाव्य के रचयिता ने यह नहीं बताया है कि उसका आधार क्या है। इस कथा में बन्दी चन्द का नाम आता है, जिसके बारे में यह भी कहा गया है कि वह उसका मित्र था।

डा० माताप्रसाद गुप्त ने 'सुर्जन चरित महाकाव्य' में आए हुए वृत्त की 'पृथ्वीराज रासो' से तुलना की है। उनके निष्कर्षानुसार यह प्रकट है कि 'सुर्जन चरित' में आई हुई पृथ्वीराज की कथा का पृथ्वीराज रासो की कथा से पर्याप्त साम्य है अर्थात् महाकाव्य की

१. दे० 'आइन-ए-अकबरी और पृथ्वीराज रासो' शीर्षक अध्याय (रासो साहित्य विमर्श, पृ० १५३-१६४)।

पृथ्वीराज की मृत्यु के ४१ वर्ष बाद का है। साथ ही यह भी ध्यातव्य है कि चन्द के उक्त छन्दों को संग्रह में उद्धृत किया गया है अर्थात् ये छन्द १२९० वि० के पूर्व के भी हो सकते हैं। इससे चन्द कवि का तो पृथ्वीराज का समकालीन होना प्रमाणित होता है, किन्तु चन्द ने पृथ्वीराज रासो लिखा, इसकी पुष्टि नहीं होती, क्योंकि प्रबन्धों में 'रासो' का नामोल्लेख कहीं नहीं हुआ है। अत: यह बात विचारणीय है।

मुनि गुणवर्द्धन के दिये हुए अन्य ज्ञातव्य के आधार पर यह सम्भावना है कि जिनभद्र के बाद 'प्रबन्धावलि' की यह प्रति श्री सावदेव सूरि के पास रही होगी[1], जिनकी मृत्यु १४३० सम्वत् में हुई है। इस प्रति में श्री सावदेव सूरि ने अपनी ओर से क्या परिवर्तन किया, यद्यपि अब यह ज्ञात नहीं है, किन्तु हो सकता है कि उन्होंने इसमें कुछ परिवर्तन किया हो। लिपिकर्ता ने सं० १५२८ में यह प्रतिलिपि तैयार की है और उसने अपनी ओर से कुछ जोड़ा या नहीं, यह कह पाना सम्भव नहीं है। हाँ, इस बात को स्वीकार किया जा सकता है कि प्रबन्धों का समय सं० १२९० तक फैला हुआ है और सं० १५२८ से पूर्व के ही 'रासो' के छन्द रचे हुए मिलते हैं।

डा० माताप्रसाद गुप्त ने प्रति के इस लिपिकाल सं० १५२८ के आधार पर पाठ-विज्ञान के नियम से प्रतियों की पीढ़ी-गणना द्वारा चन्द की रचना का समय सं० १३२८ के लगभग या उसके पूर्व होने का अनुमान किया है।[2] अत: इन छन्दों से चन्द की रचना का समय १५वीं शती वि० से पूर्व का ही ठहरता है। इस आधार से रासो की प्राचीनता मानी जा सकती है और अनुमान है कि रासो का वह मूल रूप संक्षिप्त रहा होगा। सम्भव है, जिनभद्र ने 'प्रबन्ध' का पृथ्वीराज सम्बन्धी 'वृत्त' रासो के मूल रूप से जाना हो और उस वृत्त को संस्कृत में अपने ढंग से लिखते हुए उसने प्रसंगानुसार आवश्यक मानकर उक्त दो छन्द उद्धृत कर दिये हैं।

पृथ्वीराज प्रबन्ध के अन्तर्गत रासो के जो दो छन्द उद्धृत किये गये हैं, वे पृथ्वीराज प्रबन्ध के कथानक के अनुरूप हैं, किन्तु डा० गुप्त के विचार से ये दोनों छन्द कथानक से मेल नहीं खाते हैं[3], पर उनका यह विचार सही नहीं है। करण यह है कि डा० गुप्त ने भ्रम से रासो के अनुसार ही इन उद्धृत छन्दों का अर्थ करने का प्रयत्न किया है, जो गलत है। यदि रासो के कथानक को, प्रबन्ध के कथानक के साथ जोड़ा जाएगा तो सन्दर्भ की भूल होगी ही और खेद है, डा० गुप्त से ऐसा हो गया है।

देखा जाए तो अर्थ में यह उलझन इसलिए हो गयी है कि बाण मारने के बाद कैमास की मृत्यु हो गयी या वह जीवित ही रहा, यह भेद है। जहाँ रासों के अनुसार कैमास की मृत्यु हो जाती है, वहाँ प्रबन्ध के कथानक के अनुसार कैमास जीवित रहता

---

१. १४२९ श्रीजिराप०, श्री सावदेव सू० स्वं चरित्रं न वेडितं पश्चात् ढिल्यां ग० स्वमुपार्ज्य पश्चात् संवत् १४३० भाद्र० मासे श्री गिरनारे समभाव० त्वा परलो जगाम।

२. दे० ना० प० पत्रिका, वर्ष ६०, अंक ३-४, पृ० २३७-२३९।

३. दे० ना०प्र० पत्रिका, वर्ष ६२, अंक २-३ में प्रकाशित 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह और पृथ्वीराज रासो' शीर्षक लेख।

है और उसे विसूत्रित कर दिया जाता है और उसके बाद चन्द कवि को भी निष्कासित किया गया है। वास्तव में इन छन्दों में चन्द बरदाई पृथ्वीराज चौहाण को सजग कर रहा है कि कैमास को इस प्रकार मारने का प्रयत्न करना उसकी भूल है। इस भूल से पृथ्वीराज अपना ही नुकसान कर रहा है। दूसरे छन्द की अन्तिम पंक्ति में तो यह स्पष्ट कहा गया है कि 'कैमास के अभाव में (उसकी सहायता के बिना), जो व्यास और वसिष्ठ सम (चतुर, बुद्धिमान) है, तुम म्लेच्छों द्वारा पकड़कर ले जाए जाओगे और इस प्रकार तुम्हारी मृत्यु होगी।' बाद की कथा में कैमास विसूत्रित कर दिया जाता है और सिद्ध सारस्वत चन्द का भी निष्कासन होता है। यह कथा पृथ्वीराज प्रबन्ध के अनुसार है।

डा० राजमल बोरा ने डा० गुप्त की इस भूल की ओर इंगित कर इसका परिमार्जन अपने रासो विषयक ग्रन्थ में अच्छी प्रकार से कर दिया है।[1] यह श्रेय उन्हें है।

अब 'जयचन्द-प्रबन्ध' में उद्धृत दोनों छन्दों के सम्बन्ध में विचार किया जाए। संग्रहकर्ता ने इन दोनों छन्दों को चन्द बरदाई के नाम से उद्धृत किया है, किन्तु प्रबन्ध के इन दोनों छन्दों में जल्ह कवि का नाम आता है। अतः ये 'जल्ह' रचित हैं। इन छन्दों में जयचन्द की सेना के अभियान का वर्णन है। एक प्रकार से इनमें जयचन्द की सेना की प्रशस्ति गायी गयी है। इन दोनों छन्दों में से एक छन्द रासो के बृहत् संस्करण में मिलता है[2], दूसरा छन्द रासो में नहीं मिलता। रासो में छन्द का सन्दर्भ अलग है और प्रबन्ध में सन्दर्भ दूसरा है। रासो में जल्ह कवि के स्थान पर चन्द कवि का नाम है। कथा-प्रसंग की दृष्टि से रासो में यह छन्द उस समय आया है, जब गौरी कन्नौज पर आक्रमण करता है और जयचन्द का सामना उससे होता है। उस समय जयचन्द की सेना के अभियान-प्रसंग में उक्त छन्द आया है, जबकि प्रबन्ध में जयचन्द के उस अभियान का प्रसंग है, जिसमें जयचन्द लखणावती पुरी (बंगाल) के राजा लखण सेन के दुर्ग पर आक्रमण करता है और जीत जाता है।[3] अतः रासो के प्रसंग के अनुसार छन्द का अर्थ देखना उचित नहीं है।

जयचन्द प्रबन्ध के कथानक से स्पष्ट है कि प्रबन्ध-लेखक इन छन्दों को, जिनमें जल्ह का नाम आया है, चन्द बरदाई से संबंधित मानता था। चन्द ही इसमें कहनेवाला है। इस प्रकार चन्द का उल्लेख एक पात्र के रूप में है। जल्ह के नाम का कोई उल्लेख प्रबन्धकार ने नहीं किया है, जबकि उक्त दोनों छन्दों में 'जल्ह कवि' की छाप विद्यमान है। अतः स्पष्ट है कि ये छन्द जल्ह कवि के द्वारा ही लिखे गये हैं। जल्ह की प्रसिद्धि कवि

---

१. दे० पृथ्वीराजरासो : इतिहास और काव्य, पृ० १२८-१३४।

२. द्रे० 'रासो' ६८वाँ समय, छंद सं० २१६ (सभा-संस्करण) यह छन्द अन्य रूपान्तरों में नहीं मिलता है और दूसरा छन्द तो 'रासो' के किसी भी पाठ की प्रतियों (रूपान्तरों) में नहीं मिलता है। 'सभा' द्वारा प्रकाशित 'रासो' में प्रथम छन्द की अन्तिम पंक्ति का पाठ – 'जै चंद राय कवि चंद कहि उदधि बुद्धि कै घर लियौ।' है। यह ध्यातव्य है इस छन्द को 'रासो' में स्थान देने के लिए 'जल्हु' का नाम निकालकर उसमें 'चन्द' का नाम रखना पड़ा है।

३. पु०प्र० सं०, पृ० ८८-८६।

चन्द के पुत्र रूप में रही है। सम्भव है, जल्ह ने ही अपने छन्दों को चन्द के नाम से प्रचारित किया हो, क्योंकि 'रासो' की पूर्ति उसी के द्वारा हुई थी, ऐसा प्रवाद प्रचलित है।

पुरातन प्रबन्ध संग्रह के उक्त दोनों प्रबन्धों में चन्द के नाम से उद्‌धृत छन्दों से 'पृथ्वीराज रासो' के स्वरूप के सम्बन्ध में कोई कल्पना नहीं की जा सकती, ऐसा कुछ विद्वानों का मत है। उनमें से एक विद्वान् ने लिखा है, ''मुनि जिनविजय जी को मिले चार फुटकर छप्पयों से 'पृथ्वीराज रासो' का रचा जाना सिद्ध नहीं होता। हो सकता है कि चन्द नामक किसी कवि ने पृथ्वीराज की जीवन-घटनाओं पर कुछ फुटकर छन्द ही लिखे हों'' और ''उस चन्द का अधुना प्रचलित पृथ्वीराज रासो से सम्बन्ध जोड़ना अनुचित है।''[१] परन्तु इन छन्दों से यह स्वतः प्रकट है कि वे स्वतन्त्र या फुटकर ढंग पर लिखे हुए छन्द नहीं हैं, वे तो कुछ विशिष्ट प्रकरणों के छन्द हैं और उनके अभाव में इनकी रचना की कल्पना नहीं की जा सकती है। अतः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ये छन्द चन्द की किसी प्रबन्ध कृति से लिये गये हैं, भले ही उसका नाम 'पृथ्वीराज रासो' रहा हो या कुछ और। इसलिए 'रासो' से इन चार छन्दों के रचयिता चन्द का सम्बन्ध जोड़ना किसी प्रकार भी अनुचित नहीं माना जा सकता है। यद्यपि 'प्रबन्ध' एवं 'रासो' के कथानकों की तुलना से यह स्पष्ट है कि 'पृथ्वीराज प्रबन्ध' की कथा 'पृथ्वीराज रसो' के किसी भी ज्ञात रूप पर आधारित नहीं है, वह किसी अन्य सूत्र से ली गयी है तथापि उक्त प्रबन्ध से यह प्रमाणित हो जाता है कि इसकी रचना के पूर्व ही 'रासो' या अन्य किसी नाम से पृथ्वीराज विषयक कोई प्रबन्ध-काव्य रचा जा चुका था, जो अभी अप्राप्य है।

यहाँ 'रासो' विषयक एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया जा रहा है, जो आश्चर्यकारक भी है। वह तथ्य यह है कि 'रासो' के लेखक को उस 'पृथ्वीराज विजयकाव्य' का भी यथेष्ट ज्ञान था, जिसकी खण्डित प्रति के प्राप्त होने पर 'पृथ्वीराज रासो' की ऐतिहासिकता को लेकर एक बड़ा भारी बवण्डर हिन्दी-जगत् में खड़ा हुआ और जिसकी अनुगूँज अभी तक व्याप्त है। उसने 'विजय' की रचना का अपने काव्य 'रासो' में उल्लेख किया है। उसका यह उल्लेख 'कैमास-वध' प्रकरण में हुआ है।[२]

---

१. दे० राजस्थान का पिंगल साहित्य (डा० मोतीलाल मेनारिया), पृ० ४६ व ३८।

२. दे० पृथ्वीराजरासो (ना०प्र० सभा, काशी का संस्करण), ५७वाँ समय, छन्द १७१। संस्कृत कवि जयानक रचित 'पृथ्वीराज विजय महाकाव्य' से ज्ञात होता है कि पृथ्वीराज चौहान (तृ०) का बन्दीजन 'पृथ्वीभट्ट' था। सम्भव है, यह 'पृथ्वीभट्ट' ही रासो का रचयिता हो और उसका उपनाम 'चन्द्र' रहा हो अथवा पृथ्वी का पर्यायवाची शब्द 'चन्द्र' कवि ने जान-बूझकर प्रयोग किया हो। 'वरदाई' शब्द 'विरुद-वर्णन करने वाला' अर्थात् यश का बखान करने वाला होगा, जो पृथ्वीभट्ट या चंद के नाम के साथ रहना सार्थक ही है। डा० रघुवीर सिंह जी ने भी कुछ ऐसा ही अनुमान किया है। उनके अनुसार कवि का पूरा नाम 'बंदीराज पृथ्वीचन्द्र भट्ट' रहा होगा और अपने एवं आश्रयदाता के परस्पर के व्यक्तित्व में भ्रान्ति नहीं होने के हेतु उसने अपने नाम में से 'पृथ्वी' शब्द त्यागकर अपने काव्य में अपना नाम केवल 'चन्द्र' या 'चन्द' देना ही उचित समझा हो। किन्तु इस सम्बन्ध में प्रमाणाभाव से अभी किसी स्पष्ट निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सकता। (दे० पृथ्वीराज रासो : इतिहास और काव्य, समाहरणात्मक प्रस्तावना, पृ० 'सात')।

मझ्झ पहर पुच्छइ तिहि पंडिय।
कहि कवि 'विजय' साह जिह दंडिय।
सकल सूर बोलवि सभ मंडिय।
आसिष जाय दीघ तब चंडिय।

अर्थात् प्रहर के मध्य में पंडित से वह (पृथ्वीराज) पूछता (कहता) है, 'हे कवि, तुम (मेरी) विजय (का काव्य) कहो। जिस प्रकार मैंने (युद्ध में) शाह (शहाबुद्दीन) को दंडित किया है।' (तदनन्तर) समस्त शूरों को बुलवाकर उसने सभा माँडी (की) (जिसमें) जाकर तब चंडी-भक्त (चन्द) ने आशीर्वाद दिया।

'रासो' से 'पृथ्वीराज-विजय' के सम्बन्ध में जो यह तथ्य प्रकट होता है, वह अत्यन्त महत्त्व का है और इसे उद्घाटित करने का श्रेय डा० गुप्त को है।[१] 'विजय' के उक्त उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि 'रासो' अपने मूल रूप में कोरा 'भट्ट भणंत' नहीं था, जैसा प्रायः समझा जाता रहा है। वास्तव में 'रासो'-अन्तर्गत प्राचीन बीज-बिन्दु भी हैं।

जैसा लिखा जा चुका है कि जिनभद्र ने वस्तुपाल महामात्य के जीवन-काल में उसके पुत्र जैत्र सिंह के अनुरोध पर सं० १२९० में ऐतिहासिक एवं पौराणिक कथानकों पर आधारित अपनी 'प्रबन्धावलि' की रचना की थी, जिसे मुनि जिनविजय जी ने 'पुरातन प्रबन्ध-संग्रह' में समाविष्ट कर मेरुतुंग की 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' के सहायक ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया है। यद्यपि यह प्रबन्धावलि उपलब्ध प्रबन्धों में प्राचीनतम मानी गयी है, किन्तु जिस रूप में यह प्राप्त हुई है, उसे पूर्ण (मूल रूप) नहीं कहा जा सकता। उसमें प्रक्षेप भी दिखलाई पड़ते हैं, साथ ही उसमें कुछ ऐसी घटनाओं का भी उल्लेख है, जो वस्तुपाल की मृत्यूपरान्त घटी थीं। इसमें एक प्रबन्ध अर्थात् 'वल्लभी-भंग' प्रबन्ध तो अक्षरशः प्रबन्ध-चिन्तामणि (सं० १३६१) से नकल ही कर लिया गया है और इसके दो प्रबन्धों – 'पाद लिप्ताचार्य' प्रबन्ध एवं 'रत्नश्रावक' प्रबन्ध को 'प्रबन्ध कोश' (सं० १४०५) से लिया गया है। वैसे प्रबन्ध कोश में स्वयं अपने पूर्ववर्ती प्रबन्धों से काफी सामग्री ली गयी है। ऐसे में यह भी सम्भव है कि प्रबन्ध-कोश के रचयिता ने ही उक्त प्रबन्धावलि से ये दोनों प्रबन्ध अपने ग्रन्थ में लिये हों। फिर भी वल्लभी-भंग प्रबन्ध के आधार पर यही प्रतीत होता है कि इन्हें प्रबन्ध कोश से ही लिया गया है। अतः इस रूप में प्रबन्धावलि की वास्तविक स्थिति संदिग्ध ही है।

मुनि जिनविजय जी को प्रबन्ध-संग्रह की एक अन्य प्रति भी मिली थी, जिसे उन्होंने 'बी' प्रति कहा है और जिसमें अनेक प्रबन्धों (सम्भवतः ७१-७२) का संग्रह था, किन्तु दुर्भाग्य से यह प्रति खण्डित है। अतः उसके ग्रन्थकर्ता एवं लिपिकाल भी अज्ञात हैं और उसके केवल ५४ प्रबन्ध प्राप्त हैं। 'उपदेश-तरंगिणी' नामक ग्रन्थ में 'चतुर्विंशति प्रबन्ध' (प्रबन्धकोश) के अलावा 'द्विसप्तति प्रबन्ध' का भी उल्लेख मिलता है। सम्भव है, यह वही ग्रन्थ हो। इसमें 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' तथा 'प्रबन्ध कोश' के कई प्रबन्धों की पुनरावृत्ति

१. दे० रासो साहित्य विमर्श, पृ० १३४-१४०।

हुई है। कई नये प्रबन्ध भी हैं। मुनिजी ने इस प्रति की सामग्री और जिनभद्र की प्रबन्धावलि, जिसे उन्होंने 'पी' प्रति कहा है, की सामग्री को लेकर 'पुरातन प्रबन्ध-संग्रह' ग्रन्थ सम्पादित कर प्रकाशित कराया था। इस ग्रन्थ में 'पृथ्वीराज प्रबन्ध' और 'जयचन्द प्रबन्ध' ऐसे दो प्रबन्ध हैं, जिनमें उक्त चार छन्द मिलते हैं। 'पृथ्वीराज प्रबन्ध' तो 'पी' एवं 'बी' दोनों प्रबन्ध-प्रतियों में मिलता है और 'जयचन्द प्रबन्ध' केवल 'पी' में मिलता है। सम्भव है, वह 'बी' के त्रुटित अंशों में भी रहा हो। यह भी ध्यान रहे कि इन दोनों प्रबन्ध-संग्रहों की एक-एक प्रतियाँ ही मिली हैं।

उक्त दोनों प्रबन्धों के कथानकों पर विचार करने से जान पड़ता है कि ये प्रबन्ध जिनभद्र की 'प्रबन्धावलि' में बाद में सम्मिलित किये गये हैं, क्योंकि इनमें कुछ ऐसे तथ्य मिलते हैं, जिनसे इस मन्तव्य की पुष्टि होती है। सं० १२९० में लिखित (जो पृथ्वीराज की मृत्यु के ४१ वर्ष बाद का समय है) प्रबन्धों में ऐसी त्रुटियों का होना सम्भव नहीं था। इस सम्बन्ध में एक-दो उदाहरण देना पर्याप्त होगा। जैसे – 'पृथ्वीराज प्रबन्ध' में पृथ्वीराज के भाई का नाम 'यशोराज' दिया है, जबकि उनके भाई का नाम सर्वत्र 'हरिराज' मिलता है। तराई के अन्तिम युद्ध में पृथ्वीराज के पकड़े जाने के सम्बन्ध में लिखा है कि 'जब घोड़ा (नाटारंभाश्व) नाचने लगा तो उस राजा के गले में सिंगिनी डालकर उसे कैद कर लिया गया, यह उल्लेख 'हम्मीर महाकाव्य' के उक्त विषयक कथन से साम्य रखता है। जिस प्रकार महाकाव्य का कथन प्रमाण कोटि का नहीं है अर्थात् अप्रामाणिक है, उसी प्रकार 'प्रबन्ध' का उक्त उल्लेख भी विश्वसनीय नहीं है। 'प्रबन्ध' में सं० १२४६ में पृथ्वीराज के मारे जाने का उल्लेख किया गया है[1], जिस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। यद्यपि पृथ्वीराज की मृत्यु का प्रसंग अत्यन्त विवादग्रस्त होने के कारण किसी निश्चित मत का निर्धारण कठिन है, तथापि मुस्लिम इतिहासकार मिनहाजुस्सिराज के अनुसार वह ५८८ हिज़्री (सं० १२४८-४९) में पराजित होने के तुरन्त बाद मरवा डाला गया था।[2] यह तिथि एक इतिहास-लेखक की दी हुई है, अतः अधिक मान्य है।

'जयचन्द-प्रबन्ध' की स्थिति तो और भी गड़बड़ है। इसमें दिये दोनों छन्द 'चन्द' के नाम से उद्धृत हैं, जबकि इनमें 'जल्ह कवि' का नाम है। अतः ये छन्द जल्ह के हैं। 'प्रबन्ध' में दोनों छन्दों को उद्धृत करने से पूर्व की पंक्ति इस प्रकार है – 'तदनु चन्द बलिद्द भट्टेन श्री जैत्र चन्द प्रत्युक्तम्' – इसके बाद एक छन्द है, अनन्तर यह पंक्ति है– 'पतनागतं वर्षद्वयेनोक्तमृतेनैव पूर्वमुक्तम्'[3] और छन्द उद्धृत करने से पूर्व चन्द कवि का नाम है। इससे स्पष्ट है कि इस प्रबन्ध का लेखक उक्त छन्दों को (जिनमें जल्ह का नाम है) चन्द वरदाई का मानता था। वास्तविकता यह है कि चन्द बलिद्द भट्ट द्वारा जयचन्द को कही गयी बातें चन्द के पुत्र जल्ह द्वारा रचित छन्दों में इस प्रबन्ध में प्रस्तुत की गयी हैं, चन्द-रचित छन्दों में नहीं। इस प्रबन्ध (पृ० ८८) में जयचन्द को 'राष्ट्रकूटीय'

---

१. दे० पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पृ० ८६-८७।
२. दे० तबकात-ए-नासिरी – इलियट और डाउसन, भाग २, पृ० २९६-९७।
३. दे० पु०प्र०सं०, पृ० ८९।

लिखा गया है, जो भ्रमात्मक है, क्योंकि जयचन्द का वंश 'गाहड़वाल' कहलाता है। कन्नौज के इस राजघराने में राजाओं ने स्वयं को 'गाहड़वंशीय' ही लिखा है। उन्होंने अपने को कहीं भी 'राष्ट्रकूट' या 'राठौड़' वंश का नहीं घोषित किया है।[१] संवत् १३६१ में लिखित मेरुतुंग की 'प्रबन्ध चिन्तामणि' (पृ० ११३-१४) में जयचन्द के 'पंगु' विरुद का ही उल्लेख मिलता है। यदि उसके 'राष्ट्रकूटीय' होने की बात तब ज्ञात होती तो जयचन्द का वंश-सम्बन्धी यह उल्लेख उसमें भी अवश्य होता। इससे लगता है कि यह 'प्रबन्ध' 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' की रचना के बाद का ही है। इस प्रकार प्रबन्ध-लेखक विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता और ये सब तथ्य प्रबन्धों की प्राचीनता को संदिग्ध बनाते हैं।

अत: प्रबन्धों की उक्त स्थिति को देखते हुए मेरे विचारानुसार इनकी रचना सं० १४०० के लगभग श्री सावदेव सूरि (मृत्यु सं० १४३०) या अन्य किसी के द्वारा की जाकर जिनभद्र की प्रबन्धावलि में शामिल कर दिया गया होगा। प्रबन्धों के रचनाकार का निश्चित नाम समुचित सामग्री के अभाव में अभी अज्ञात ही है। हाँ, पुरातन प्रबन्ध-संग्रह के उक्त प्रबन्धों के आधार पर रासो की प्राचीनता के सम्बन्ध में सन्देह नहीं रह जाता और चन्द कवि पृथ्वीराज चौहान का समकालीन कवि था, इस तथ्य पर विश्वास हो जाता है। साथ ही इससे चन्द की रचना का समय पन्द्रहवीं शती वि० से पूर्व का सिद्ध हो जाता है। अत: चन्द की रचना का समय सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी बताना दुराग्रह मात्र है।

पृथ्वीराज रासो आदिकाल की महत्त्वपूर्ण रचना है। वह हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थों में से एक है। साहित्यिक दृष्टि से 'रासो' उत्तम कोटि का अपूर्व ग्रन्थ है। उसकी साहित्यिक श्रेष्ठता के सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं है और उपलब्ध प्रबन्धों में प्राचीनतम है। यह निरा 'भट्ट-भणंत' काव्य नहीं है, अपितु श्रेष्ठ सत्काव्य है। मानव मनोभावों को अच्छी प्रकार समझने वाले एक संवेदनशील सुकवि की सोद्देश्य रचना है। इसकी कविता बहुत संबल, वीरोल्लासिनी एवं अर्थ-गौरवपूर्ण है। वस्तुतः इसमें महाकाव्य की भव्यता और दृश्यकाव्य की सजीवता है। यह कोई साधारण रचना नहीं है कि जिसकी उपेक्षा की जा सके। तत्कालीन सांस्कृतिक दृष्टि से भी यह मूल्यवान है।

'रासो' काव्य-ग्रन्थ है, वह इतिहास नहीं। रासो के कथानक को इतिहास की प्रामाणिकता से नहीं जोड़ना चाहिए। आश्चर्य है, काव्य को इतिहास माना जा रहा है। हाँ, रासो की ऐतिहासिक भावना अवश्य आवेगमयी रही है; किन्तु यह शुद्ध इतिहास नहीं है। इसका इतिहास-बोध बहुत ही सशक्त रहा है। श्रेष्ठ काव्य-ग्रन्थ होते हुए भी इतिहास के रूप में जीनेवाला यह हिन्दी का अन्यतम महाकाव्य है। जहाँ इतिहास के रूप में यह ख्यात रहा है, वहीं आश्चर्य है कि प्राय: इतिहासकार इसे इतिहास की दृष्टि से अप्रामाणिक मानते हुए भी स्वयं इस काव्य के इतिहास-बोध से प्रभावित रहे हैं। अकबर-काल में भी इसकी मान्यता हिन्दू-इतिहास के रूप में रही है। 'रासो' का 'वृत्त' इतिहास नहीं है, वरन् 'वृत्त' मात्र ऐतिहासिक है। खेद है, इतिहास की दृष्टि से ही अभी तक इसका विवेचन हुआ है।

१. दे० ओझा निबन्ध-संग्रह, भाग २, पृ० २२२-२३० (डा० ओझा का 'राठौड़ और गहरवार' शीर्षक लेख)।

पृथ्वीराज चौहान अन्तिम हिन्दू-सम्राट है। उसका काल संध्याकाल है और उसके साथ उक्त इतिहास-काल का सूर्यास्त हो जाता है और उत्तर भारत में इस्लामी सत्ता आरम्भ हो जाती है। इस दु:खद एवं कारुणिक स्थिति को भी गरिमामय बनाकर हिन्दू-इतिहास के गौरव को पूर्ण आन-बान एवं शान के साथ प्रस्तुत करना ही 'रासो' काव्य का प्रयोजन है। इस प्रयोजन में पृथ्वीराज के प्रति एक आदर्श नायकत्व की परिकल्पना है। जैसा डा० बेनीप्रसाद शर्मा ने भी लिखा है कि 'इस काव्य के खलनायक सुलतान मुहम्मद गोरी को यों अति आवश्यक दण्ड दिलाकर और अपने चरित्र-नायक पृथ्वीराज की प्रतिष्ठा और काव्य-नायक के नायकत्व की रक्षा कर कवि ने पृथ्वीराज की उस शोचनीय पराजय को विजय में परिणत कर दिया।' यही कारण है कि पृथ्वीराज के इस 'वृत्त' ने भारत के हिन्दू-नरेशों में इतिहास-बोध को जाग्रत रखने में विशेष सहायता दी है। भारत के इतिहास में पृथ्वीराज की विशेष स्थिति है। यह स्थिति शूर-वीर नायक के रूप में है। वही वीर 'रासो' का नायक है और उसी का 'वृत्त' उक्त काव्य में है। हाँ, यह ऐतिहासिक 'वृत्त' मिथकीय तत्त्वों से आबद्ध है और उसे तत्कालीन लोक-विश्वासों के अनुरूप लिखा गया है। 'रासो' पृथ्वीराज चौहान का जीवन-चरित्र मात्र नहीं है, बल्कि वास्तव में वह हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष की अमर गाथा है। 'रासो' का कथानक इतिहास की गौरवपूर्ण अभिव्यक्ति है।

रासो की हस्तलिखित प्रतियाँ

चन्द कृत 'रासो' की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ देश-विदेश में प्राप्त होती हैं। उक्त प्रतियों को विद्वानों ने चार रूपान्तरों (बृहत्, मध्यम, लघु और लघुतम) में वर्गीकृत किया है।[१] चारों संस्करणों से सम्बन्धित इन प्रतियों में से मुख्य तथा महत्त्वपूर्ण प्रतियों का अति संक्षेप में विवरण इस प्रकार है –

'रासो' के बृहत् संस्करण की एक महत्त्वपूर्ण प्रति राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान की उदयपुर शाखा में संरक्षित है (सं० १८१८/१ से १२ तक), जो पहले उदयपुर राज्य के सरस्वती भण्डार में थी।[२] यह प्रति मेवाड़ के महाराणा अमर सिंह द्वितीय के शासन-काल में सं० १७६० में लिखी गयी थी। इसकी अन्तिम पुष्पिका रयण सी प्रस्ताव (समय) के अन्त में दी गयी है। इसके पद्मावती समय के अन्त में एक अलग पुष्पिका सं० १७६४ की दी हुई है[३], जिससे जान पड़ता है कि यह समय निश्चित ही बाद का लिखा हुआ है। इस ओर ध्यान नहीं दिया गया। अत: यह भी विचारणीय है।

इस संस्करण की दो महत्त्वपूर्ण प्रतियाँ काशी नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय

१. दे० राजस्थान-भारती, भाग ४, अंक १, पृ० ३। 'रासो' की हस्तलिखित प्रतियों के लिए दे० 'रासो साहित्य और पृथ्वीराज रासो नामक ग्रन्थ', जिसमें लेखक श्री नरोत्तम स्वामी ने उक्त प्रतियों का विस्तार से परिचय दिया है।

२. दे० राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, भाग १, पृ० ५८-६१।

३. दे० पृथ्वीराज रासो : इतिहास और काव्य (डा० राजमल बोरा), पृ० ६३-६४।

में हैं, जिनमें से एक सं० १७४७ की है और दूसरी १८५६ की है। इनमें से प्रथम प्रति का उल्लेख पंड्या जी ने १६४७ संवत् वाली प्रति के रूप में किया है[१], जो वास्तव में सं० १७४७ वि० की है। इसीलिए इस प्रति के सम्बन्ध में भ्रम की स्थिति बनी रही, किन्तु अब यह तथ्य स्पष्ट हो चुका है।[२] दूसरी प्रति (सं० १८५६) को आधार बनाकर पंड्या जी ने 'रासो' के बृहत् संस्करण का प्रकाशन सभा से कराया था।[३] बृहत् संस्करण की दो प्रतियाँ और प्राप्त हैं, जिनमें से एक सं० १७३१ की गलूण्ड (उदयपुर) में है तथा दूसरी सं० १७४७-५० की लिखी हुई विद्याभवन, कांकरौली (मेवाड़) में है।

बृहत् संस्करण की कुछ प्रतियों में पुष्पिका के रूप में दो कूटात्मक छप्पय मिलते हैं, जिनमें संवत् आदि की कूट-शैली में चर्चा की गयी है तथा कुछ अन्य बातें भी बतलायी गयी हैं।[४] प्रथम छप्पय की इस पंक्ति 'मिलि पंकज गन उदधि करद कागद कातरनी' के अर्थ करने में विद्वानों का मतभेद है और इसीलिए 'रासो' के काल-निर्णय में मतैक्य नहीं है। पहले में 'कक्का कवि' का नाम है और दूसरे में 'करुणोदधि' का नाम है। वास्तव में ये दोनों छप्पय अलग-अलग पुष्पिकाएँ हैं।[५] पहला 'कक्का' कवि का है। प्रतीत होता है कि रासो का मूल संस्कारक वही है। बाद में करुणोदधि ने रासो का संस्कार किया, जिसका नाम दूसरे छप्पय में है। उसी संस्कारित प्रति की प्रतिलिपियाँ आज हमें प्राप्त हैं। कक्का कवि का विवरण अप्राप्त है, किन्तु इतना निश्चित है कि इसका समय करुणोदधि से पूर्व का है अर्थात् महाराणा अमर सिंह प्रथम के राज्य-काल से पहले का है। कवि ने अपने समय का उल्लेख उसमें किया है।

१. काशी ना०प्र० सभा से प्रकाशित 'रासो' के वृहत् संस्करण की विभिन्न पाद-टि०, पृ० २६, ६७, १२४ आदि।
२. उक्त प्रति की एक आधुनिक प्रतिलिपि उस समय की की हुई मिल गयी है, जब यह विकृत नहीं हुई थी। यह प्रति रायल एशियाटिक सोसाइटी, बम्बई में है, जिसमें १७४७ सम्वत् का स्पष्ट उल्लेख है। इस सम्बन्ध में दे० डा० माताप्रसाद गुप्त का विचारोल्लेख – पृथ्वीराज रासउ, पृ० १८-१६। 'सभा' की सन् १६०० की खोज-रिपोर्ट में सं० ६३ पर 'रासो' की एक प्रति का विवरण छपा है, जिसे १६४० सम्वत् की बतलाया गया है, किन्तु यह उल्लेख अशुद्ध है। इस प्रति को डा० बोरा ने सं० १७४७ वाली प्रति माना है (दे० पृथ्वीराज रासो : इतिहास और काव्य, पृ० ८१), किन्तु पुष्पिका के आधार पर मेरे विचार से इसे नेशनल म्युजियम, दिल्ली वाली प्रति से किसी उद्देश्य विशेष से कुछ परिवर्तन कर तैयार किया गया है। यह बात दोनों प्रतियों की पुष्पिकाओं के मिलान से स्पष्ट है। दोनों एक-सी ही हैं, केवल विवृत्त प्रति की पुष्पिका में 'अड़सठयो' शब्द छोड़ दिया गया है। अतः यह विचारणीय है।
३. पंड्या जी ने सम्पादन करते समय अन्य प्रतियों से भी सहायता ली थी, ऐसा उनकी पा०टि० से ज्ञात होता है। उनमें सं० १६३१, १६३२, १७७० एवं १८४५ की प्रतियों का भी उल्लेख हुआ है, किन्तु इनका कोई विवरण अभी तक प्रकाश में नहीं आया। सं० १६३१ व १६३२ की यदि वास्तव में कोई प्रतियाँ थीं तो उनका विवरण अवश्य सामने आना चाहिए, क्योंकि उक्त प्रतियाँ सबसे प्राचीन ठहरती हैं।
४. दे० पृथ्वीराज रासो : इतिहास और काव्य, पृ० ८७।
५. यह ध्यान रहे कि इन प्रतियों का लिपिकाल अलग है और इन छप्पयों के लेखकों का समय प्राप्त लिपिकर्ताओं के काल से भी पूर्व का है।

डा० श्यामसुन्दर दास ने उक्त पंक्ति से सं० १६४१ का आशय लिया है।[1] दूसरे छप्पय में राणा अमर सिंह का नाम होने से उनकी धारणा है कि 'कक्का कवि' का काल राणा अमर सिंह प्रथम के समय का होना चाहिए।[2] डा० मेनारिया ने सं० १७६० के मेल में अर्थ करने का प्रयास किया है, किन्तु वे स्पष्ट नहीं कर पाये। अत: उनके द्वारा १७६० अर्थ मानना सार्थक नहीं है।[3] डा० जावलिया ने उक्त पंक्ति से विभिन्न संवत् निकाले हैं। ये भिन्न-भिन्न संवत् कक्का कवि, चन्द्रसिंह एवं करुणोदधि के समय को ध्यान में रखते हुए निकाले गये हैं। कक्क का परिचय अज्ञात है, पर यह स्पष्ट है कि चन्द्र सिंह के पूर्व 'रासो' रचा जा चुका था, क्योंकि लघु रूपान्तर के उद्धारक के रूप में उसका नाम उक्त संस्करण के एक छन्द में मिलता है।[4] इसी के परिप्रेक्ष्य में श्री जावलिया ने यह अनुमान किया है कि चन्द्रसिंह ने यह उद्धार कक्क कवि के द्वारा कराया है। चन्द्रसिंह अकबर का समकालीन है और सं० १६४१ के सन्दर्भ में कक्क का समय राणा अमर सिंह प्रथम से पूर्व का होना चाहिए।[5] कक्क कवि के सम्बन्ध में मेरा विचार है कि यह चारणों की 'कविया' शाखा में से था, क्योंकि छप्पय में दिये गये शब्दों 'कक्का कवियाने' से यह बात स्पष्ट है। अत: खोज की जानी चाहिए।

करुणोदधि के सम्बन्ध में जावलिया जी ने जो नयी जानकारी दी है, उससे 'रासो' विषयक शोध पर क्या प्रकाश पड़ता है। उन्होंने लिखा है कि 'खित्राणी शापोद्धार' नामक ग्रन्थ में राणा राज सिंह प्रथम के काल में उनके पुत्र सरदार सिंह (मृत्युकाल सं० १७२६) की आज्ञा से उक्त करुणोदधि के शिष्य 'खेतसी' के द्वारा 'रासो' का उद्धार कराने की सूचना मिलती है। इस आधार पर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सरदार सिंघ के समय तक करुणोदधि या तो बहुत वृद्ध हो चुका था या मर गया था। इसीलिए उसके योग्य शिष्य को 'रासो' का काम सौंपा गया। इससे करुणोदधि का समय राणा अमर सिंह प्रथम से जगत सिंह प्रथम तक माना जा सकता है।[6] इस रूप में प्रकट है कि कक्क कवि, चन्द्रसिंह, करुणोदधि और खेतसी – ये सब रासो के उद्धारक एवं संस्कारक हुए हैं।[7]

१. दे० राजस्थान का पिंगल साहित्य (डा० मेनारिया), पृ० ४६ पर पा०टि० सं० ४७।
२. इसी आधार पर डा० साहब ने रासो की प्रति को सं० १६४२ की होने का उल्लेख किया है। दे० हिन्दी-साहित्य, पृ० ६५। इस सम्बन्ध में डा० मेनारिया द्वारा की गयी टिप्पणी भ्रामक है।
३. दे० राजस्थान का पिंगल साहित्य (डा० मेनारिया), पृ० ४७ व पा०टि० सं० ४६।
४. दे० पृथ्वीराज रासो : इतिहास और काव्य, पृ० ६१-६२।
५. दे० वही, पृ० ६२-६३।
६. दे० वही, पृ० ८८-८६। महाराणा अमरसिंह प्रथम के काल में 'रासो' का यह संस्कार-कार्य मेरे विचार में सं० १६७२ के बाद ही आरम्भ हुआ होगा, क्योंकि इससे पूर्व तो राज्य में युद्ध के कारण अशान्ति ही बनी रही। इस सम्वत् में अमरसिंह एवं जहाँगीर के बीच सन्धि हो गयी थी और तभी मेवाड़-राज्य में शान्ति की स्थिति बनी थी। इस प्रकार कह सकते हैं कि 'रासो' की सं० १७६० वाली उदयपुर की प्रति की पुष्पिका तो महाराणा अमरसिंह द्वितीय के समय की है और करुणोदधि का समय अमरसिंह प्रथम का है।
७. डा० श्यामसुन्दरदास जी ने भी अपने हिन्दी-साहित्य-ग्रन्थ में एक दोहे के आधार पर 'मलैसिंह' को रासो का क्षेपककार माना है, दे० उक्त ग्रन्थ, पृ० ६६-६७ (षष्ठ संस्करण)।

मध्यम रूपान्तर की एक उत्तम प्रति रायल एशियाटिक सोसाइटी, लन्दन के 'टाड-कलेक्शन' (सं० ८२) की है। इसका लिपिकाल चैत्र शुक्ल २, रविवार सं० १६६२ है।[१] इसी संस्करण की एक अन्य प्रति साहित्य सदन, अबोहर की है। इसका लिपिकाल सं० १७२३ (कार्तिक कृष्णा १, गुरुवार) है।[२] इस रूपान्तर की अन्य प्रतियाँ सं० १७०१ तथा सं० १७६२ की भी प्राप्त हैं। इस रूपान्तर का पूर्ण प्रकाशन अभी तक नहीं हो पाया है। पं० मथुराप्रसाद दीक्षित ने इसके मात्र आदिपर्व (प्रथम समय) का प्रकाशन १६३८ ई० में लाहौर से 'असली पृथ्वीराज रासो' नाम से कराया था। इसमें कुल २१५ छन्द हैं। आगे इसका कोई अंश प्रकाशित नहीं हुआ।[३]

बीकानेर के राज पुस्तकालय में प्राप्त रासो की तीन (क्र० ५६, ६१, ६२) समान प्रतियों को लघु-संस्करण नाम दिया गया है। इनके आधार से डा० वेणीप्रसाद शर्मा ने 'रासो' का सम्पादन किया है। उन्होंने सबसे प्राचीन प्रति का लेखनकाल सन् १५७३-१६१३ के मध्य माना है।[४] यह प्रति बीकानेर-नरेश रायसिंह के मन्त्री कर्मचन्द बच्छावत के पुत्र भागचन्द के लिए लिखी गयी थी, ऐसा उल्लेख प्रति सं० ६१ में प्राप्त होता है।[५] भागचन्द की मृत्यु सन् १६१३ में हुई थी। अत: यह प्रति निश्चित रूप से १६१३ ई० से पूर्व की है और किसी अन्य पूर्वज प्रति से नकल की गयी थी, क्योंकि इस प्रति के अन्त में 'यादृशंमया दृष्टा, तादृशं लिखितं मया' का उल्लेख मिलता है।

लघु रूपान्तर का उद्धार कछवाहावंशी राजा सूर सिंह के पुत्र चन्द्रसिंह ने कराया था, ऐसा प्रतियों (क्र० ५६ व ६२) के अन्त में दिये हुए छन्द से ज्ञात होता है।[६] यह छन्द बृहत् रूपान्तर की प्रतियों में भी पाया जाता है, किन्तु वहाँ 'चन्द्रसिंह' की जगह 'चन्द-नन्द' पाठ है।[७] चन्द्रसिंह आम्बेर-नरेश मानसिंह के छोटे भाई सूर सिंह का पुत्र था। सूरसिंह भी अकबर का सेनापति था।[८] अत: चन्द्रसिंह जो अकबर का समकालीन था, रासो का उद्धार करानेवाला था। सम्भव है, उसने यह कार्य कवि कक्का कविया से कराया हो, इसलिए

१. दे० पृथ्वीराज रासो : इतिहास और काव्य, पृ० ६७। डा० मेनारिया इसकी पुष्पिका की गणनात्मक स्थिति के आधार पर इसकी प्राचीनता में विश्वास नहीं करते (दे० राजस्थान में पिंगल साहित्य, पृ० ४७), किन्तु डा० रघुवीर सिंह इसे प्राचीन प्रति स्वीकार करते हैं।

२. इस प्रति के १२वें खंड की समाप्ति पर भी एक पुष्पिका सं० १७२३ माघ सुदि ८ की है। यह अन्त की पुष्पिका से बाद की है। जान पड़ता है कि इस प्रति के आरम्भ के १२ खंड बाद में लिखकर जोड़े गये हैं।

३. दे० पृथ्वीराज रासो : इतिहास और काव्य, पृ० ४७-४८।

४. दे० पृथ्वीराज रासो, सं० डा० बी०पी० शर्मा, भूमिका, पृ० १२।

५. दे० पृथ्वीराज रासो : इतिहास और काव्य, पृ० १०१ पर उद्धृत।

६. दे० वही, पृ० १७५ पर उद्धृत।

७. रासो के मध्यम तथा लघुतम रूपान्तरों में उक्त छन्द नहीं पाया जाता है। इससे यह कल्पना करने का अवसर मिला कि 'चंद' रासो को पूरा नहीं कर सका और चंद-नंद अर्थात् चंद के पुत्र जल्ह ने पूरा किया। जब वृहत् रूपान्तर का संकलन हुआ, तब तक लोग इस कछवाहा चन्द्रसिंह को भूल चुके होंगे, अत: चन्द्रसिंह की जगह 'चंद-नंद' कर लिया गया।

८. इस चन्द्रसिंह का उल्लेख 'ख्यात' में चाँदसिंह के रूप में हुआ है, दे० मुंहता नैणसी री ख्यात, पहला भाग, पृ० ३०० (जोधपुर संस्करण)।

उसकी विद्यमानता सं० १६४१ में मान्य है, जैसा कि डा० श्यामसुन्दर दास जी ने कूट छन्द (प्रथम छप्पय) से उक्त संख्या मानी है। डा० मा०प्र० गुप्त ने इस लघु पाठ के आधार पर इस रूपान्तर की रचना-तिथि सं० १४२८ के लगभग ठहराई है।[१]

'रासो' के लघुतम संस्करण की अभी तक दो प्रतियाँ मिली हैं। इनमें से एक प्रति धारणोज की है, जो सं० १६६७ की है और दूसरी प्रति मोहनपुर की है, जो सं० १६६७ की है।[२] धारणोज की यह प्रति बीकानेर-नरेश कल्याणमल जी के पौत्र भगवानदास के पठनार्थ तैयार की गयी थी और यह प्रति मुनि पुण्य विजयजी को प्राप्त हुई थी। इस प्रति में रचना का नाम 'राजा श्री प्रिथी राज चहुआण रासउ रसाल' कहा गया है। डा० गुप्त ने इस पर विचार कर यह माना है कि यह संस्करण वास्तव में कोई स्वतन्त्र रूपान्तर नहीं है, बल्कि यह एक 'चयनात्मक संक्षेप मात्र है, जो रासो के लघु पाठ के किसी रूप का ही एक संकलित संक्षेप है[३] और यह किसी पूर्व प्रति की प्रतिलिपि मात्र है, क्योंकि इसके अन्त में 'यादृशं पुस्तके......मया' वाली पंक्ति है। इससे स्पष्ट है कि रासो की यह प्रति सं० १६६७ से पूर्व ही अपने अस्तित्व में आ चुकी थी। यद्यपि यह 'रासो' की सबसे प्राचीन प्रति है, किन्तु यह रूपान्तर प्रक्षेपों से भी शून्य नहीं है। इसी प्रति को आधार बनाकर और अन्य रूपान्तरों की उपयोगी प्रतियों की सहायता लेते हुए डा० गुप्त ने अपने ग्रन्थ 'पृथ्वीराज रासउ' का सम्पादन किया है।[४] धारणोज की प्रति अब प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर के संग्रह में है और इसकी सं० १२०६६ है।[५]

मोहनपुर वाली प्रति में धारणोज-प्रति से रूपक संख्या लगभग १२० अधिक है। दोनों प्रतियों में गद्य-वार्ताएँ भी दी गयी हैं, किन्तु ये दोनों में एक-सी नहीं हैं। वार्ताओं का यह अंश लिपिकर्ताओं का अपना है, जो कथा-क्रम को समझाने हेतु लिखा गया है। यह दूसरी प्रति भी रासो के एक छन्द-चयन मात्र की है। उक्त दोनों प्रतियाँ 'रासो' की प्राचीनतम प्राप्त प्रतियाँ हैं[६] और रचना का एक विशिष्ट रूप उपस्थित करती हैं, जो अन्य प्रतियों में नहीं मिलता है, इसलिए अत्यन्त उपादेय हैं।

---

१. दे० रासो साहित्य विमर्श, पृ० १०८।

२. दोनों की पुष्पिकाओं के लिए दे० हिन्दी-अनुशीलन, वर्ष १०, अंक ३, पृ० ६-१०।

३. दे० वही, पृ० १३।

४. डा० गुप्त से पूर्व श्री नरोत्तमदास स्वामी ने लघुतम रूपान्तर को सम्पादित कर 'राजस्थान-भारती' में क्रमशः प्रकाशित कराना आरम्भ किया था, किन्तु यह कार्य अधूरा ही रह गया और बहुत कम अंश प्रकाश में आ सका। दे० राजस्थान-भारती, भग ४, अंक १ (अप्रैल १६५४) से क्रमशः।

५. इस प्रति के सम्बन्ध में डा० बोरा ने जो विवरण दिया है, उससे जान पड़ता है कि इसके बारे में मुनि जिन विजय जी को विस्मृति हुई। मुनि जी के पास यह प्रति नहीं थी, अपितु मोहनपुर वाली प्रति थी, जिसकी एक फोटो-प्रति उन्होंने डा० माताप्रसाद गुप्त को उपलब्ध करायी थी। डा० गुप्त ने स्पष्ट इस बात का उल्लेख किया है। दे० पृथ्वीराज रासो : इतिहास और काव्य, पृ० १०३ तथा हिन्दी-अनुशीलन, वर्ष १०, अंक ३, पृ० ६।

६. उक्त प्रतियों में न खंड-विभाजन है और न छन्दों की क्रम-संख्या दी हुई है। 'धा०' में कथा के विभिन्न शीर्षक गद्य-वार्ताओं के रूप में दिये गये हैं, किन्तु 'मो०' में यह भी नहीं हैं।

उपर्युक्त प्रतियों के अतिरिक्त 'रासो' की कुछ प्रतियाँ जयपुर के राज पुस्तकालय में भी हैं, जिनमें 'कनवज्ज खण्ड' की एक प्रति सबसे पुरानी है, जिसे १६३० वि० सम्वत् की बतलाया गया है और इस पर मिर्जा राजा जयसिंह की १०५६ हिजरी की मुहर भी अंकित है, ऐसा कहा गया है।[1] किन्तु उक्त प्रति के सम्बन्ध में अभी कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसका पूर्ण विवरण अभी प्रकाश में नहीं आया है।

'रासो' ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय रहा है। इसीलिए उसकी प्रतियाँ भी बहुतायत से मिलती हैं। यहाँ उनमें से कुछ ही महत्त्वपूर्ण प्रतियों का उल्लेख किया गया है। यद्यपि उक्त प्रतियों का चार रूपान्तरों में वर्गीकरण उसके परिमाण एवं विस्तार के आधार पर किया गया है, किन्तु उनमें छन्द संख्या आदि का पर्याप्त अन्तर है। यहाँ तक कि एक ही रूपान्तर की प्रतियों में भी कोई एकरूपता नहीं है। विभिन्न संस्करणों की प्रतियों के लिपिकालों को देखने से ज्ञात होता है कि सं० १६६७ से १७६० के मध्य उक्त सब रूपान्तर हुए हैं।

बृहत् संस्करण की सं० १७६० वाली प्रति करुणोदधि के समय की है और उसने कक्क कवि को आधार मानकर लिखा है। इससे यह प्रति और प्राचीन हो जाती है और राणा अमर सिंह प्रथम के समय तक पहुँच जाती है। इस प्रकार इस रूपान्तर की प्रति का समय भी लघुतम रूपान्तर की प्रति के समय के निकट पहुँच जाता है। लघु (सं० १६७० से पूर्व) एवं लघुतम का अन्तर भी समय की दृष्टि से अधिक नहीं है। वैसे लघु-लघुतम से भी पुराना हो सकता है। इस प्रकार उक्त तीनों रूपान्तरों के प्राचीनतम उपलब्ध रूप १० वर्षों के भीतर के ठहरते हैं और ये तीनों रूप अलग-अलग स्थानों पर तैयार हो रहे थे। मध्यम रूपान्तर के समय में अवश्य कुछ अधिक अन्तर मिलता है, किन्तु यह कोई विशेष बात नहीं है। वैसे यदि समय के आधार से देखें तो इन प्रतियों पर गम्भीरता से पुनर्विचार आवश्यक है। साथ ही यह भी ध्यातव्य है कि रासो की प्राचीनतम प्रतियाँ भी अन्य प्रतियों की प्रतिलिपि मात्र हैं, क्योंकि उनके अन्त में 'यादृशं मया.....' का उल्लेख मिलता है। यह स्वयं इस बात का प्रमाण है कि 'रासो' का अस्तित्व अकबर से भी काफी पहले का है। अतः 'रासो' को एकदम १७वीं शती की रचना मानना या इससे पूर्व उसके अस्तित्व को नकारना पूर्णतया गलत है।

१.६. सन्त पीपा जी का समय

सन्त-समाज में सन्त पीपा जी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनकी गणना स्वामी रामानन्द के प्रसिद्ध बारह शिष्यों में की जाती है।[2] नाभादास जी ने अपनी 'भक्तमाल' में जो छप्पय उनके विषय में दिया है, उसमें उन्होंने इस बात का उल्लेख स्वतन्त्र रूप से भी किया है।[3] रामानन्द जी के द्वादश शिष्यों में सन्त कबीर के बाद सन्त पीपा जी का साहित्यिक

---

१. दे० पृथ्वीराज रासो : इतिहास और काव्य, पृ० १०७ (जयपुर की प्रतियाँ)।
२. दे० मेरा लेख –'स्वामी रामानन्द जी के द्वादश शिष्य', शोध-पत्रिका, वर्ष १७, अंक ३।
३. भक्तमाल, रूप कला-संस्करण, पृ० ४६२

वर्चस्व स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। उनका साहित्य, सन्त-साहित्य में अपना विशेष स्थान रखता है।

पीपा जी गाँगरौण गढ़ के खीची चौहाण राजा थे और अपनी रानी सीता के सहित रामानन्द जी के शिष्य हो गये थे। उनके समय के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। उन्होंने अपने विचारानुसार पीपा जी का समय निश्चित करने की चेष्टा की है। इनका कदाचित् सबसे पहला उल्लेख भक्त कवि व्यास जी (सं० १५४६-१६५५ के लगभग) के पदों में प्राप्त होता है।[१] इसी प्रकार इनका प्रसंग मीराबाई (सं० १५६१-१६१३ के लगभग) के एक पद में आता है, जहाँ पर इनके भगवान् के परिचय पाने तथा खजाने के पूर्ण किये जाने की ओर संकेत किया गया है।[२] गार्सा द तासी ने यदि इनका आविर्भाव काल ईस्वी सन् १२ वीं शताब्दी का मध्य भाग माना है[३], तो डा० फर्कुहर ने सन् १४२५ (सं० १४८२) में इनका जन्म होना लिखा है।[४] श्री कनिंघम ने गाँगरौण-राज की वंशावली के आधार पर इनका समय सन् १३६० (सं० १४१७) से १३८५ ई० (सं० १४४२) के मध्य माना है।[५] पं० परशुराम जी चतुर्वेदी ने कनिंघम के मत को कुछ पीछे और फर्कुहर के निश्चय को कुछ अधिक आगे का मानते हुए, राजस्थान के इतिहास से संगति बैठाकर पीपा जी का जन्म-काल सं० १४६५-१४७५ (सन् १४०८-१४१८ या इससे कुछ पहले तक भी) के लगभग माना है।[६] डा० पीताम्बर दत्त जी बड़थ्वाल ने कनिंघम के आधार पर ऐतिहासिक संगति से इनका जीवनकाल सं० १४१० (सन् १३५३) के लगभग से सं० १४६० (सन् १४०३) तक अनुमित किया है।[७] आचार्य हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने पीपा जी के समय के सम्बन्ध में फर्कुहर और कनिंघम के मतों को ही उद्धृत किया है। अपना कोई स्वतन्त्र मत व्यक्त नहीं किया, बल्कि उपर्युक्त मतों को देते समय एक अशुद्धि और कर गये हैं। कनिंघम के दिये संवत् उन्होंने ईस्वी सन् के रूप में दिये हैं।[८] पीपा जी के अनुयायी उनका सं० १३८० में जन्म होना और सं० १४४१ में निर्वाण होना मानते हैं।[९] उपर्युक्त मतों में तासी के मत के पीछे कोई सुदृढ़ आधार नहीं है। उनका विचार केवल अनुमानाश्रित है। जैसा आगे विचार किया जाएगा, वह ऐतिहासिक संगति में भी नहीं आता है। अतः तासी द्वारा दी गयी तिथि नितान्त ही अप्रामाणिक एवं भ्रामक है। फर्कुहर साहब ने अपने मत का आधार स्पष्ट नहीं किया है। केवल जनश्रुतियों के

---

१. दे० श्री व्यास-वाणी, पृ० १२, ८५, १०७, प्र० आचार्य श्री राधा किशोर गोस्वामी, वृन्दावन।

२. मीराबाई की पदावली, (प्र० हि० सा०सं० प्रयाग) पद२१

३. हिन्दुई साहित्य का इतिहास, अनु० डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (प्र०सं०) पृ० १५३, प्रथम पाद-टिप्पणी।

४. उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृ० २६६ पर उल्लिखित।

५. आर्कियालाजिकल सर्वे रिपोर्ट, भाग २, पृ० २६५-७ और भाग ३, पृ० १११

६. उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृ० २३६ (द्वि०सं०)।

७. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय (प्र०सं०) पृ० ३६-४०।

८. हिन्दी-साहित्य, पृ० १४०।

९. दे० सुपथगा, वर्ष २, अंक ८ में प्रकाशित चित्र तथा अ०भा० पीपा क्षत्रिय महासभा का प्रतिवेदन व पीपा जी का जीवन-परिचय।

आधार पर सन् १४२५ ई० में जन्म मान लेना अधिक तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। इस मत को स्वीकार करने से कई विसंगतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। जनरल कनिंघम ने गाँगरौण राज्य की वंशावली की छानबीन करके ही पीपा जी का समय स्थिर किया था और इसीलिए उनका स्थिर किया हुआ समय कुछ ऐतिहासिक संगति में आता है। वह स्वामी रामानन्द तथा कबीरदास के जीवनकाल से भी मेल खाता है।[१] कनिंघम के मत की पुष्टि एक भ्रमण-वृत्तान्त से भी होती है।[२] किन्तु इतिहास की दृष्टि से वह फिर भी विचारणीय है। पं० परशुराम जी चतुर्वेदी ने फर्कुहर के निश्चय को अमान्य ठहराकर स्वयं पीपा जी के जिस जन्मकाल का अनुमान किया है, वह भी प्रमाण-पुष्ट नहीं है। चतुर्वेदी जी ने अपने अनुमान को राजस्थान के जिस ऐतिहासिक आधार पर अवलम्बित करने की चेष्टा की है, वह ऐतिहासिक सन्दर्भ अशुद्ध है। इसका उल्लेख आगे किया जाएगा। ऐसी स्थिति में पण्डित जी का मत केवल अनुमानाश्रित रह जाता है। डा० बड़थ्वाल ने जनरल कनिंघम के मत का ही समर्थन किया है। उन्होंने उसी आधार पर पीपा जी की जन्म-मृत्यु की तिथियाँ निश्चित की हैं। उनके विचार में इसकी संगति कबीर और स्वामी रामानन्द के समय से पूरी रीति से ठीक बैठ जाती है। आचार्य द्विवेदी का इस विषय में अपना स्वतन्त्र मत नहीं है। वह केवल पिष्टपेषण मात्र है। पीपा जी के अनुयायी किस आधार पर उक्त तिथियों को मानते हैं, यह अज्ञात है। जन्मतिथि (संवत् को छोड़कर) तो स्यात् उन्होंने 'अगस्त्य-संहिता' से ग्रहण की है, क्योंकि यह तिथि उसमें दी हुई है।[३]

पीपा जी के समय पर विचार करते समय इस बात का ध्यान रहे कि उनका समय स्वामी रामानन्द तथा उनके शिष्य कबीर आदि के जीवनकाल के मेल में हो और ऐतिहासिक संगति में भी आता हो। जब हम राजस्थान के इतिहास का आलोड़न करते हैं, तो हमें ज्ञात होता है कि विद्वानों ने जिन ऐतिहासिक तथ्यों को आधार बनाकर पीपा जी के समय को निर्धारित करने की चेष्टा की है, वे तथ्य अशुद्ध हैं। इतिहास से उनकी पुष्टि नहीं होती, अपितु वे गलत सिद्ध होते हैं। अनेक विद्वानों ने इस तथ्य का उल्लेख किया है कि इतिहास-प्रसिद्ध वीर गाँगरौण-नरेश अचल दास खीची, पीपा जी के भाई थे[४] और अचल

---

१. सेन, कबीर, पीपा, रैदास तथा धना का रामानन्द जी के शिष्य होने में आचार्य चतुर्वेदी जी को सन्देह है। इनकी समकालीनता भी उन्हें मान्य नहीं है। अपने इसी अनुमान के आधार पर इन सन्तों की जो तिथियाँ उन्होंने दी हैं, वे स्वामी जी के जीवन-काल के मेल में नहीं आतीं। इन सन्तों के विषय में आचार्य जी के विचार अनुमानाश्रित ही हैं, किसी दृढ़ प्रमाण पर आधारित नहीं हैं। जब तक ऐसी कोई प्रामाणिक सामग्री, जो चतुर्वेदी जी के विचारों का समर्थन कर सके, नहीं प्राप्त हो जाती, तबतक 'भक्तमाल' में उल्लिखित एवं अन्य समस्त उपलब्ध परम्पराओं तथा जनश्रुतियों से समर्थित मत को सहज ही में अप्रामाणिक कहकर टाला नहीं जा सकता।

२. ट्रैवेलस आफ ए हिन्दू, वाल्यूम १, पृ० ५७; उ०भा० की सन्त-परम्परा, पृ० २३६ पर उल्लिखित।

३. 'अगस्त्य संहिता' के आधार पर 'रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव' नामक ग्रन्थ के पृ० ३० पर उद्धृत।

४. दे० (अ) उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृ० २३६ (द्वि०सं०)। (आ) भागवत-सम्प्रदाय, ले० श्री बलदेव उपाध्याय, पृ० २७० (प्र०सं०) प्र० – ना०प्र० सभा, काशी। (इ) सन्त कवि पीपा जी एक परिचय,

दास जी के साथ राणा कुंभा की बहन अर्थात् राणा मोकल की पुत्री लाला का ब्याह हुआ था।[1] राजस्थान के चौहान वंश की खीची शाखा के इतिहास को जब हम टटोलते हैं, तो हमें ज्ञात होता है कि अचल दास, पीपा जी के भाई नहीं थे।[2] न ही बड़े और न ही छोटे।[3] हाँ, पीपा जी के वंशज अवश्य थे। वंशावली के आधार पर वे पीपा जी से चौथी पीढ़ी में आते हैं। पीपा जी, कल्याण, भोज और अचल दास, इस प्रकार वंशक्रम है।[4] एक छन्द की प्रथम पंक्ति 'पीपा वंश कल्याण भोज के अचल बखानो' से भी इस वंशक्रम की पुष्टि होती है। खिलचीपुर की ख्यात के अनुसार अचल दास सं० १४६७ (सन् १४१०) में गद्दी पर बैठे थे[5] और सं० १४८० (सन् १४२३) में मालवा के शाह होशंग गोरी के द्वारा गाँगरौण पर चढ़ाई किये जाने पर समर में वीरगति को प्राप्त हुए थे।[6] और इस प्रकार अचल दास का राजत्व-काल सं० १४६७ से १४८० वि० ठहरता है। इतिहास से जब यह भ्रातृत्व सिद्ध नहीं है तो अचल दास के समय के आधार पर पीपा जी के समय का निर्धारण करना कहाँ का न्याय है ? इस भ्रम को त्यागकर विद्वानों को चाहिए कि वे ऐतिहासिक एवं संगतिमूलक तथ्यों के आधार पर पीपा जी के समय-निर्धारण की चेष्टा करें, न कि किसी अशुद्ध उल्लेखगत परम्परा से ही चिपटे रहें। इस भ्रम का आरम्भ कदाचित् मुंशी देवी प्रसाद जी से हुआ प्रतीत होता है और बाद के विद्वानों ने उनके उल्लेख का अनुकरण किया है। क्योंकि उन्होंने लिखा है – ''पीपा जी ने साधु-वृत्ति धारण की और राज्य अपने भाई अचल दास को दे दिया।'' कारण यह है कि मुंशी जी पुराने लेखक हैं और उनके उल्लेख का अनुकरण सम्भव है।

राणा मोकल की पुत्री लाला का ब्याह अचल दास के साथ हुआ, इस भ्रममूलक दूसरे तथ्य की पुष्टि भी इतिहास से नहीं होती है। किसी भी प्रामाणिक ऐतिहासिक सूत्र से

ले० – श्री दीनदयाल ओझा, पृ० ६, प्र० – पीपा प्रकाशन गृह, बीकानेर।। (ई) ना०प्र० पत्रिका, भाग १० (प्राचीन संस्करण) में प्रकाशित मुंशी देवीप्रसाद का लेख, पृ० १३। (उ) राजस्थान भारती, भाग ५, अंक १, पृ० ८२।

१. उ०भा० की सन्त-परम्परा, पृ० २३६ तथा राजस्थान भारती, भाग ५, अंक १, पृ० ८२। श्री चतुर्वेदी जी तथा श्री जुगल सिंह खीची का यह तथ्योल्लेख 'टॉड-राजस्थान' पर आधारित है (दे० प्रथम भाग, पृ० २०८, श्री बलदेवप्रसाद मिश्र द्वारा अनूदित संस्करण) टॅाड का कथन 'फुटकर वातां रो संग्रह' नामक पोथी की 'अचल दास खीचीरी बात' पर आधारित प्रतीत होता है। यह रचना लोक-कथात्मक है। अत: इसके तथ्य प्रामाणिक नहीं हैं। श्री चतुर्वेदी जी ने राणा कुंभा का जो समय (सं० १४७५-१५२५ दिया है, वह भी अशुद्ध है।

२. दे० भगवंतराय खीची और उनके मण्डल के कवि (ले० डा० महेन्द्र प्रताप सिंह) नामक ग्रन्थ के पृ० ४७ पर दिया हुआ वंश-वृक्ष। यह वंश-वृक्ष 'चौहान कुलकल्पद्रुम' के आधार पर दिया गया है, जो खिलचीपुर की ख्यात और हिन्द राजस्थान की परीक्षा करके प्रस्तुत किया गया है।

३. किसी ने उन्हें बड़ा भाई लिखा है और किसी ने छोटा भाई बतलाया है।

४. दे० भगवत राय खीची और उनके मण्डल के कवि, ४७ व ५०।

५. दे० राजस्थान भारती, भाग ५, अंक १, पृ० ८२।

६. उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग २, पृ० ५७ (हिजरी सन् ८२६)। अन्य मान्यता के अनुसार सन् १४२६ (सं० १४८३) में यह आक्रमण हुआ था।

इस बात का पता नहीं चलता कि राणा मोकल के कोई कन्या भी थी ? उनकी किसी पुत्री का नामोल्लेख कहीं नहीं हुआ। इस विषय में डा० हरीश का 'अचल दास खीची री बचनिका का नया मूल्यांकन' शीर्षक लेख विशेष रूप से द्रष्टव्य है।[१]

इन भ्रमात्मक आधारों का निराकरण हो जाने पर अब हमें यह देखना है कि इतिहास की दृष्टि से पीपा जी का समय क्या ठहरता है ? गाँगरौण राज्य की स्थापना सं० १३०० के आसपास पीपा जी के पूर्वज देवन सिंह ने की थी।[२] अबुल फजल के आधार पर डा० बड़थ्वाल ने लिखा है – ''मानिक देव के वंशज जैतपाल ने मुसलमानों से मालवा छीन लिया था। यह घटना पृथ्वीराज की मृत्यु (सं० १२५०) के १३१ वर्ष पीछे सं० १३८१ के आसपास की बताई जाती है।[३] जैतपाल या जैतराव (देवन सिंह के पुत्र थे) मानिक देव से पाँचवी पीढ़ी में हुए और मानिक देव पृथ्वीराज के समकालीन थे।[४] इस आधार पर डा० बड़थ्वाल तथा जनरल कनिंघम ने पीढ़ियों के हिसाब के अनुसार मोटे रूप में जो समय बतलाया है, वह बहुत कुछ प्रामाणिकता के निकट है। इसी प्रकार पीपा जी के पश्चात् की पीढ़ियों पर विचार करते समय हम पाते हैं कि अचल दास को सं० १४८० में वीरगति मिलने पर उनके पुत्र गज सिंह (उर्फ खडगसेन) ने अन्तर्वेद में आकर असोथर के खींची वंश की नींव डाली। गज सिंह की चौथी पीढ़ी में साहेब देव हुए। साहब देव की गौतमों पर विजय की तिथि सं० १५५५ वि० देव कृत जैसिंह विनोद में दी हुई है।[५] इस हिसाब से भी उक्त दोनों विद्वानों द्वारा दिये हुए पीपा जी के समय का बहुत कुछ समर्थन होता है। उक्त दोनों विद्वानों ने पीपा जी का जो समय दिया है, वह सामान्यतया उनका राजत्वकाल है। कनिंघम के अनुसार पीपा जी सं० १४१७ (सन् १३६०) में गद्दी पर बैठे थे। श्री जुगल सिंह खीची ने भी इसी समय को मान्यता दी है।[६] डा० बड़थ्वाल ने कनिंघम के दिए हुए समय को पीपा जी का राजत्व-काल मानकर उनका जीवन-काल सं० १४१० से माना है। इसमें आपत्ति यह है कि सं० १४१० और सं० १४१७ में केवल ७ वर्ष का अन्तर रहता है, जो अत्यन्त अल्प है। यदि सं० १४१० को स्वीकार किया जाए तो प्रश्न उठता है कि क्या पीपा जी केवल ७ वर्ष की अल्पावस्था में गद्दी पर बैठे थे? अतः यह अनुमान असंगत प्रतीत होता है। इस संवत् को भी राजत्व-काल के रूप में ही माना जा सकता है। पीपा जी की पूर्व एवं पश्चात् की पीढ़ियों को ध्यान में रखते हुए मेरा अनुमान है कि वे सं० १४०० के आसपास गद्दी पर बैठे होंगे। राजगद्दी पर बैठने के समय उनकी आयु २० वर्ष मान ली जाए तो उनका जन्म-काल सं० १३८० अनुमानित होता है। पीपा

---

१. दे० आदिकालीन हिन्दी साहित्य शोध, पृ० ४४४।

२. भगवंतराय खीची और उसके मण्डल के कवि, पृ० ४६।

३. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० ३७।

४. मानिक देव के पिता अश्वराज का सं० ११७२ का शिलालेख पाया जाता है। (दे० भगवन्तराय खीची और उनके मण्डल के कवि, पृ० ४६)।

५. भगवंतराय खीची और उनके मण्डल के कवि, पृ० ४६

६. राजस्थान भारती, भाग ५, अंक १, पृ० ८२।

जी के अनुयायी भी इसी सम्वत् में उनका जन्म होना मानते हैं।

गद्दी पर बैठने के पश्चात् पीपा जी ने १५-२० वर्ष राज्य भोग कर और उसके गुणों-अवगुणों को समझकर सहज रूप से बीच में ही राजगद्दी का त्याग कर दिया होगा। तत्पश्चात् उनका शेष जीवन विरक्तावस्था में व्यतीत हुआ। पीपा-अनुयायी सं० १४४१ में उनका निर्वाण होना मानते हैं, जो सब बातों पर विचार करते हुए उपयुक्त प्रतीत होता है। कनिंघम ने पीपा जी के समय का दूसरा छोर सं० १४४२ माना है, जो राज्य-त्याग का समय नहीं है, अपितु उनके जीवन का अन्तिम समय है। इन दोनों सम्वतों में केवल एक वर्ष का अन्तर है, जो महत्त्व युक्त नहीं है। इस प्रकार पीपा जी का कुल जीवन-काल ६१ वर्ष का बैठता है। पीपा जी का यह समय (सं० १३८०-१४४१) उनके गुरु स्वामी रामानन्द जी के जीवन-काल (सं० १३५६-१४६७)[1] की संगति में है।

पीपा जी अपने गुरुभाई कबीर साहब के समकालीन थे। उनके जीते जी कबीर को बहुत प्रसिद्धि प्राप्त हो गयी थी। उन्होंने अपने पदों में स्वयं कबीर साहब की प्रशंसा की है[2], जिससे इस बात की पुष्टि होती है। वैसे प्रतीत होता है कि पीपा जी अवस्था में कबीर से बड़े थे। 'बीजक' ग्रन्थ के कबीर साहब के एक पद में आए हुए प्रसंग 'ब्रह्मा, वरुण, कुबेर, इन्द्र, पीपा तथा प्रह्लाद सभी कालग्रस्त हो गये'[3] से विदित होता है कि पीपा जी की मृत्यु उनसे पहले अवश्य हो चुकी थी। उक्त पौराणिक भक्तों के साथ उनके गिने जाने के कारण उनका काफी पहले ही मर जाना समझा जा सकता है। सभी बातों को दृष्टि में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि कबीर साहब का समय भी ऐसा होना चाहिए, जो पीपा जी और स्वामी रामानन्द के समय की संगति में हो। अनेक विद्वानों ने इस सम्बन्ध में विचार कर अपने भिन्न-भिन्न मंतव्य स्थिर किये हैं, किन्तु इनमें से एक विद्वान् डा० रामप्रसाद त्रिपाठी ने इस सम्बन्ध में अपना जो विचार व्यक्त किया है, वह सभी प्रकार से युक्तियुक्त और उपयुक्त है। वे अपने एक निबन्ध 'कबीर जी का समय'[4] में लगभग सभी बातों की आलोचना करने के उपरान्त इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि यह समय विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी के आगे जाता हुआ नहीं जान पड़ता। उन्होंने सं० १४१७ से सं० १५५१ तक के समय को राजनैतिक और धार्मिक क्रान्ति का समय बतलाया है और लिखा है कि "कबीर साहब जैसे प्रबल प्रचारक और उनके जैसे प्रबल प्रचार के लिए यही समय सबसे उपयुक्त था।" डा० त्रिपाठी के परिणाम के आधार पर और सभी बातों को ध्यान में रखते हुए कबीर साहब का समय मेरे विचारानुसार लगभग सं० १४०० से लेकर सं० १५०५ के आसपास तक माना जाना चाहिए। इस प्रकार आयु-काल १००

---

१. स्वामी रामानन्द जी का यही समय प्रामाणिक ठहरता है।

२. दे० सुपथगा-संत पीपा जी विशेषांक (अप्रैल-जून १९६८) में प्रकाशित पीपा जी की वाणी, पद १ तथा पद १५। पद १ 'आदि ग्रन्थ' में रैदास जी के नाम से और रज्जब जी की 'सर्वांगी' में पीपा जी के नाम से मिलता है। (आदि ग्रन्थ, राग मलार, पद २ तथा सर्वांगी, भजन प्रताप, पद २२)।

३. बीजक, शब्द ८६। उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृ० ८६४ पर उद्धृत।

४. हिन्दुस्तानी, भाग २, अंक-२, पृ० २०४-१५ तक।

वर्ष के लगभग बैठेगा। कबीर-साहब का यही समय अधिकाधिक ऐतिहासिक एवं अन्य संगतियों में आता है। कबीर का यह समय स्वीकार कर लेने पर पीपा जी और उनकी समकालीनता न मानने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। अत: इस लेख में पीपा जी का जो समय स्वीकार किया गया है, वही सब प्रकार से उपयुक्त है।

पुनश्च : मेरे इस लेख की प्रतिक्रिया में डा० पूरन सहगल 'मधु' का 'सन्त पीपा काल -- एक निष्कर्ष' नामक लेख ब्रजभारती, वर्ष २६, अंक २ (भाद्रपद सं० २०३२ वि०) में प्रकाशित हुआ था। उक्त लेख में मेरे द्वारा माने गये पीपा जी के समय (सं० १३८०-१४४१) को अमान्य करते हुए डा० मधु ने अपने विचारानुसार पीपा जी का काल सं० १४१६-१४७७ वि० को उचित ठहराया है, किन्तु पीपा जी का यह काल मुझे मान्य नहीं है, क्योंकि वह संगतिमूलक नहीं है और ऐतिहासिक काल-क्रम में भी नहीं है। कारण यह है कि डा० मधु ने इस काल के समर्थन में जो प्रमाण अपने लेख में दिये हैं, उनमें अनेक विसंगतियाँ हैं और उनका कोई मेलजोल पूर्वापर दृष्टि से नहीं है। यदि प्रत्येक विसंगति को लेकर लिखा जाए, तो लेख को काफी विस्तार देना होगा, जबकि उनका समाधान मेरे लेख में पहले से ही संक्षिप्त रूप में विद्यमान है। साथ ही वे कुछ पूर्वाग्रहों से स्वयं भ्रमित हैं। इसीलिए उनकी स्थापना भी भ्रममूलक एवं गलत है। उन्होंने मेरे लेख को भी ध्यान से नहीं पढ़ा। यदि लेख पर उचित ध्यान दिया गया होता, तो अपना लेख लिखने से पूर्व उन्हें कुछ सोचना-समझना पड़ता और तब वे सही दिशा को ग्रहण करते। वास्तव में त्वरा का प्रतिफल ही प्रस्तुत लेख का कारण है। उनके लेख-प्रकाशन के तुरन्त बाद मैंने लेख की विसंगतियों को इंगित करते हुए उन्हें एक पत्र विस्तार से लिखा था। उसमें समय-सम्बन्धी अपनी स्थापना को पुष्ट करते हुए, उनसे उनके द्वारा दिये गये प्रमाणों के सम्बन्ध में कुछ स्पष्टीकरण भी चाहा था, किन्तु खेद है, फिर इस सम्बन्ध में उनका कोई उत्तर प्राप्त नहीं हुआ, जबकि उन्हें उत्तर देने हेतु स्मरण-पत्र भी लिखा गया था। ऐसी स्थिति में क्या समझा जाए ? अस्तु !

डा० मधु के लेख की सबसे बड़ी कमी यह है कि इसमें पीपा जी के गुरु स्वामी रामानन्द के समय पर कुछ भी विचार नहीं किया गया है, जबकि यह आवश्यक था। रामानन्द जी के समय की संगति में ही पीपा तथा कबीर, रैदास आदि अन्य शिष्यों का समय निर्धारित किया जाना उचित है, क्योंकि ये सब परस्पर सम्बद्ध हैं। अत: सभी पूर्वापर स्थितियों को ध्यान में रखकर ही किसी संगतिमूलक निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है और इन सबका अभाव उक्त लेख में है। डा० मधु ने 'जितेन्द्रिय' शब्द को भी जिस रूप में लिया है, वह भी सार्थक नहीं है। यह भी त्वरा पठन का ही परिणाम है, क्योंकि मेरे लेख में ऐसा कोई उल्लेख नहीं है। मैंने अपने लेख में राज्य-त्याग के समय पीपा जी की आयु अधिक से अधिक ४० वर्ष के लगभग मानी है और उनकी जीवनावधि कुल ६१ वर्ष मानी है, जो डा० मधु को भी स्वीकार है। पीपा जी का वंशवृक्ष भी अशुद्ध रूप में दिया गया है।

कहने का तात्पर्य यह है कि डा० मधु का लेख किसी सही निष्कर्ष की ओर ले

जाने की बजाय भ्रम को ही बढ़ाता है, अत: सब प्रकार से अग्राह्य है।

मेरे द्वारा निर्धारित-स्थापित पीपा जी का समय (सं० १३८०-१४४१वि०) ही उनके गुरु स्वामी रामानन्द जी के काल (सं० १३५६-१४६७ वि०) तथा उनके गुरुभाई कबीर (सं० १४००-१५०५ वि०), रैदास (सं० १४१५-१५१५ वि०) आदि के समयों की संगति में है, क्योंकि ये सब आपस में एक-दूसरे के समकालीन हैं।

१.७ 'प्राकृत-पैंगलम्' के हम्मीर-विषयक छन्द और कवि शाङ्र्गधर

शिवसिंह सेंगर के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'शिवसिंह सरोज'[१] डा० ग्रियर्सन के इतिहास-ग्रन्थ 'द माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान'[२], 'मिश्रबन्धु विनोद'[३] तथा अन्यान्य हिन्दी साहित्य के इतिहासों में 'शारंगधर कवि' का परिचय 'हम्मीररायसा' एवं 'हम्मीरकाव्य' के रचयिता के रूप में दिया गया है और इन्हें रणथम्भौर के नरेश परमवीर हम्मीर देव चौहान के समकालीन होना लिखा गया है। साथ ही अन्य भ्रान्तिपूर्ण तथ्यों का उल्लेख भी उनके विवरणान्तर्गत किया गया है, जिनका निराकरण लगभग हो ही चुका है[४] और यह सिद्ध हो चुका है कि शारंगधर हम्मीर देव के समकालीन नहीं थे, क्योंकि उन्होंने स्वयं अपने संस्कृत-ग्रन्थ 'शारंगधर-पद्धति' (जो उनके द्वारा संकलित एक सुभाषित संग्रह है) में उसका रचना-संवत् १४२० वि० दिया है। इसमें कवि ने अपना परिचय भी दिया है, जिसके अनुसार रणथम्भौर के राजा हम्मीर देव के प्रधान सभासदों में एक राघव देव थे। इनके तीन पुत्र – गोपाल, दामोदर और देवदास थे। इनमें से दामोदर के तीन पुत्र हुए – शारंगधर, लक्ष्मीधर और कृष्ण। इनमें के 'शारंगधर' ही हम्मीर देव के दरबारी सभासद राघव देव के पौत्र (हम्मीर भूपति चौहान राज्य सभा सदस्य राघव नाम्न: पौत्र:) और दामोदर के पुत्र (दामोदर सूनु) हैं। इस सुभाषित-संग्रह के अतिरिक्त इनका संस्कृत में ही रचित एक वैद्यक ग्रन्थ 'शारंगधर-संहिता' प्रसिद्ध है ही। इनके नाम पर एक 'छन्दोमाला' रचना का भी उल्लेख मिलता है।

उपर्युक्त उल्लिखित रचनाओं में से 'हम्मीर-काव्य' तो सम्भवत: संस्कृत की रचना प्रतीत होती है[५], यद्यपि इसका भी कुछ पता नहीं चलता और 'हम्मीर रासो' के विषय में

---

१. दे० – कवि सं० ६३२, पृ० ८१५ (सम्मेलन-संस्करण)कवि सं० २१७ चंद कवि के परिचय में भी शारंगधर का उल्लेख किया गया है। दे० – वही, पृ० ६६१।

२. दे० – हिन्दी-साहित्य का प्रथम इतिहास (डा० किशोरीलाल गुप्त) कवि सं० ८, पृ० ६६-६७

३. दे० – कवि सं० १८, पृ० ६५, २०७-०८ (द्वि०सं०)।

४. दे० – सरोज सर्वेक्षण, पृ० २७२, ७८४।

५. 'हम्मीरचरित' नामक एक ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है। इसका उल्लेख डा० ग्रियर्सन ने भी अपने 'इतिहास' में किया है और इसकी प्रति रायल एशियाटिक सोसाइटी के पुस्तकालय के 'टाड-संग्रह' में (ग्रंथांक ४२) होना लिखा है (पृ० ६७) किन्तु आज तक किसी ने इसे देखने तक का कष्ट नहीं उठाया, अध्ययन कर यह निर्णय करने, कि यह किसकी रचना है, की तो बात अलग रही। इसका अध्ययन कर रचयिता का पता लगाया जाना आवश्यक है, जिससे यह ज्ञात हो सके कि इसका रचयिता कौन है और यह किस भाषा का ग्रन्थ है।

परम्परा से यह जनश्रुति प्रसिद्ध रही है कि शारंगधर ने 'हम्मीर-रासो' नामक 'रासो-परम्परा' में एक वीर काव्य की लोकभाषा में रचना की थी। यद्यपि यह भी संप्रति अप्राप्य है, किन्तु 'प्राकृत-पैंगलम्' में हम्मीर के शौर्य-विषयक कुछ छन्दों को देखकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का विश्वास था कि ये छन्द शारंगधर के प्रसिद्ध 'हम्मीर रासो' के ही हैं।[१] उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध इतिहास-ग्रन्थ में, उनमें से तीन छन्दों को उद्धृत किया है और इनकी भाषा के अपभ्रंश के अधिक निकट होने के कारण इनका अर्थ भी दे दिया है।

शुक्ल जी को यह निश्चय (विश्वास) क्यों और कैसे हुआ, यद्यपि इस सम्बन्ध में उन्होंने कोई कारण (प्रमाण) नहीं दिया है, किन्तु फिर भी इस विश्वास के पीछे एक परोक्ष-क्षीण सूत्र जान पड़ता है, जिसके आधार पर शुक्ल जी ने ऐसा निश्चयात्मक अनुमान किया।

'प्राकृत-पैंगलम्' में हम्मीर-विषयक केवल आठ छन्द हैं[२], जिनमें हम्मीर के युद्ध-प्रयाण, शौर्य, बलिदान आदि का वर्णन हुआ है और ये छन्द किसी एक ही रचना से लिये गये प्रतीत होते हैं, क्योंकि इनमें परस्पर कोई प्रसंगावृत्ति नहीं मिलती; अर्थात् ये प्रसंग-सापेक्ष्य हैं। इसीलिए ये सारे छन्द किसी प्रबन्ध-काव्य के ज्ञात होते हैं। इन छन्दों के 'वृत्त' भी पृथक्-पृथक् आठ हैं। इस प्रकार का छन्द-वैविध्य मुक्तक काव्य-रूपों में नहीं होता है और मुक्तकों की तरह ये छन्द सर्वथा स्वतन्त्र भी नहीं हैं। ऐसा छन्द-वैविध्य प्राचीन हिन्दी की रचनाओं में 'रासो' काव्य-रूप में ही पाया जाता है। इसलिए यह रचना 'रासो-परम्परा' की ज्ञात होती है और इसमें हम्मीर की जीवन-कथा रही होगी। अत: निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि हम्मीर-सम्बन्धी कोई रचना थी, जिसमें अनेक प्रकार के छन्द प्रयुक्त थे। इसलिए यह कहा जा सकता है कि यह रचना 'रासो-परम्परा' की ही रही होगी और किसी कारणवश जिसकी प्रति अभी तक उपलब्ध नहीं हो पायी।

'पैंगलम्' के उक्त छन्द एक ही हम्मीर के विषय में हैं और वह हम्मीर इतिहास-प्रसिद्ध वीर, रणथंभौर-नरेश हम्मीर ही हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। रणथंभौर के हम्मीर अत्यन्त प्रतापी और यशस्वी राजा हुए हैं। यह सर्वविदित तथा प्रामाणिक इतिहासों से ज्ञात है कि इस हम्मीर ने शरणागत की रक्षार्थ दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन खिलजी से बैर मोल लेकर घोर संग्राम करते हुए प्राण-विसर्जन किये थे और वीर स्त्रियों ने जौहर का वरण किया था। यह भयंकर युद्ध १३०१ ई० (१३५८ वि०)में हुआ था। सर्वत्यागी इस हम्मीर के समान इतिहास में अन्य कोई हम्मीर ऐसे शौर्य तथा परार्थ बलिदान के लिए प्रसिद्ध नहीं है। उक्त छन्दों में उन्हीं हम्मीर की युद्ध-यात्रा एवं शौर्य-प्रसंगों का कवि ने अतिशयोक्ति आदि के सहारे काव्यबद्ध रूढ़ि से वर्णन किया है।

'प्राकृत-पैंगलम्' के विद्वान् सम्पादक श्री चन्द्रमोहन घोष ने इन छन्दों को हम्मीर के समय का माना है, किन्तु इनकी भाषा ऐसी है कि रचना हम्मीर के समय के कुछ बाद की होनी चाहिए; अर्थात् ये छन्द हम्मीर की समकालीन रचना नहीं है। शारंगधर भी

१. दे० हिन्दी साहित्य का इतिहास (बारहवाँ सं०), पृष्ठ ७ (प्र०सं० का वक्तव्य) तथा पृ०२४

२. मात्रावृत्त ७१, ९२, १०६, १४७, १५१, १८३, १९०, २०४।

हम्मीर के समकालीन नहीं थे। उनका समय भी बाद का ही ठहरता है। उनके पितामह राघवदेव हम्मीर के सभासद एवं कृपापात्र थे। अतः यह सम्भव प्रतीत होता है कि हम्मीर-सम्बन्धी किसी कृति का निर्माण शारंगधर ने किया हो और उस कृति का नाम 'हम्मीर रासो' रखा हो, क्योंकि राघवदेव जी (पितामह) के नाते इस परिवार के अन्य सदस्यों (यथा - पुत्र, पौत्र आदि) का सम्बन्ध भी हम्मीर के राजवंश से अवश्य रहा होगा और इस प्रकार शारंगधर ने अपने पितामह एवं पिता से हम्मीर के पराक्रम, बलिदान आदि की गाथाएँ अवश्य ही सुनी होंगी और उनसे प्रभावित एवं उत्प्रेरित होकर उसने 'हम्मीर रासो' नामक किसी रचना का प्रणयन किया हो, तो इसमें आश्चर्य क्या ! अतः ऐसा विश्वास कर लेने में कोई असंगति भी प्रतीत नहीं होती। शुक्ल जी के निश्चय का सूत्र यह राजवंश से पारिवारिक सम्बन्ध ही प्रतीत होता है। छन्दों के आधार पर रचना उत्तरकालीन साहित्यिक अपभ्रंश की कही जा सकती है। ये छन्द 'प्राकृत-पैंगलम्' में उदाहरणों के रूप में उद्धृत किये गये हैं। इसलिये रचना सम्मानित रही होगी, यह भी जान पड़ता है।

यहीं यह बात भी ध्यातव्य है कि शारंगधर-कृत 'शारंगधर-पद्धति', जो सुभाषित-ग्रन्थ है और जिसमें ४६९० के लगभग पद्य हैं, में कुछ पद्य इनके और कुछ पद्य अन्य कवियों के हैं। इसमें भी हम्मीर-विषयक कुछ श्लोक हैं। इसलिए यदि इस ग्रन्थ का गम्भीरता से अनुशीलन किया जाए, तो सम्भव है कोई सूत्र हाथ लगे और इस समस्या का समाधान सम्भव हो जाए। वैसे अभी तक इनके नाम-छाप से युक्त कोई हिन्दी रचना सुलभ नहीं है।

'प्राकृत-पैंगलम्' के हम्मीर-सम्बन्धी ये छन्द राहुल जी की 'हिन्दी-काव्य-धारा' में तो प्रकाशित हुए ही हैं[1], साथ ही ये छन्द बीकानेर से प्रकाशित 'हम्मीरायण' नामक ग्रन्थ में भी प्रकाशित हुए हैं।[2]

'प्राकृत-पैंगलम्' के इन छन्दों का रचयिता कौन है, यह स्पष्ट नहीं है, क्योंकि इनमें किसी कवि की नाम-छाप नहीं है। इनमें से दो छन्दों में - 'जज्जल' का नाम आता है। इस आधार पर पंडित राहुल सांकृत्यायन ने उन्हें जज्जलकृत माना है[3], किन्तु यह भ्रममात्र है। प्रतीत होता है कि उक्त दो छन्दों में 'जज्जल-भणइ' (जज्जल कहता है) देखकर और 'प्राकृत-पैंगलम्' की टीकाओं के 'जज्जलस्य उक्तिरियम्' अर्थात् यह जज्जल की उक्ति है, से भ्रान्त होकर राहुल जी ने इन्हें जज्जलकृत मान लिया है। वास्तव में यह कवि द्वारा निबद्ध पात्र जज्जल की उक्ति है, क्योंकि जिन छन्दों में 'जज्जल' नाम आया है, उनमें वह एक वीर योद्धा के रूप में स्वामी के कार्यार्थ अपने को उत्सर्ग करने जा रहा है। अतः उक्त छन्दों को किसी भी प्रकार जज्जलकृत नहीं माना जा सकता।

'जज्जल' भी चौहान था और वह रणथंभौर-नरेश हम्मीर का अत्यन्त स्वामीभक्त

---

१. दे० पृ० ४५२।
२. सार्दूल राजस्थानी रिसर्च इंस्टीट्यूट, बीकानेर द्वारा प्रकाशित।
३. दे० हिन्दी काव्यधारा, पृ० ४५२

वीर था। नय चन्द्र सूरि कृत 'हम्मीर महाकाव्य' नामक संस्कृत-ग्रन्थ में 'जज्जल' का उल्लेख जाज, जाजदेव और चाहमान जाजा के रूप में हुआ है[1] और वह राजा हम्मीर की मन्त्रि-परिषद् के अष्ट प्रमुख पार्षदों में से एक है (१०।३३-३४)। प्रसिद्ध मैथिल कवि विद्यापति ने अपने 'पुरुष-परीक्षा' नामक ग्रन्थ में दयावीर के उदाहरण में 'रणस्तम्भ-दुर्गाधिपति हम्मीर देव' की कथा का वर्णन करते हुए हम्मीर के साथी योद्धाओं में 'जाजम' का नामोल्लेख किया है।[2] यह 'जाजम' जाज और जज्जल का ही एक रूप है।[3] 'पैंगलम्' के एक छन्द में भी जज्जल को हम्मीर का 'मन्त्रिवर' कहा गया है - 'पुर जज्जला मंतिवर, चलिअ वीर हम्मीर'। उक्त छन्द के 'मन्त्रिवर' के स्थान पर 'मल्लवर' पाठान्तर के आधार पर कुछ विद्वानों का जज्जल को 'मंत्रिवर' के स्थान पर केवल एक 'योद्धा' मात्र ही मानने का आग्रह है।[4] किन्तु यह ध्यान रहे कि तत्कालीन समय में मन्त्री आदि सभी योद्धा भी होते थे और युद्ध में भाग लेते थे। एक प्रकार से मन्त्री भी 'सेनापति' (योद्धा) होता था एवं सेनापति भी 'मन्त्री' और इस रूप में वह अधिपति का सेवक भी होता था। वास्तव में वह दोनों था, जैसा कि हम्मीर की 'मन्त्रि-परिषद्' के अष्ट-पार्षदों में उसका भी एक सदस्य के रूप में उल्लेख हुआ है। अत: यह कोई विशेष महत्त्व की बात नहीं है कि वह केवल 'मन्त्रिवर' था या 'मल्लवर'।

अब प्रश्न यह है कि 'हम्मीर' विषयक उक्त छन्दों की रचना कब हुई ? इन छन्दों से ऐसा भी कुछ प्रकट नहीं होता, जिससे यह निश्चयपूर्वक कहा जा सके कि इनकी रचना हम्मीर के समय में ही हुई होगी। अत: इनकी रचना का काल-निर्धारण 'प्राकृत-पैंगलम्' के संकलन-काल-निर्धारण के आधार से ही किया जा सकता है, क्योंकि 'पैंगलम्' में संकलन-काल का कोई उल्लेख नहीं है।

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं तथा उनके विकसित, नव्य भारतीय आर्यभाषाओं के अध्ययन की दृष्टि से 'प्राकृत-पैंगलम्' का स्थान अन्यतम है। यों कहने को तो यह प्राकृत का पिंगल ग्रन्थ ही है, किन्तु एक प्रकार से यह आदिकालीन हिन्दी का छन्द:शास्त्र है। वास्तव में यह हिन्दी का प्रथम पिंगल-ग्रन्थ ही है। अत: इसका महत्त्व निर्विवाद है।

इस ग्रन्थ के तीन संस्करण अब तक विभिन्न स्थानों से प्रकाशित हुए हैं - १. 'प्राकृत-पिंगल-सूत्राणि' नाम से निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई द्वारा प्रकाशित संस्करण। २. श्री चन्द्रमोहन घोष द्वारा सम्पादित 'प्राकृत-पैंगलम्' के नाम से बंगाल एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता से प्रकाशित संस्करण। तथा ३. डा० भोलाशंकर व्यास द्वारा सम्पादित

---

१. (१०। ३८,१३। १६१, १४। १६, १४। १८) दे० – नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग-१३, पृ० २६८, ३१५ (सं० १६८६)

२. दे० – वही, पृ० ३२६-३२८

३. कैम्ब्रिज हिस्ट्री के लेखक ने रणथंभौर के हम्मीर का वर्णन करते हुए हम्मीर-वीरों में जजर, गंगाधर और क्षेत्रसिंह पँवार का नामोल्लेख किया है। (दे० के०हि० भाग-३, पृ० ५१९०) इसमें 'जजर' जज्जल का ही फारसी रूपान्तर प्रतीत होता है।

४. दे० – नयी धारा, फाल्गुन, २०१० वि०, पृ० ५०-५१। डा० माताप्रसाद गुप्त भी इसी मत के समर्थक हैं। दे० – रासो-साहित्य-विमर्श, पृ० ६६-७०

एवं प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी, वाराणसी से प्रकाशित नवीन संस्करण (दो खण्डों में)। संस्करण उपयोगी है।

इस ग्रन्थ के अध्ययन के आधार पर यह निश्चित है कि मैथिल पृष्ठभूमि से सम्बद्ध 'हरिबंभ' (हरिहर मिश्र) इसके रचयिता (संग्राहक) हैं। इस ग्रन्थ में 'हम्मीर के कुछ परवर्ती चण्डेश्वर मन्त्री' की प्रशस्ति विषयक दो छन्द हैं – (१।५३; १। १०८।), जिनमें से एक में 'हरिबंभ' की नाम-छाप है और दूसरा छाप-रहित है। ये चण्डेश्वर (मन्त्री देवादित्य के पौत्र) मिथिला के राजा हरिसिंह देव (शासनकाल सं० १३५२-८२ वि०) के मन्त्री थे।[१] राजा हरिसिंह देव सं० १३८२ में दिल्ली-सुलतान गयासुद्दीन तुगलक से हारकर नेपाल की तराई में चले गए थे।[२] हरिबंभ का जन्मकाल सं० १३७० वि० से पूर्व का नहीं हो सकता, क्योंकि वह सं० १४६० वि० में अत्यन्त वृद्धावस्था में राजा कीर्तिसिंह के धर्माधिकारी थे।[३] अतः प्रतीत होता है कि हरिबंभ ने चण्डेश्वर मन्त्री से सम्बद्ध उक्त छन्द सं० १३६० के आस-पास या और भी बाद में लिखे होंगे और सं० १४२०-२५ के लगभग 'प्राकृत-पैंगलम्' का संकलन किया होगा। इस प्रकार उक्त हम्मीर विषयक छन्दों की रचना सं० १४२०-२५ के बाद की नहीं होनी चाहिए और यही समय शारंगधर का भी है। अतः उनके द्वारा इस काल में हम्मीर विषयक छन्दों का रचा जाना बहुत सम्भव है।

---

१. चण्डेश्वर ठाकुर ने अपने 'कृत्य चिन्तामणि' ग्रन्थ में देवादित्य, जो मिथिला-नरेश हरिसिंह देव के मन्त्री थे, के लिए 'हम्बीर ध्वान्त भानुः' विरुद का प्रयोग किया है, किन्तु इस सम्बन्ध में विवाद है। कुछ विद्वानों का विचार है कि हरि सिंह देव के राज्य-काल के प्रारम्भिक वर्षों में, जबकि वे अल्पवयस्क थे, रणथंभौर का युद्ध होने पर उनके मन्त्री देवादित्य ने रणथंभौर-नरेश हम्मीर देव के विरुद्ध अलाउद्दीन खिलजी की सहायता की थी और इस सहायता से प्रसन्न होकर बादशाह ने उन्हें 'मन्त्रिरत्नाकर' की उपाधि दी थी। इसीलिए चण्डेश्वर ने देवादित्य को 'हम्मीर ध्वान्त भानुः' कहा है, किन्तु इस सहायता के समर्थन में कोई पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं है, यह जानश्रुतिक अनुमान मात्र है।

मेरे विचारानुसार इस 'विरुद' में आया हुआ 'हम्बीर' 'अमीर' का संस्कृतायित रूप है, जो मुसलमान शासकों के लिए प्रयुक्त होता रहा है। हरिसिंह देव के शासनकाल के आरम्भ में भी पड़ोसी मुसलमान शासकों से संघर्ष हुआ था। उस समय उसके मन्त्रियों ने उन्हें पराजित कर राज्य की रक्षा की थी। अतः यह सम्भव है कि तभी राजा हरिसिंह देव ने अपने ज्येष्ठ मन्त्री देवादित्य को उक्त विरुद से सम्मानित किया हो। चण्डेश्वरकृत 'दानरत्नाकर' से पता चलता है कि उस समय सम्पूर्ण मिथिला म्लेच्छों से पट गयी थी, तब उसका उद्धार किया गया था। (दे० – दानरत्नाकर, अन्तिम पद- 'मग्ना म्लेच्छामहार्णवे येनोद्धृता लीलया।') 'कृत्य रत्नाकर' में भी शत्रुओं को पराजित करने का उल्लेख हुआ है। दे० – श्लोक ४।

२. गयासुद्दीन तुगलक ने तिरहुत-विजय-हेतु ७२४ हि० (१३२४-२५ ई०) में मिथिला पर चढ़ाई की थी (दे० तुगलककालीन भारत, भाग १, पृ० ६०, डा० ए०ए० रिजवी, अलीगढ़) हरिसिंह देवके सम्बन्ध में मिथिला में जो परम्परागत श्लोक मिलता है और जिसके अनुसार शक संवत् १२४५ ज्ञात होता है, वह भ्रामक है। गणना की दृष्टि से भी और ऐतिहासिक दृष्टि से भी। सही तिथि शक-संवत् १२४७-पौष शुक्ल ६ शनिवार (१४ दिसम्बर, १३२५ ई०) है, जब हरिसिंह देव को राजधानी छोड़कर नेपाल में रहने को बाध्य होना पड़ा था।

३. कवि विद्यापति ने 'कीर्तिलता' के तृतीय पल्लव में उनके धर्माधिकारी होने का उल्लेख किया है। दे० – बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्-संस्करण, छन्द सं० २७, पृ० ११७।

भाषा का साक्ष्य भी इस काल का समर्थन करता है। अभी तक हम्मीर के सम्बन्ध में प्राप्त सबसे प्राचीन कृति सं० १४६० के लगभग नयचन्द्र सूरि द्वारा रचित 'हम्मीर-महाकाव्य' है, जो संस्कृत में है। उक्त छन्द निश्चय ही उसके पूर्व रचे गये प्रतीत होते हैं, इसलिए इनका महत्त्व अत्यधिक है। हम्मीर-महाकाव्य का प्रकाशन राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर से भी हुआ है।[१] इस संस्करण में सं० १४८६ वि० (सन् १४२६) की एक महत्त्वपूर्ण प्रति का प्रयोग हुआ है, जो ज्ञात प्रतियों में सबसे प्राचीन प्रति है।

१.८ सन्त रैदास जी का समय

सन्त-समाज में सन्त रैदासजी[२] का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनकी गणना स्वामी रामानन्द के प्रसिद्ध बारह शिष्यों में की जाती है।[३] नाभाजी ने इस बात का उल्लेख अपनी भक्तमाल में किया है[४] और उन्होंने इनके विषय में एक स्वतन्त्र छप्पय भी लिखा है[५], जिसमें इनकी भक्ति की तथा 'बानी' की मुक्त कंठ से प्रशंसा की गई है। रामानन्द जी के द्वादश शिष्यों में सन्त कबीर के बाद सन्त पीपा के समान ही इनका साहित्यिक वर्चस्व भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इनकी 'बानी' सन्त-साहित्य में अपना विशेष स्थान रखती है।

रैदासजी के समय के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। उन्होंने अपने-अपने विचारानुसार इनका समय निश्चित करने की चेष्टा अवश्य की है, किन्तु उनमें संगतिमूलकता का अभाव है। अत: यह विषय विचारणीय तो है ही।

रैदासजी के समय-निर्धारण के लिए कोई ऐसी निर्णयात्मक प्रामाणिक सामग्री प्राप्त नहीं है, जिसके द्वारा कोई निश्चित उल्लेख किया जा सके, इसीलिए इनके समय के सम्बन्ध में कोई निश्चित निर्णय नहीं लिया जा सकता। समस्त उपलब्ध सामग्री के आधार पर केवल आनुमानिक समय का ही निर्धारण किया जा सकता है। हाँ, यह बात अवश्य है कि अनुमान जितना ही अधिक तर्कसंगत और स्वाभाविक होता है, उतना ही अधिक वह सत्य के निकट भी होता है।

किसी तथ्य-विषयक खोज के लिए दो ही प्रमुख साधन हैं – (१) अन्त:साक्ष्य और (२) बाह्य साक्ष्य। बाह्य साक्ष्य की अपेक्षा अन्त:साक्ष्य महत्त्वपूर्ण होता है और बाह्य साक्ष्य में सम-सामयिक सामग्री अधिक प्रामाणिक एवं महत्त्वपूर्ण मानी जाती है।

१. इस महाकाव्य को सर्वप्रथम श्री नीलकण्ठ जनार्दन कीर्ति ने सं० १५४२ की लिखी प्रति के आधार पर १८८६ ई० में एजुकेशन सोसाइटी प्रेस, भायखल्या, बम्बई से प्रकाशित कराया था। यह संस्करण अब अति दुष्प्राप्य है। इस ग्रन्थ के बाद हम्मीर विषयक सं० १५३८ में कवि भांडव व्यास द्वारा रचित 'राय हम्मीर देव चौपाई' नामक राजस्थानी रचना मिलती है। इसका ही अन्य नाम 'हम्मीरायण' है। इसका प्रकाशन हो चुका है।

२. यद्यपि प्राप्य तथ्यों से इनका मूल नाम 'रविदास' ही प्रतीत होता है, किन्तु प्रस्तुत लेख में प्रचलित नाम 'रैदास' ही अपनाया गया है।

३. दे०- मेरा लेख 'स्वामी रामानन्द जी के द्वादश शिष्य' : शोध-पत्रिका, वर्ष १७,अंक ३

४. दे०- भक्तमाल, रूपकला संस्करण, छं० सं० ३६, पृ० २८२ (तृ०सं०)।

५. दे०- वही, छं०सं० ५६, पृ० ४७०

रैदासजी ने अपनी रचनाओं में कोई ऐसा उल्लेख नहीं किया है, जिसके आधार पर उनका प्रामाणिक रूप से समय निश्चित किया जा सके। उनके कतिपय पदों में कुछ सन्तों एवं भक्तों का प्रसंगोल्लेख अवश्य आता है, जिससे उनके समय के सम्बन्ध में कुछ अनुमान अवश्य किया जा सकता है। जिन सन्तों एवं भक्तों का उल्लेख उन्होंने अपनी रचनाओं में किया है, वे या तो उनके जीवन-कालमें ही प्रसिद्धि को प्राप्त कर चुके थे या स्वर्गवासी हो चुके थे। उनकी रचनाओं में निम्नलिखित सन्तों एवं भक्तों का नामोल्लेख प्राप्त होता है[1] –

नामदेव, त्रिलोचन, सधना, सेन, कबीर और पीपाजी।

इनमें से नामदेव, त्रिलोचन एवं सधना तो इनसे पूर्ववर्ती सन्त हैं और कबीर, सेन एवं पीपा – जनश्रुति, परम्परा तथा नाभाजी कृत भक्तमाल के आधार पर इनके गुरुभाई हैं।[2] सन्त कबीर ने स्वयं अपने एक पद में 'रैदास' का उल्लेख करते हुए उन्हें सन्तों में सन्त कहा है।[3] अतः इन दोनों सन्तों की समकालीनता स्वतः सिद्ध है। इसी प्रकार पीपाजी ने भी अपने एक पद में रैदास जी का उल्लेख किया है।[4] इसलिए ये भी सम-सामयिक हैं। सेन ने अपनी रचनाओं में किन सन्त-भक्तों का वर्णन किया है, यह अज्ञात है। सम्भव है, उन्होंने भी अपने पूर्ववर्ती एवं समकालीन कुछ सन्तों-भक्तों का उल्लेख अपनी रचनाओं में किया हो। अतः इस विषय में खोज की जानी चाहिए। सेन

---

१. (अ) नामदेव, कबीर, तिलोचन, सधना, सैन तरै।
– गुरु ग्रन्थ साहब, राग मारू पद १। उ० भा० की सन्त-परम्परा, पृ० २२६ पर उद्धृत (द्वि०सं०)।

(आ) ना कबीर के लच्छमी न कोई मेरे ठाठ।
धन्न पीपा जिन तज्जयो सगरो ठाठ अर बाट।।
– सुपथगा, वर्ष ६, अंक ४, अप्रैल १६७५, पृ० ६

२. कबीर और रैदास आपस में गुरु-भाई थे, इस तथ्य की पुष्टि सैनी कृत 'कबीर-रैदास-संवाद' नामक रचना से भी होती है। उसमें दोनों ने एक-दूसरे को गुरु-भाई कहा है – 'रैदास कहै जी – 'सुनो कबीर गुर भाई ।।३५।। कबीर कहै जी – 'हम तुम दोन्यूं गुर भाई'।।६४।। (दे० हिन्दुस्तानी, भाग ३०, अंक १-४, पृ० २०५, २०६)। डा० रामकुमार वर्मा तथा अन्य एक-दो विद्वानों ने इस संवाद को प्रसिद्ध भक्त सैन जी रचित माना है, किन्तु रचना के अध्ययन से ज्ञात होता है कि यह किसी कबीरपन्थी की रचना है, जिसे प्रसिद्ध सैन जी के नाम से प्रचारित कर दिया गया है। प्रसिद्ध भक्त सैनजी की रचना के रूप में इसका जो रचना-काल सं० १५०२ स्वीकार किया गया है, वह उचित नहीं है। यह भक्त सैन जी की रचना किसी प्रकार नहीं है। (दे०) हिन्दी सा०काआ० इतिहास, पृ० ३५१, द्वि०सं०, सन्त रविदास और उनका काव्य – स्वामी रामानन्द शास्त्री तथा वीरेन्द्र पाण्डेय, पृ० १६४, १६६, प्र०सं०)। विद्वानों ने सैनी, सैन और सैना को एक ही माना है।

३. साधुन में रैदास सन्त हैं, सुपच ऋषी सो मानिया।
हिन्दू तुर्क दुई दीन बने हैं, कछु नहीं पहचानिया।।
– कबीर-वाणी, पद सं० २, सन्त रविदास और उनका काव्य, पृ० १६० पर उद्धृत

४. जाके कुटुम्ब के ढेढ ढोवत फिरै। अजहूं बनारसी आस पासा।
खटक्रम सहत विप्र डंडवत करै। प्रगट नीदान रैदास दासा।।
–रज्जबजी की सर्वांगी, भजनप्रताप, पद २२।

द्वारा अपने एक पद में रामानन्द जी का[१] उल्लेख किये जाने के कारण ये उनके समकालीन ठहरते हैं। ये रामानन्द जी के समकालीन होने के कारण कबीर आदि के भी सम-सामयिक होते हैं।

रैदास जी की 'बानी' में प्राप्त कुछ उल्लेखों[२] से ऐसा ज्ञात होता है कि सेन भगत और सन्त कबीर उनके जीवन-काल में ही पर्याप्त प्रसिद्धि को प्राप्त होकर काल-कवलित हो गये थे। इससे सेन और कबीर की मृत्यु के बाद तक इनका जीवित रहना ज्ञात होता है।

धन्ना भगत ने जो कि परम्परा एवं भक्तमाल के अनुसार स्वामी रामानन्द के शिष्य थे और कबीर, रैदास-आदि के गुरु भाई थे,[३] अपने एक पद में रैदास जी को नामदेव, सेन नाई तथा कबीर साहब के समान ही माया का त्याग कर हरि-दर्शन पा चुकने वाला बतलाया है और यह भी कहा है कि उक्त सन्तों की कथाएँ सुनकर ही मुझ जाट के हृदय में भक्ति का भाव जाग्रत हुआ और मैं भी भगवान् के दर्शन कर सका।[४] धन्ना के इस कथन से ज्ञात होता है कि उक्त सन्त उनके समय तक पर्याप्त प्रसिद्धि को प्राप्त हो चुके थे, साथ ही ये इन सबसे छोटे और पीछे तक जीवित रहनेवाले प्रतीत होते हैं।

इन्हीं धन्ना भगत का उल्लेख उनकी चमत्कारिक घटना के साथ मीराँबाई ने अपनी रचनाओं में इस प्रकार किया है, जैसे वे कोई एक बहुत ही सिद्ध अथवा पौराणिक महापुरुष रहे हों।[५] मीराँ के धन्ना भगत का इस भाव से उल्लेख करने का तात्पर्य विद्वानों ने यह निकाला है कि वे मीराँ के समय (१५६१-१६१३ के लगभग)

---

१. **रामा भगति रामानन्दु जानै।**
पूरन परमानन्दु बखानै॥ – गुरु गन्थ साहब, राग धनासरी, पद १

२. (अ) **नामदेव, कबीर, तिलोचन, सधना, सैन तरै।**
– गु०ग्र०सा० राग मारू, पद १

(आ) **निरगुन को गुन देखौ आई, देही सहित कबीर सिधाई।**
– रैदास जी की बानी, पृ० ३३।

३. दे० भक्तमाल, रूपकला-संस्करण, छं०सं० ३६, पृ० २८२

४. बुनना तनना तिआगिकै प्रति चरन कबीरा।
नीच कुला जोलाहरा भइउ गुनी जग हीरा ॥१॥
रविदास ढुंवता ढोरनी तितिनी तिआगी माइआ।
परगटु होआ साध संगि हरि दरसनु पाइआ ॥२॥
सैनु नाई बुतकारिआ उहु घरि घरि सुनिआ।
हिरदै बसिआ पार ब्रह्म भगता महि गनिआ ॥३॥
इहि बिधि सुनि कै जाटरौ उठि भगती लागा।
मिलै प्रतषि गुसांइआ धना बड़ भागा ॥४॥
– गु०ग्र०सा०, राग आसा, पद २, पृ० ४८७-८।

५. 'दास धना को खेत निपजायो, गज की टेर सुनन्द।' पद १३७, पृ० ४८।
- मीराँबाई की पदावली, हि०सा० सं०, प्रयाग।

में जीवित नहीं थे तथा दिवंगत हो चुके थे।[१]

मीराँबाई ने रैदास जी का नाम भी बड़े सम्मान से अपने गुरु के रूप में लिया है।[२] इसीलिए अधिकांश विद्वान् रैदास जी को मीराँ का गुरु स्वीकार करते हैं और इन दोनों की समकालीनता में विश्वास करते हैं। किन्तु कुछ विद्वान् ऐसे भी हैं, जो पूर्वापर का ध्यान रखते हुए रैदास-मीराँ के गुरु-सम्बन्ध तथा उनकी समकालीनता में सन्देह करते हैं। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी का विचार है कि वह रैदास, जिनके विषय में मीराँ ने गुरु-भाव से पद कहे हैं, मूल रैदास न होकर रैदासी-सम्प्रदाय के ही कोई अन्य महापुरुष रहे होंगे। उनका अनुमान है कि यह महापुरुष भक्तमाल में वर्णित 'बीठल दास' रैदासी हो सकते हैं।[३] आचार्य जी का यह विचार पुष्ट प्रमाणाभाव में केवल अनुमानाश्रित ही है।

रैदास-मीराँ के गुरु-शिष्य सम्बन्ध को लेकर रैदास के समय-निर्धारण में बड़ी खींचतान हुई है। इसके आधार पर रैदास जी की समय-स्थिति के दो छोर सामने आते हैं – प्रथम तो रैदास का रामानन्द का शिष्यत्व अर्थात् रामानन्द के समय में रैदास का विद्यमान (समकालीन) होना और द्वितीय, उनका मीराँ का गुरु होना। इस कारण इस पर्याप्त लम्बे समय में रैदास का काल निश्चित करना एक कठिन समस्या बनी रही है। किन्तु इधर –

सौभाग्य से बम्बई के के०सी०कालेज के हिन्दी-विभागाध्यक्ष डा० प्रभात के (जिन्होंने मीराँबाई पर शोध-कार्य सम्पन्न किया है) नवीनतम अनुसन्धानों से यह सिद्ध हो गया है कि मीराँ, रैदास जी की शिष्या नहीं थी।[४] मीराँ-छाप के जिन पदों में रैदास जी का उल्लेख गुरु के रूप में हुआ है, उन पद अथवा पदों का पूर्णतया अभाव मीराँ की प्रामाणिक रचनाओं में है अर्थात् वे सब प्रक्षिप्त हैं। डा० प्रभात के अनुसार – 'रैदास मीराँ के गुरु थे' इस बात का प्रचार तीन जनश्रुतियों की परम्पराओं के मिलने से हुआ है। इस सम्बन्ध में वे तीन जनश्रुतियाँ निम्नांकित हैं, जिनके मिश्रण से इस बात की प्रसिद्धि हुई[५] –

---

१. उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, आ० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २४२, ८६५ (द्वि०सं०)

२. (अ) 'रैदासजी संत मिलै मोहि सत गुरु, दीन्ही सुरत सहदानी', मीराँबाई की पदावली, पद १५६, पृ० ५५

(आ) 'गुरु मिलिया रैदास जी दीन्ही ग्यान की गुटकी', वही, पद २४, पृ० १०। इनके अतिरिक्त मीराँ के कई और पदों में भी रैदास जी का गुरु रूप में उल्लेख प्राप्त होता है।

३. दे० उ० भा० की सन्त-परम्परा, पृ० २४२।

४. दे० मीराँबाई (शोध-प्रबन्ध), पृ० १६६ से १८४ तक। प्र० हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई (प्र०सं०)

५. दे० वही, पृ० १७८-१८०। चित्तौड़ के किले में राणा कुम्भा द्वारा निर्मित कुम्भ श्याम के मन्दिर के पास मीराँबाई के मन्दिर के होने से यह भ्रम फैला कि 'मीराँ राणा कुम्भा की पत्नी थी।' मन्दिर का मीराँबाई के नाम से सम्बन्ध होने पर और उसके सामने 'रैदास की छतरी' को देखकर यह भ्रम और फैला कि मीराँबाई रैदास की शिष्या थी। वस्तुतः इस सम्बन्ध में दो बातें उल्लेखनीय है –

(१) मीराँबाई का मन्दिर वास्तव में आदि वराह का मन्दिर है और राणा कुम्भा द्वारा बनवाया गया था।

(२) छतरी कुम्भा की पत्नी झालीरानी ने बनवायी थी। 'मीराँबाई' पृ० १७८ पर उल्लिखित।

१. चित्तौड़ की झाली रानी रैदास की शिष्या हुई,

२. झाली रानी राणा कुम्भा की पत्नी थी तथा

३. मीराँ राणा कुम्भा की पत्नी थी।

डा० प्रभात ने इस तथ्य की विस्तृत छानबीन और विवेचना की है। उनका शोध-निष्कर्ष प्रामाणिक एवं प्रमाण-पुष्ट है।

रैदास-मीराँ के गुरु-सम्बन्ध की अयथार्थता सिद्ध हो जाने से रैदास के समय निर्धारण की जटिलता बहुत कुछ अंशों में स्वत: दूर हो जाती है। पहले की अपेक्षा अब कुछ सुगमतापूर्वक उनका समय निश्चित किया जा सकता है। अस्तु।

गुरु नानक[१] (सं० १५२६-१५६६), स्वामी हरिदास निरंजनी[२] (सं० १५१२-१६०० के आसपास) तथा भक्त कवि व्यास[३] (सं० १५४६-१६५५ के लगभग) की रचनाओं में रैदास का एक प्रसिद्ध भक्त के रूप में नामोल्लेख हुआ है। इन सन्तों के उल्लेख से प्रतीत होता है कि इनके समय से पूर्व ही रैदास एक भक्त के रूप में प्रसिद्धि को प्राप्त होकर स्वर्गवासी हो चुके थे। अत: इन सन्तों से पूर्व ही रैदास का विद्यमान रहना माना जा सकता है।[४]

नाभाजी कृत भक्तमाल की प्रियादास कृत टीका में सन्त रैदास की चर्चा के अन्तर्गत निम्नांकित दो उल्लेख हैं –

१. चित्तौड़ में एक झाली रानी बसती थी। नाम के बिना उसके कान खाली थे। वह आकर रैदास की शिष्या हुई।[५]

२. अपनी राजधानी चित्तौड़ जाकर उसने रैदास को सविनय आमन्त्रित किया और उसे स्वीकार करके रैदास चित्तौड़ गए।[६]

उक्त उल्लेखों के आधार पर यह स्पष्ट है कि प्रियादास के पूर्व 'चित्तौड़ की झाली

---

१. (१) 'नामा जैदेउ कबीरु त्रिलोचनु अउ जाति रबिदासु चमिआरु चलहीआ।' (नानक, रागु बिलावलु) गुरु ग्रन्थ साहब, पृ० ४५१

(२) 'गुण गावै रबिदासु भगतु जैदेव त्रिलोचना नामा भगतु कबीरु सदा गावहि सम लोचन।।' (सवईए महले पहले के) वही, पृ० ७४८। उपर्युक्त दोनों उद्धरण हिं०सा० का आलो० इतिहास (ले० डा० रामकुमार वर्मा) द्वि०सं० के पृ० ३३० पर उद्धृत।

२. 'नामै दास कबीर राम भजतां रस पीया। पीवै रैदास बड़े छकि लाहा लीया।।'
– वाणी, पृ० २६५। उ०भा० की सन्त-परम्परा। (द्वि०सं०), पृ० ३५० पर उद्धृत।

३. दे० भक्त कवि व्यासजी (वाणी संकलन) पृ० १६६, ले० श्री वासुदेव गोस्वामी। व्यासजी ने अपनी एक साखी में रैदास जी के भक्त रूप की महत्ता को प्रकट करते हुए लिखा है–

'व्यास' बड़ाइ छांड़ि कै हरि चरनन चित्त जोरि।
एक भक्त रैदास पर, वारौं बाम्हन कोरि।।२८।। वही, पृ०४०६।

भक्त व्यासजी ने रैदासजी का नाम स्वामी रामानन्दजी के शिष्यों में गिनाया है।

४. विद्वानों को चाहिए कि वे विश्नोई सम्प्रदाय के सन्त जांभोजी की 'बानी' तथा सिद्ध-सम्प्रदाय के संस्थापक सिद्ध जसनाथ जी की 'बानी' के अन्तर्गत आए हुए सन्तों-भक्तों के सन्दर्भों की खोज करें। इससे इस विषय में और प्रकाश पड़ने की पूरी सम्भावना है।

५. दे० भक्तमाल, रूपकला-संस्करण, पृ० ४७८। अनन्तदास कृत 'रैदास की परचई' में भी यह उल्लेख है।

६. दे० वही, पृ० ४७६

रानी' के रैदास की शिष्या होने की एक प्रबल जनश्रुति प्रचलित थी और इस बात को सत्य रूप में रैदासी सन्त ही नहीं, अन्य सम्प्रदाय के लोग भी स्वीकार करते थे। इस बात के उल्लेख-कर्ता प्रियादास स्वयं चैतन्य सम्प्रदाय के थे। 'झाली' शब्द उक्त रानी की व्यक्तिगत संज्ञा न होकर उसके पितृ-वंश का द्योतक है।[१] झाली रानी चित्तौड़ के राणा की रानी थी, किन्तु वह किस राणा की पत्नी थी, इसका कोई स्पष्ट उल्लेख प्राप्त न होने के कारण विद्वानों के इस सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं। किसी ने उन्हें राणा कुम्भा की पत्नी, किसी ने राणा सांगा की पत्नी, किसी ने राणा रायमल की पत्नी, तो किसी ने राणा उदय सिंह की पत्नी तक माना है।[२] पूर्वापर का विचार रखते हुए इन मान्यताओं में से किसी सीमा तक उन्हें राणा कुम्भा की पत्नी स्वीकार किया जा सकता है।[३] शेष अन्य मत निरर्थक हैं। टॉड-राजस्थान से ज्ञात होता है कि राणा कुम्भा की एक पत्नी झालानी अथवा झाली रानी थी।[४] सम्भव है, राणा कुम्भा की उसी झाली रानी ने रैदास से दीक्षा ली हो। झाली रानी को राणा कुम्भा की पत्नी मान लिया जाने पर रैदास जी को उसका गुरु मान लेने में कोई कठिनाई नहीं है। प्रतीत होता है कि राणा कुम्भा के सिंहासनारूढ़ (सं० १४६०) होने के पाँच-सात वर्ष बाद काशी-यात्रा के समय रैदास के आध्यात्मिक व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उन्होंने उनसे दीक्षा ली होगी। यह प्रसंग रैदास के जीवन का अन्तिम छोर माना जा सकता है।

रविदासी-पंथ के अनुयायियों की एक यह धारणा है कि रैदास सिकन्दर लोदी के शासन-काल में भी विद्यमान थे। किसी लोक-कथा (जनश्रुति) के आधार पर उनके बीच यह विश्वास प्रचलित है कि सिकन्दर लोदी ने अपनी बनारस-यात्रा के दौरान रैदास के अध्यात्म-ज्ञान व चमत्कारों से प्रभावित होकर उसने, उन्हें सम्मानित किया था[५] किन्तु यह कोरा प्रवाद मात्र ही है, और कुछ नहीं। कारण यह है कि प्राप्त तथ्यों से

१. 'सन्त रविदास और उनका काव्य' के लेखकों का यह कथन कि 'झाली शब्द उक्त रानी की संज्ञा न होकर उसके पितृ-वंश का द्योतक है - अधिक वजनदार नहीं प्रतीत होता।' उन्होंने इसे संज्ञा-बोधक ही माना है। (दे० पृ० १६४) किन्तु यह उनका भ्रम ही है। निश्चित ही यह शब्द पितृ-वंश-द्योतक है।

विद्वान लेखकों के मतानुसार 'सेनी कृत कबीर-रैदास-संवाद' नामक रचना में रानी झाली का रैदासजी द्वारा शिष्यत्व ग्रहण करने की कथा वर्णित है।' किन्तु मुझे उक्त रचना में यह प्रसंग कहीं नहीं मिला। यह रचना 'हिन्दुस्तानी' भाग ३०, अंक १-४ में प्रकाशित हो चुकी है। उसमें इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं है। ज्ञात नहीं, उन्हें इस नाम की और कौन-सी रचना प्राप्त हुई है, जिसके आधार पर उन्होंने ऐसा उल्लेख किया। उन्हें उक्त रचना से उद्धरण देने चाहिए थे, किन्तु ऐसा नहीं किया गया।

(दे० रविदास और उनका काव्य, पृ० १६२)।

२. इन विभिन्न मतों के लिए दे० 'सन्त रविदास और उनका काव्य' नामक ग्रन्थ में 'सन्त रविदास और महारानी झाली' नामक शीर्षक, जिसमें विस्तारपूर्वक इस सम्बन्ध में विचार किया गया है। पृ० १६२ से १६७ तक।

३. दे० वही, पृ० १६७।

४. टॉड-राजस्थान, स्लैडन-संस्करण, पृ० २३३। मीराँबाई, पृ० १७६ पर उद्धृत।

५. दे० सन्त रविदास और उनका काव्य, पृ० १६८-६। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त मुझे इस प्रसंग का उल्लेख और कहीं नहीं मिला।

इसकी संगति किसी प्रकार भी बैठती प्रतीत नहीं होती और न ही इस जनश्रुति का समर्थन किसी अन्य प्रमाण से होता है। इतिहास से सिद्ध है कि सिकन्दर लोदी अत्यन्त धर्मान्ध तास्सुवी और क्रूर शासक था। उसका समस्त शासन-काल मजहबी उन्माद का ज्वलन्त उदाहरण है। उससे उपर्युक्त कार्य की आशा करना सम्भाव्य नहीं है।[1]

यह पहले ही बताया जा चुका है कि रैदास रामानन्द जी के शिष्य, कबीर, पीपा आदि के गुरुभाई और उनके समकालीन थे।[2] अत: रैदास का समय भी उन सबके जीवन-काल के मेल में तथा अन्य तथ्यों की संगति में होना चाहिए।

स्वामी रामानन्द जी का जीवन-काल 'अगस्त्यसंहिता' के आधार पर रूपकला जी ने अपनी भक्तमाल की टीका में सं० १३५६ से सं० १४६७ माना है।[3] डा० भण्डारकर ने भी रामानन्द के इसी काल को माना है,[4] जिसे अधिकांश विद्वानों द्वारा भी पर्याप्त

---

१. सिकन्दर लोदी के इतिहास के लिए दे० उत्तर तैमूरकालीन भारत, भाग १।

२. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी को सेन, पीपा, कबीर, रैदास तथा धन्ना का स्वामी रामानन्दजी का शिष्य होने में सन्देह है। इनकी समकालीनता भी उन्हें मान्य नहीं है। अपने इसी अनुमान के आधार पर इन सन्तों की जो तिथियाँ उन्होंने दी हैं, वे स्वामीजी के जीवन-काल के मेल में नहीं आतीं। इन सन्तों के विषय में आचार्य जी के विचार अनुमानाश्रित ही हैं, किसी दृढ़ प्रमाण पर आधारित नहीं हैं। जब तक ऐसी कोई प्रामाणिक सामग्री जो उनके विचारों का समर्थन कर सके, नहीं प्राप्त हो जाती, तब तक भक्तमाल में उल्लिखित एवं अन्य समस्त उपलब्ध परम्पराओं तथा जनश्रुतियों से समर्थित मत को सहज ही में अप्रामाणिक कहकर टाला नहीं जा सकता। आचार्य जी का यह कथन कि उक्त पाँच शिष्यों में से कदाचित किसी ने भी स्पष्ट शब्दों में रामानन्द को अपना गुरु स्वीकार नहीं किया है और उनमें से सभी ने उनका नाम तक नहीं लिया, कोई अधिक वजनदार नहीं प्रतीत होता। सम्भव है, गुरु के प्रति अपार श्रद्धा होने के कारण उन्होंने अपने गुरु रामानन्द का नामोल्लेख स्पष्ट रूप से न किया हो। रामानन्द ही क्या, गुरु रूप में किसी और व्यक्ति का भी तो नामोल्लेख नहीं किया है, किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उनका कोई मनुष्य गुरु था ही नहीं। उनकी 'बानी' में गुरु की महत्ता जिस रूप में व्यक्त हुई है, वह सर्वविदित है। स्वयं उनकी रचनाओं में उनके 'मनुष्य-गुरु' होने के प्रमाण हैं। भले ही उन्होंने स्पष्ट शब्दों में रामानन्द का नामोल्लेख गुरु-रूप में न किया हो, किन्तु उनकी रचनाओं में स्वामी रामानन्दजी के सिद्धान्त, उनका उदार दृष्टिकोण तथा उनकी भक्ति का रूप स्पष्टत: दृष्टिगोचर होता है। इन्हीं शिष्यों की तरह क्या 'आनन्दान्त' नाम वाले शिष्यों की भी स्थिति नहीं है ? क्या उन्होंने अपनी रचनाओं में स्पष्ट रूप से रामानन्द जी का गुरु-रूप में उल्लेख किया है ? कोई प्रमाण इस प्रकार का प्राप्त नहीं होता। फिर इन्हें ही रामानन्द जी का शिष्य क्यों मान लिया जा सकता है ? जिन प्रमाणों के आधार पर इन्हें शिष्य स्वीकार किया जा सकता है, उन्हीं प्रमाणों के आधार पर उन्हें भी शिष्य स्वीकार किया जा सकता है। अभी इन सन्तों की अधिकांश रचनाएँ प्रकाश में भी कहाँ आ पाई हैं ? आवश्यकता इस बात की है कि इनकी रचनाओं की तत्परता से खोज की जाए।

अब नवीन शोधानुसार स्वत: रैदासजी की वाणी में भी ऐसे उद्धरण प्राप्त हुए हैं, जहाँ उन्होंने स्वामी रामानन्द को अपना गुरु स्वीकार किया है –

रामानन्द मोहि गुरु मिल्यो, पायो ब्रह्मनिवास।
राम नाम अमीरस पिऔ, रैदास ही भयौ पलास।। (साखी सं० १३)

३. दे० भक्तमाल रूपकला-संस्करण, पृ० २८८ तथा २६३।

४. वैष्णविज्म शैविज़्म एण्ड माइनर रिलिजस सिस्टम्स, पृ० ६६ दि नाइन्थ इण्टर नेशनल कांग्रेस आफ ओरियंटलिस्ट, वाल्यूम १, पृ० ४२३।

समर्थन मिल चुका है।[1] वस्तुतः यही समय प्राप्य तथ्यों की संगति में आता भी है।

सेन नाई का समय, प्राप्त सामग्री पर विचार करने के उपरान्त आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने विक्रम की चौदहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध और पन्द्रहवीं का पूर्वार्ध माना है, जो उचित प्रतीत होता है।[2]

पीपा का समय मैंने अपने लेख में समस्त उपलब्ध सामग्री की विवेचना करने के उपरान्त सं० १३८० से सं० १४४१ तक स्वीकार किया है।[3] यही समय मेरे विचार से सब प्रकार की संगति में है।

कबीर साहब का समय अभी तक विद्वानों के मत-वैभिन्य का केन्द्र बना हुआ है, किन्तु समस्त उपलब्ध सामग्री पर विचार करने के उपरान्त मेरे विचारानुसार इनका समय लगभग सं० १४०० से लेकर सं० १५०५ के आसपास उपयुक्त है। मैंने इसी समय को मान्यता दी है।[4]

धन्ना भगत का जन्म मैकालिफ ने सन् १४१५ (सं० १४७२) में होना अनुमान किया है,[5] किन्तु मैकालिफ साहब ने अपने समर्थन में कोई भी प्रमाण उद्धृत नहीं किया है। यह अनुमान मात्र ही है। फिर प्राप्य तथ्यों की संगति में भी यह नहीं आता है।[6] अतः इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता।

इस तथ्य का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है कि ये अपने गुरु-भाइयों में सबसे पीछे तक जीवित रहे थे और मीराँबाई से पूर्व ही दिवंगत हो चुके थे। इनका समय भी अपने गुरु और गुरु-भाइयों के समय के मेल में ही होना चाहिए, अतः सब तथ्यों पर विचार करते हुए और पूर्वापर का ध्यान रखते हुए, इनका समय लगभग सं० १४२५ से लेकर सं० १५२५ के आसपास माना जा सकता है।[7]

---

१. (अ) उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा – आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २२५ व २३२।
(आ) हिन्दी काव्य में निर्गुण-सम्प्रदाय – डा० पीताम्बर बड़थ्वाल, पृ० ४१।
(इ) रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी-साहित्य पर उसका प्रभाव, डा० बदरी नारायण श्रीवास्तव, पृ० ७५ तथा ९६।
(ई) तुलसी पूर्व राम-साहित्य, डा० अमरपाल सिंह, पृ० १०८ तथा १०९।
(उ) गुसाईं-मत के प्रवर्तक बाबा साईंदास का जन्म सं० १५२५ वि० में माना जाता है। ये स्वामी रामानन्द की शिष्य-परम्परा के सिद्ध योगी मुकुन्ददास के शिष्य थे। इस गुरु-परम्परा (रामानन्द - अनन्तानन्द - परमानन्द - मुकुन्ददास - साईंदास) से भी रामानन्द जी के उक्त समय की ही पुष्टि होती है।

२. दे० उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृ० २३५

३. दे० 'सन्त पीपा जी का समय' शीर्षक मेरा लेख – ब्रजभारती, वर्ष २७, अंक ४, पृ० ३७-४२ तथा सुपथगा, वर्ष ६, अंक ४, पृ० ११-१७

४. दे० वही, पृ० ४२ व १७, साथ ही उ०भा० की सन्त-परम्परा, पृ० ८६६-७० भी देखिए।

५. दे० दि सिख रिलीजन, वा० ६, पृ० १०६।

६. मैकालिफ का दिया हुआ जन्म-काल का सन् (संवत्) धन्ना का उपस्थिति-काल तो है, जन्म-काल नहीं माना जा सकता।

७. सभी प्रश्नों पर विचार करते हुए आ० चतुर्वेदी ने धन्ना का समय विक्रम की १६वीं शताब्दी के प्रथम अथवा द्वितीय चरण तक माने जाने का अपना विचार व्यक्त किया है। (दे० उ० भा० की सन्त-परम्परा,

उपर्युक्त समस्त प्राप्य सामग्री पर विचार करने के बाद और सभी बातों को ध्यान में रखते हुए मेरे विचारानुसार रैदास का समय लगभग सं० १४१५ से लेकर सं० १५१५ के आसपास तक मानना उचित है। रैदास का यही समय सब प्रकार की संगति में आता है।[1] सम्प्रदाय में इनकी जन्मतिथि 'माघ-पूर्णिमा' मानी जाती है और इसी तिथि को प्रतिवर्ष धूमधाम से इनकी जयन्ती मनाई जाती है, किन्तु 'अगस्त्य-संहिता' में इनकी जन्मतिथि - 'चैत्र सुदि द्वितीया शुक्रवार' का उल्लेख है।[2]

१.६ नरपति नाल्ह कृत बीसलदेव रास

'बीसलदेव रास' हिन्दी की रास-काव्य-परम्परा की कृति है।[3] यह प्राचीन हिन्दी-साहित्य की महत्त्वपूर्ण एवं बहुचर्चित रचना है। इसकी ऐतिहासिकता एवं उसके पाठ की प्रामाणिकता पर विद्वानों ने पर्याप्त विमर्श किया है। यद्यपि कुछ विद्वानों ने इसे १६वीं और १७वीं शताब्दी का माना है[4], किन्तु उनका यह विचार इस ग्रन्थ के वर्तमान रूप के कारण है, जबकि प्राप्य तथ्यों के आधार पर इसका मूल रूप १४वीं-१५वीं शताब्दी

पृ० २५०) किन्तु धन्ना का समय अधिक से अधिक विक्रम की १६वीं शती के प्रथम चरण तक ही किसी प्रकार माना जा सकता है। इसके बाद नहीं। अन्यथा चतुर्वेदीजी के अपने ग्रन्थ के पृ० ८६५ पर प्रकाशित द्वितीय विचार की संगति नहीं लग सकेगी। अतः धन्ना जी के समय के सम्बन्ध में जो विचार मैंने व्यक्त किया है, वही समीचीन है।

१. (अ) स्वामी रामानन्द तथा उनके द्वादश शिष्यों में से प्रसिद्ध पाँच शिष्यों (सेन, पीपा, कबीर, रैदास और धन्ना) के जीवन-प्रसंगों के साथ कुछ भ्रामक तथ्यों के जुड़ जाने के कारण उन्हीं के आधार पर विचार किए जाते रहने से उक्त महानुभावों के समय निश्चित करने में बड़ी खींच-तान की जाती रही है। यदि सतर्कतापूर्वक, तर्क-दृष्टि से विचार कर उन जन-श्रुत्यात्मक भ्रान्त तथ्यों से अलग होकर उन सन्तों का समय-निर्धारण करें तो उचित होगा। विद्वानों को इस सम्बन्ध में विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। समस्त प्राप्त सामग्री पर विचारोपरान्त 'निष्कर्ष' पूर्वापर का ध्यान रखते हुए संगतिमूलकता के आधार पर अधिकाधिक सत्य एवं वास्तविकता के निकट होना चाहिए।

(आ) 'सन्त रविदास और उनका काव्य' नामक ग्रन्थ के विद्वान् लेखकों ने कबीर के 'सन्तों में सन्त रैदास' इस कथन के आधार पर अपने विचारानुसार रैदास को कबीर से आयु में बड़ा माना है, किन्तु प्राप्य तथ्यों से इस विचार का समर्थन नहीं होता। इस उक्ति से कबीर के हृदय में रैदासजी के लिए आदर-भाव का परिचय तो मिलता है, किन्तु इससे रैदास के कबीर से आयु में ज्येष्ठ होने का कोई संकेत नहीं मिलता। मेरे विचारानुसार कबीर ही रैदास से आयु में ज्येष्ठ थे।

(इ) सन्त करमदास की उक्ति में व्यक्त सं० १४३३ के परिप्रेक्ष्य में भी रैदास जी का उक्त समय समीचीन प्रतीत होता है –

चौदह सै तैंतीस की माघ सुदी पंदरास। दुखियों के कल्यान हित प्रगटे श्री रविदास॥

२. 'अगस्त्य-संहिता' के आधार पर 'रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी-साहित्य पर उसका प्रभाव' नामक ग्रन्थ के पृ० ३० पर उद्धृत।

३. यह एक गेय 'रास' है। विद्वानों ने इसे 'बीसलदेव रासो' नाम से वीररस की रचना मानकर वीरगाथात्मक रचनाओं में स्थान दिया है, जो उचित नहीं है, क्योंकि इसमें वीररस विषयक एक भी पंक्ति नहीं है। यह तो शृंगारपरक काव्य है। स्वयं कवि ने इसे 'रास' कहा है, रासो नहीं।

४. दे० राजस्थानी भाषा और साहित्य (डा० मोतीलाल मेनारिया) पृ० ८७-८८।

के बाद का न होना चहिए, क्योंकि 'पृथ्वीराज रासो' की भाँति इस ग्रन्थ की भी कई वाचनाएँ मिलती हैं। ये वाचनाएँ १७वीं शती तक अवश्य हो गयी थीं। कारण कि इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ १७वीं शती विक्रमीय के पूर्वार्ध की प्राप्य हैं। इतनी विभिन्न वाचनाएँ शीघ्र नहीं हो सकतीं – इनके लिए अनुमानत: दो शताब्दियों का समय तो अपेक्षित होगा ही। अत: इस ग्रन्थ की रचना उक्त समय से पूर्व की ही होनी चाहिए।

इस 'रास' का रचयिता 'नरपति नाल्ह' है।[१] इसमें 'नरपति' उसका नाम है और 'नाल्ह' उसका उपनाम प्रतीत होता है। कवि ने दोनों रूपों का प्रयोग अपनी रचना में किया है।[२] वह जाति से ब्राह्मण था। जैसा – 'जोइसी' एवं 'व्यास' शब्दों के प्रयोग से ज्ञात होता है।[३] रचनाकार जैनेतर कवि है और वह गुजराती कवि 'नरपति' से भिन्न एवं प्राचीन है।[४] अत: दोनों को अभिन्न मानना उचित नहीं है।[५] 'नाल्ह' अपनी कृति के नायक 'बीसलदेव' का समकालीन नहीं था। वह उससे पर्याप्त बाद का कवि है। डा० माताप्रसाद गुप्त ने भी विचारोपरान्त कवि को बीसलदेव के बाद का माना है।[६] 'रास' की घटनाओं का भी कोई सम्बन्ध इतिहास से नहीं है। यह घटनात्मक काव्य नहीं है, बल्कि वर्णनात्मक है। बीसलदेव, भोज आदि नामों से इसमें इतिहास का आभास अवश्य होता है, किन्तु रचना का ढाँचा मूलत: लोककथात्मक है, जिसमें कल्पना की स्थिति पर्याप्त है।

यद्यपि ग्रन्थ में रचना-तिथि सूचक पंक्तियाँ मिलती हैं, किन्तु उनमें कोई एकरूपता नहीं है। इसीलिए इनके आशय के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। तिथिसूचक पंक्तियों के मुख्यत: दो पाठ हैं। एक – 'बारह सै बहोत्तराँ' और दूसरा – 'सहस सतिहत्तर' या 'सहसतिहत्तर'। इनमें से दूसरे को तो प्राय: नकार ही दिया गया है और पहले से १२१२ एवं १२७२ का आशय लिया गया है। परन्तु मिश्रबन्धुओं ने उक्त संवतों में से किसी को ग्रहण न कर इसके रचना-संवत् के रूप में १३५४ का उल्लेख किया है और इस संवत् के विषय में लिखा है – 'नरपति नाल्ह ने इसका समय १२२० शाके लिखा है, पर जो तिथि उन्होंने बुधवार को ग्रन्थ-निर्माण की लिखी है, वह १२२० शाके में पड़ती है।[७] लेकिन नरपति ने १२२० कहाँ लिखा है, यह अज्ञात है। सम्भवत: उन्होंने इसे खोज-रिपोर्ट से ग्रहण किया है, क्योंकि वहाँ डा० श्यामसुन्दर दास द्वारा भ्रम से १२२० का उल्लेख अवश्य किया गया है।[८]

---

१. नाल्ह की एक और काव्य-कृति 'उरगानौ' का उल्लेख सन् १६३२-३४ की खोज-रिपोर्ट में सं० १५० पर हुआ है। इसमें विदेश जाने के लिए तत्पर नायक को नायिका द्वारा शकुनों और वर्ष-मासादि के वियोग दु:खकथन से रोकने का वर्णन है। प्राप्त प्रति सं० १७७२ की है।

२. 'कर जोड़ि नरपति भणई', 'नाल्ह रसायण रस भरी गाइ।'

३. 'सो दिन गिणि जोइसी जोड़इ रास', 'नरपति व्यास कहइ करि जोड़ि।'

४. दे० सम्मेलन-पत्रिका, भाग-५१, अंक-१-२, पृ० १०५।

५. डा० मोतीलाल मेनारिया ने दोनों को अभिन्न माना है, दे० राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० ८०।

६. दे० बीसलदेव रास, भूमिका।

७. दे० मिश्रबन्धु विनोद, भाग-१, पृ० २०६।

८. दे० खोज-रिपोर्ट, सन् १६००, पृ० ७८-७६।

सं० १२१२ व १२७२ में से तिथि-गणना की दृष्टि से डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने सं० १२७२ (कार्तिकादि वि०सं० के अनुसार) को ठीक माना है। साथ ही चरित नायक बीसलदेव तृतीय माना है और उसका समय सं० ११५० अनुमित किया है।[1] इस प्रकार ओझा जी के अनुसार ग्रन्थ की रचना चरित नायक के समय से १२२ वर्ष बाद की ठहरती है, किन्तु ओझा जी की इस मान्यता से ग्रन्थ की तथाकथित इतिहास-सम्बन्धी त्रुटियों का निराकरण नहीं हो पाता। यद्यपि ओझा जी का समर्थन डा० उदयनारायण तिवारी ने भी किया है।[2]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और सत्यजीवन वर्मा जी ने इसका रचना-काल सं० १२१२ माना है और उनके अनुसार गणना से यही तिथि शुद्ध है।[3] डा० रामकुमार वर्मा को रचना-काल के रूप में सं० १०७३ मानने में भी कोई आपत्ति नहीं है।[4] श्री अगरचन्द नाहटा ने १२७२ को ही ठीक माना है।[5]

इस प्रकार १२७२ के पक्ष में डा० ओझा, श्री नाहटा तथा डा० तिवारी हैं और १२१२ के पक्ष का समर्थन आचार्य शुक्ल तथा सत्यजीवन वर्मा करते हैं। मिश्रबन्धुओं ने सं० १३५४ माना है और डा० वर्मा १०७३ स्वीकारते हैं। ग्रन्थ के रचना-काल के सम्बन्ध में मेरा विचार है कि 'बारह सौ बहौत्तरा' से १२१२ का अर्थ लिया जाए और चूँकि रचना-तिथि-सूचक पद्य में 'संवत्' का नामोल्लेख नहीं है कि वह कौन-सा संवत् है, तो ऐसी स्थिति में यदि उसे शक संवत् मानकर विचार करें तो समस्या का एक समाधान उपस्थित होता है अर्थात् १२१२ शक संवत् (१३४७ वि०) में इसकी रचना हुई जान पड़ती है और इस रूप में यह काल नवीन अन्वेषित काल (विक्रमीय १४वीं शती) का सूचक हो जाता है, क्योंकि डा० माताप्रसाद गुप्त ने इस 'रास' को विभिन्न आधारों से विक्रम की १४वीं शती की रचना माना है।

गुप्त जी ने इस ग्रन्थ का सम्पादन करते समय इस समस्या पर गम्भीरता से मनन किया। उन्होंने यद्यपि किसी तिथि का समर्थन तो नहीं किया, किन्तु विभिन्न आधारों पर विचार कर इस ग्रन्थ के रचना-काल पर लगाये गये भिन्न-भिन्न अनुमानों का खण्डन करते हुए इसे विक्रमीय १४वीं शती की कृति सिद्ध किया है।[6] अपनी स्थापना की पुष्टि में उन्होंने विभिन्न आधारों पर अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये हैं, जो संगतिमूलक प्रतीत होते हैं। वैसे देखा जाए तो प्राप्य संवतों के आधार पर इस ग्रन्थ की रचना-तिथि का निर्णय शंकारहित नहीं है। फिर भी इस ग्रन्थ के हस्तलेखों की पाठ-स्थिति को देखते हुए तो यही प्रतीत होता है कि रचना-तिथि विषयक पंक्तियाँ प्रक्षिप्त हैं अर्थात् रचना की मूल

---

१. दे० नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सं० १६६७ (भाग ४५), अंक २, १६३-६५।
२. दे० वीरकाव्य, पृ० १६१।
३. (अ) दे० हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ३४, (आ) दे० बीसलदेव रासो, भूमिका, पृ० ५-६।
४. दे० हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २०८-१०।
५. दे० राजस्थानी – त्रै०प०, भाग ३, अंक ३, पृ० २१।
६. दे० हिन्दी-साहित्य (रासोकाव्य-धारा) भाग २, पृ० १०६ तथा डा० गुप्त द्वारा सम्पादित बीसलदेव रास की भूमिका।

प्रति में रचना-काल सूचक छन्द का अभाव था और यह बाद की मिलावट है, क्योंकि इस ग्रन्थ के पाठ की जो तीन मुख्य शाखाएँ उपलब्ध हैं, उनमें से दो शाखाओं में जहाँ रचना-तिथि का उल्लेख है, वहाँ एक शाखा की प्रतियाँ ऐसी हैं, जिनके पाठ में रचना-काल विषयक कोई छन्द नहीं है।[१] ऐसी दशा में केवल काल-सूचक प्राप्य पाठों के आधार पर इस ग्रन्थ की रचना-तिथि निर्धारित करना उचित नहीं जान पड़ता।

इस ग्रन्थ की भाषा के सम्बन्ध में भी मत-भिन्नता है। कोई १३वीं शती की मानता है[२], तो किसी ने १६वीं शती की माना है।[३] डा० गुप्त ने इसकी भाषा को १४वीं शती की माना है, जो उक्त शती के अन्य ग्रन्थों की भाषा से मेल खाती है।[४] वैसे रचना में भाषा के प्राचीन तत्त्व एवं उसका प्राचीन रूप विद्यमान है! हाँ, गेय स्थिति के कारण इसकी भाषा में समयानुसार परिवर्तन होता रहा है, क्योंकि यह 'रास' जनगायकों द्वारा संशोधित एवं संवर्द्धित होता रहा है। इसी से वह अपने मूल रूप में न रह सका।

इस 'रास' के कथानक में बीसलदेव, राजमती एवं भोज मुख्य पात्र हैं, जिनकी ऐतिहासिकता को लेकर ऊहापोह हो चुका है, किन्तु विद्वान् किसी एक निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके। उनमें मतैक्य नहीं है। बीसलदेव का नाम ऐतिहासिक है, किन्तु राजा भोज और उसकी कन्या राजमती के सम्बन्ध से वह विवादास्पद है। वह बीसलदेव उपाख्य विग्रहराज तृतीय है या विग्रहराज चतुर्थ है।[५] किसी ने इसे विग्रहराज तृतीय (सं० ११३५-११५० वि०) माना है, क्योंकि उसकी रानी का नाम राजदेवी मिलता है[६] (यह बिजोलिया के शिलालेख से स्पष्ट है); इसे ही राजमती होने का अनुमान किया है, किन्तु 'रास' में इसके पिता का नाम 'भोज' है, जिसकी मृत्यु के २५ वर्ष बाद विग्रहराज तृतीय गद्दी पर बैठा था। इसलिए अनुमान किया गया कि यह राजा भोज की पुत्री न होकर उसके छोटे भाई उदयादित्य की पुत्री हो सकती है, जो विग्रहराज का समकालीन था।[७] सम्भव है कि नाल्ह ने राजदेवी (राजमती) और तृतीय विग्रहराज को ही आधार बनाकर इस काव्य की रचना की हो, लेकिन यहाँ यह ध्यातव्य है कि तृतीय विग्रहराज के समय तक वे बहुत से स्थान बसे हुए नहीं थे, जिनका उल्लेख रचना में हुआ है। जैसे – अजमेर को सं० ११६५ में अजयराज ने बसाया था और जैसलमेर को सं० १२१२ में जैसलदेव द्वारा बसाया हुआ परम्परा से माना जाता है, किन्तु यह मान्यता सही नहीं है।

---

१. वही।

२. दे० बीसलदेव रासो (डा० तारकनाथ अग्रवाल), भूमिका, पृ० २७ व ६५।

३. दे० राजस्थानी भाषा और साहित्य (डा० मेनारिया), पृ० ८६ तथा राजस्थानी, भाग ३, अंक ३, पृ० २१।

४. दे० बीसलदेव रास (डा० गुप्त), भूमिका (भाषा-विवेचन)

५. एक-दो विद्वानों ने बीसलदेव एवं विग्रहराज के एक ही व्यक्ति होने में शंका की है, किन्तु उनकी शंका निर्मूल है, क्योंकि दिल्ली की फिरोजशाह की लाट पर खुदी हुई पंक्तियों में दोनों को एक ही माना गया है – '......शाकम्भरीन्द्रो जगति विजयते बीसलः क्षोणिपालः।......श्रीमान विग्रहराज एव विजयी सन्तान जानात्मनः। वि०सं० १२२० का लेख।

६. दे० वीरकाव्य (डा० तिवारी), पृ० १६४।

७. उदयादित्य सं० १११६ के लगभग गद्दी पर बैठा था।

तत्कालीन ऐतिहासिक तथ्यों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि जैसलमेर की स्थापना सं० १२३४ के बाद सं० १२४४ के पूर्व किसी समय हुई।[१] इतना निश्चित है कि सं० १२८५ से पूर्व इसकी स्थापना हो चुकी थी[२], क्योंकि उक्त संवत् में उसका उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त भोज द्वारा दहेज में बीसलदेव को प्रदत्त मंडोवर, सोरठ, टोंक आदि प्रान्त भी भोज या उसके वंशजों के अधिकार में कभी नहीं थे। अत: यह प्रकट है कि रचना भोज परमार और बीसलदेव (विग्रहराज) तृतीय के बाद की है।

कुछ विद्वानों का झुकाव इस 'बीसल' को विग्रहराज चतुर्थ मानने की ओर है।[३] विग्रहराज चतुर्थ का समय सं० १२१०-२० वि० है। अजमेर बसने के बाद केवल यही बीसलदेव हुआ है। यह बड़ा वीर एवं प्रतागी था। इसने मुसलमानों के विरुद्ध कई चढ़ाइयाँ की थीं और उनसे बहुत-सा भू-भाग खाली कराया था। इसका लेख दिल्ली की फीरोजशाह की लाट पर है। यह विद्या-प्रेमी एवं एक अच्छा कवि था। उसका लिखा ' हरिकेलि नाटक' आंशिक रूप से एक प्रस्तर खण्ड पर क्षोदित रूप में मिला है। उसके राजकवि सोमदेव ने भी 'ललित विग्रहराज' नाम का एक नाटक लिखा था। यह भी एक प्रस्तर खण्ड पर आंशिक रूप से खुदा हुआ मिला है। इसमें इन्द्रपुर के राजा वसन्तपाल की पुत्री देसल देवी के साथ बीसलदेव के प्रेम का वर्णन है। राजा और राजपुत्री कल्पित जान पड़ते हैं और उन दोनों के ऐतिहासिक समझे जाने वाले काव्य की प्रकृति का सुन्दर परिचय देते हैं। इसी बीसलदेव के काल्पनिक प्रेम-कथानक को परवर्ती काव्य 'बीसलदेव रास' में वर्णित किया गया प्रतीत होता है।[४] यहाँ प्रेमपात्री मालवा के परमार राजा भोज की कल्पित पुत्री राजमती है, क्योंकि इतिहास के अनुसार भोज की राजमती नाम की कोई कन्या नहीं थी और बीसलदेव की भी इस नाम से कोई रानी नहीं थी। अत: वह भी कल्पित पात्र मात्र है, फिर भोज और विग्रहराज चतुर्थ में भी सौ वर्ष से अधिक का अन्तर है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि कवि ने राजमती को एक ओर भोज की पुत्री लिखा है और दूसरी ओर उसे 'जनमी गोरी तूँ जैसलमेर, परणी आव गढ़ अजमेर' व 'गोरड़ी जैसलमेर की' आदि उक्तियों से भी अभिहित किया है। यद्यपि यह स्थिति विरोधात्मक लगती है, किन्तु ऐसा है नहीं। राजमती का वास्तव में जैसलमेर से कोई सम्बन्ध नहीं है और न कवि का आशय ही उक्त कथन में इस प्रकार का है। यहाँ राजमती को जैसलमेर की कुमारी कहने का आशय इतना ही है कि जैसलमेर की सुन्दर स्त्रियों-जैसी सुन्दर राजमती थी। कवि ने यहाँ लक्षणा से राजमती की सुन्दरता का वर्णन किया है।[५] रचना में जैसलमेर के उल्लेख से यह तथ्य

---

१. दे० शोध-पत्रिका, वर्ष ३६, अंक १, पृ० ७५-७६।
२. दे० वि०सं० १२८५ में लिखी धन्य शालिभद्र की प्रशस्ति।
३. दे० बीसलदेव रासो (सं० सत्यजीवन वर्मा), भूमिका, पृ० ६-७ तथा हिन्दी-साहित्य का इतिहास (पं० रामचन्द्र शुक्ल), पृ० ३४ (सं० २००३ वि०)।
४. दे० हिन्दी-साहित्य का आदिकाल, पृ० ३५।
५. एक प्रचलित दोहे से भी इस बात की पुष्टि होती है – 'मारवाड़ नर नीपजे, नारी जैसलमेर। सिन्धा तुरही सांतरां, केरहल बीकानेर।'

अवश्य स्पष्ट होता है कि कवि विग्रहराज चतुर्थ का समकालीन नहीं था। उसने इस 'रास' की रचना तब की थी, जब जैसलमेर की स्थापना हो गयी थी। जैसलमेर की स्थापना सं० १२३४ के बाद हुई थी, जबकि विग्रहराज चतुर्थ का काल स्थापना से पूर्ववर्ती है।

अतः उपर्युक्त विवेचन से प्रकट है कि इस रास की घटनाओं में इतिहासाभास का भ्रम अवश्य होता है। वास्तविकता यह है कि इस काव्य की कथावस्तु किसी लोककथा पर आधारित प्रतीत होती है, जिसका ढाँचा कल्पना के सहारे खड़ा किया गया है। कवि ने भी इसकी रचना ऐतिहासिक दृष्टिकोण से नहीं की थी। अतः उक्त आधार पर इस 'रास' के निर्माण-काल का निर्णय करना उचित नहीं है। अस्तु !

अब कुछ ऐसे तथ्यों पर विचार करना अपेक्षित है, जिनका उल्लेख इस 'रास' में प्राप्त होता है, किन्तु जिन पर अभी तक कोई ध्यान नहीं दिया गया है। इन तथ्यों से कृति के रचना-काल-निर्णय में सहायता मिलती है।

कवि नाल्ह ने रचना में कई स्थलों पर 'जगन्नाथ मन्दिर' का उल्लेख किया है।[१] पुरी के जगन्नाथ मन्दिर का निर्माण उड़ीसा के राजा अनन्त वर्मा चोड़गंग ने कराया था। इनका शासन-काल सं० ११३३ से १२०५ तक है। अतः इसके बाद ही कभी इस 'रास' की रचना हुई होगी। इसी प्रकार कवि ने बार-बार 'उड़ीसा' का उल्लेख किया है।[२] प्रदेश विशेष के रूप में 'उड़ीसा' का नामोल्लेख वहाँ के राजा गजपति कपिलेन्द्र देव के राज्य-काल सन् १४६५-६८ (सं०१४६२-१५२५ वि०)अर्थात् शती ईस्वी में उक्त प्रदेश के लिए 'ओड़िशा' (उड़ीसा) राज्यर शब्द का प्रयोग शिलालेख में मिलता है।[३] उड़िया भाषा के सुप्रसिद्ध कवि सारलादास १५वीं शती के कवि माने जाते हैं। उनके 'महाभारत' में मध्य पर्व के श्रीकृष्ण के गुरु संदीपनी ऋषि के घर पढ़ने के प्रसंग में भाषा-लिपियों की शिक्षा के अन्तर्गत 'ओड़िया' भाषा-लिपि का उल्लेख किया है और ययाति के प्रसंग में कवि ने लिखा है कि उन्होंने अपने राज्य को अपने नौ बेटों में बाँट दिया था। उनके ज्येष्ठ पुत्र ओड़ियाणी रानी के पुत्र थे। बाद में 'प्रवीर' 'ओड़िसा' का राजा बना था।[४] इन उल्लेखों से प्रकट है कि विक्रम की १५वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में 'उड़ीसा' शब्द का प्रयोग प्रदेश-विशेष के नाम-रूप में प्रचलित हुआ। इससे पूर्व 'ओड़िशा' या 'उड़ीसा' का उल्लेख प्रदेश-नाम के रूप में प्राप्त नहीं होता है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि मुसलमान इतिहासकारों ने उड़ीसा का उल्लेख 'जाजनगर' नाम से किया है, 'उड़ीसा' नाम से नहीं। अतः कहा जा सकता है कि प्रदेश के नाम-रूप में जब 'उड़ीसा' का प्रयोग खूब प्रसिद्ध हो गया होगा, तभी कवि ने उसका उल्लेख अपनी रचना में किया होगा।

कवि ने इस 'रास' में विवाह-प्रसंग के अन्तर्गत एक स्थान पर 'हाँसी' के साथ

---

१. (अ) कहादे उड़ीसउ अरु जगन्नाथ। (आ) म्हांकउ काल घटपउ जगन्नाथ द्वारि।

२. 'एक उड़ीसा कउ घणी।' 'नयर उड़ीसां थी चढइ राइ।'

३. दे० उत्कल साहित्य का इतिहास (सं० श्री अनसूया प्रसाद पाठक), पृ० १३, प्र० राष्ट्रभाषा पुस्तक भण्डार, कटक-२।

४. दे० वही, पृ० २२

'कोट हिसार' का भी उल्लेख किया है।[1] इन दोनों स्थानों में 'हाँसी' तो काफी पुराना स्थान है, किन्तु 'कोट हिसार' की स्थापना (निर्माण) दिल्ली के बादशाह फीरोज तुगलक ने करायी थी। फीरोज का शासन-काल सन् १३५१ (सं० १४०८ वि०) से १३८८ (सं० १४४५ वि०) तक है। फीरोज तुगलक के द्वारा बसाये जाने के कारण हिसार को 'हिसार फीरोजा' भी कहा जाता रहा है।[2] अतः इस उल्लेख के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'बीसलदेव रास' की रचना विक्रमीय पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य या उत्तरार्ध में हुई हुई थी। उड़ीसा तथा 'हिसार' के उल्लेखों से तो यही सिद्ध होता है। यह स्थिति 'रास' की वि०सं० १६३३ की प्राचीन प्रति के पाठ पर आधारित है।

इस ग्रन्थ के उल्लेखनीय तीन संस्करण प्रकाश में आ चुके हैं। इसका सबसे पहला संस्करण सन् १९२५ में काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुआ था, जिसका सम्पादन श्री सत्यजीवन वर्मा ने खोज में प्राप्त सं० १६६९ की प्रति के आधार पर किया था। यह प्रति १९०० ई० की खोज में मिली थी।[3] वर्मा जी ने अपनी ओर से इस संस्करण को उपयोगी बनाने में पर्याप्त श्रम किया है, किन्तु एक ही प्रति पर आधारित होने के कारण पाठ-विमर्श सम्भव न हो सका।[4] इस संस्करण का अपना ऐतिहासिक महत्त्व है। इस प्रथम प्रयास में त्रुटियों का रह जाना स्वाभाविक है, किन्तु तात्कालिक परिस्थितियों में प्राप्य सामग्री के आधार पर वर्मा जी जो कुछ कर सके, वह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। सम्पादित ग्रन्थ चार सर्गों (खण्डों) में विभक्त है और उसमें ३१६ छन्द हैं।[5] आरम्भ में उपयोगी भूमिका है और कठिन शब्दों पर टिप्पणियाँ भी दी गयी हैं। इस प्रकार इस संस्करण से जनसामान्य इस ग्रन्थ से परिचित हो सका।

आगे चलकर इस ग्रन्थ की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ खोज में प्राप्त हुईं, जिनके प्रकाश में इसके एक नवीन सुसम्पादित संस्करण की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। पाठ-विज्ञान के विशेषज्ञ डा० माताप्रसाद गुप्त ने अपने वैज्ञानिक सम्पादन द्वारा इस अभाव की पूर्ति की। उन्होंने श्री अगरचन्द नाहटा जी की सहायता से एकत्र इस ग्रन्थ के १६ हस्तलेखों के आधार पर पाठ-विज्ञान के सिद्धान्तों के माध्यम से इसका एक सुन्दर सम्पादित संस्करण हिन्दी-परिषद्, विश्वविद्यालय, प्रयाग से सन् १९५३ में प्रकाशित कराया। उक्त प्रतियों को पाँच समूह में रखा गया, जो कम से कम पाँच पाठ

---

१. 'तुम्हहांसीय सरिसउ कोट हसार'।।३३।। पृ० २७ (डा० अग्रवाल का संस्करण)।

२. (अ) संवत् १५३३ वर्षे आसोज सुदि २ दिने हिसार पेरोजा पत्तने लिखित मित्ति
(आ) णामें हिसार पिरोज अत्थि, कारविउ पेरोज साहि सत्थि।।
(इ) रइओ कोट हिसारे.....।

३. यह प्रति विद्या प्रचारिणी जैन सभा, जयपुर के संग्रह में थी, दे० उक्त त्रार्षिक खोज-रिपोर्ट, पृ० ७७, सं० ६०। अब यह प्रति बीकानेर के श्री अगरचन्द नाहटा के संग्रह (अभय जैन ग्रन्थालय) में है।

४. उन्होंने प्राप्त पाठों में कोई अधिक हेर-फेर नहीं किया। कुछ सामान्य संशोधनों के साथ-साथ पाठ में जहाँ यत्र-तत्र कुछ शब्द छूटे हुए जान पड़ते थे, वहाँ उन्हें कोष्ठकों में देकर प्रसंगानुसार छन्दों के क्रम में कुछ परिवर्तन किया और पाद-टिप्पणी में कठिन शब्दों पर टिप्पणियाँ भी दी हैं।

५. प्रथम सर्ग में ८५, द्वितीय सर्ग में ८६, तृतीय सर्ग में १०३ और चतुर्थ सर्ग में ४२ छन्द हैं।

प्रस्तुत करती हैं और इनमें मिलाकर लगभग पौने पाँच सौ छन्द आते हैं। डा० गुप्त ने इनमें से कुल १२८ छन्दों को ही स्वीकार किया है, जिनमें उनके विचार से कथा-निर्वाह भली-भाँति हो जाता है। मूल पाठ में इतने ही छन्द हैं, शेष छन्दों को परिशिष्टि में रखा गया है। इस प्रकार यह 'रास' एक लघु ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत हुआ।

डा० गुप्त ने अपनी विस्तृत भूमिका में रचना से सम्बन्धित सभी आवश्यक तथ्यों पर विशदतापूर्वक प्रकाश डाला है और इसे सब प्रकार से उपयोगी बनाने का प्रयास किया गया है, जो कि निःसन्देह उल्लेखनीय है।

इस संस्करण के बाद इस ग्रन्थ का एक और संस्करण प्रकाशित हुआ। इसका प्रकाशन हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी से १९६२ ई० में हुआ था। इसका सम्पादन डा० तारकनाथ अग्रवाल ने किया है और वैज्ञानिक पद्धति से सम्पादित इस साहित्यिक कार्य पर उन्हें कलकत्ता विश्वविद्यालय से डी०फिल० की उपाधि प्राप्त हुई है अर्थात् डा० अग्रवाल का यह कार्य उपाधि-सापेक्ष था।

डा० अग्रवाल ने यह सम्पादन-कार्य डा० गुप्त के कार्य को मान्यता देते हुए भी एक अन्य दृष्टिकोण से किया है, जिसका अभाव उन्हें डा० गुप्त के संस्करण में दिखलाई दिया। डा० गुप्त ने यद्यपि प्राप्त पांडुलिपियों में सबसे प्राचीन प्रति सं० १६३३ वाली का भी उपयोग किया है, किन्तु पूर्णतया उसे आधार नहीं माना है। उन्होंने उसके छन्दों में से सिर्फ उन्हीं को प्रामाणिक माना है, जो सभी समूह की प्रतियों में प्राप्य हैं। इस प्रकार छन्दों की तुलना करके केवल १२८ छन्दों को ही ग्रहण किया है और इनके ही पाठ-भेद डा० गुप्त ने दिये हैं, जबकि सं० १६३३ की पांडुलिपि में २४६ छन्द हैं।

डा० अग्रवाल ने अपने सम्पादन में सं० १६३३ की प्राचीनतम प्रति को पूर्णतया आधार बनाया है और उसके सभी छन्दों को प्रामाणिक मानकर इस कार्य को नये ढंग से सम्पादित किया है। साथ ही अन्य प्राप्य २७ प्रतियों[1] के पाठ-भेद दिये गये हैं। वास्तव में इस ग्रन्थ की प्राप्य प्रतियों में दो रूपान्तर हैं – एक तो वह, जो चार खण्डों में विभक्त है और दूसरा वह, जिसमें खण्डों का कोई विभाजन नहीं है। इन दोनों रूपान्तरों में काफी भिन्नता पायी जाती है। खण्डों में अविभाजित रूपान्तर वाली प्रतियों में प्राचीनतम प्रति सं० १६३३ की है और खण्डों में विभाजित रूपान्तर वाली प्रतियों में प्राचीन प्रति सं० १६६६ की लिखी हुई है। ये दोनों प्रतियाँ दोनों रूपान्तरों की प्रतिनिधि प्रतियाँ हैं।[2] इस प्रकार डा० अग्रवाल ने दूसरे वैज्ञानिक ढंग से इसका पाठ-सम्पादन किया है, जिसका महत्त्व स्वतः स्पष्ट है। आरम्भ में एक विस्तृत भूमिका है, जिसमें उन्होंने ग्रन्थ से सम्बन्धित सभी आवश्यक तथ्यों पर विचार कर अपने निष्कर्षों को प्रस्तुत किया है। अतः इस रूप में भी यह एक सार्थक प्रयास है।[3]

१. डा० अग्रवाल ने उक्त प्रतियों को उनकी पुष्पिका के आधार पर चार समूहों में विभाजित किया है।
२. अतः इन्हीं दो प्रतियों को दोनों रूपान्तरों की प्रतिलिपि प्रति मानकर सम्पादन-कार्य किया गया है।
३. यद्यपि सम्पादन में परिश्रम किया गया है, किन्तु फिर भी इसके एक नवीन सुसम्पादित संस्करण की जरूरत है। अतः राजस्थानी के किसी मर्मज्ञ विद्वान् को यह कार्य सम्पादित कर इस अभाव की पूर्ति करनी चाहिए।

२. भक्तिकाल

२.१ हिन्दी का प्रेमाख्यानक काव्य – 'छिताई चरित'

सन् १६४१ ई० में काशी नागरी प्रचारिणी सभा की खोज में इलाहाबाद के म्युनिसिपल म्यूजियम में सुरक्षित 'छिताई-कथा' की एक खंडित हस्तलिखित प्रति कवि रतन रंग की रचना के रूप में प्राप्त हुई थी। यह प्रति सं० १६८२ वि० की लिखित है।[1] श्री बटे कृष्ण एम०ए० ने इस प्रति के आधार पर ही 'छिताई-चरित' नाम से एक विस्तृत लेख 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', वर्ष-५१, अंक ३ व ४ में प्रकाशित कराया था[2], जिसमें उसकी कथावस्तु देकर उसकी ऐतिहासिकता पर विचार किया गया था।

सन् १६४३ में श्री अगर चन्द नाहटा का एक लेख 'विशाल भारत' के मई अंक में 'छिताई-वार्ता' के सार-संक्षेप रूप में प्रकाशित हुआ था। 'छिताई-वार्ता' की यह हस्तलिखित प्रति उन्हें बीकानेर के खरतर गच्छीय बृहद् ज्ञान भंडार के संग्रह में प्राप्त हुई थी। दुर्भाग्य से यह प्रति भी खण्डित है। रचना के अन्तिम पद्यानुसार इसका रचयिता 'नारायण दास' है। 'वार्ता' के इस हस्तलिखित लेख का लिपि-काल सं० १६४७ वि० है। इसमें रचना का नाम 'छिताई-वार्ता' है।[3]

ध्यातव्य है कि रतन रंग की 'छिताई-कथा' और नारायण दास की 'छिताई-वार्ता' का कथानक एक ही है, जिसमें अलाउद्दीन द्वारा देवगिरि की राजकुमारी 'छिताई' के अपहरण की कथा वर्णित है। कथा ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस कथा का उल्लेख बहुत पहले से काव्यों में होता आ रहा है। जायसी कृत 'पदमावत' और केशव कृत 'वीर सिंह देव चरित' में छिताई की कथा का उल्लेख मिलता है।[4] प्रतीत होता है

१. दे० खोज-रिपोर्ट, १६४१-४३ ई०, सं० २१२, पृ० १७; १२४-२५, प्र० भा० तथा पृ० ६४०-४१, द्वि० भाग। 'रतन रंग' कवि देषि विचारि – करी कथा सों अमृत सार।।
'फागुन वदि ४ चन्द्रे सं० १६८२ व्रषे'।

२. उक्त अंकों का प्रकाशन सं० २००३ वि० (सन् १६४६ ई०) में हुआ था।

३. 'घर आन्यो सुरसी राइ। नारायण दास कहे उछाहि।।'
'इति छिताई वार्ता समाप्त।' 'संवत १६४७ वर्षे माधव वदि ६ दिने...।' (दे० राजस्थान में हिं० के ह०लि० ग्रन्थों की खोज, पृ० २१२-१३, चतुर्थ भाग)

४. (अ) पदमावत में छिताई विषयक निम्नलिखित उल्लेख मिलते हैं –

कि यह उल्लेख लोक-प्रसिद्ध कथा के ही आधार पर है, क्योंकि उनमें किसी रचना या रचनाकार के नाम का उल्लेख नहीं है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि डा० माताप्रसाद गुप्त ने इलाहाबाद एवं बीकानेर की उक्त दोनों खण्डित प्रतियों के आधार पर इस रचना का पाठ संपादित किया था, जिसका प्रकाशन 'छिताई-वार्ता' नाम से काशी की नागरी प्रचारिणी सभा से हुआ है। इस संपादित अपूर्ण पाठ के सम्बन्ध में यह निःसंकोच रूप से कहा जा सकता है कि डा० माताप्रसाद गुप्त ने दो भ्रष्ट एवं अधूरे पाठों के आधार पर जो कुछ प्रस्तुत किया है, वह उन जैसे विद्वान् द्वारा ही सम्भव था।

सौभाग्य से इस ग्रन्थ की एक पूर्ण हस्तलिखित प्रति 'छिताई कथा प्रबन्ध' नाम से विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध-संस्थान, साधु आश्रम, होशियारपुर (पंजाब) के संग्रह से सुलभ हो गयी और तब उक्त तीनों प्रतियों के आधार पर श्री हरिहर निवास द्विवेदी तथा श्री अगरचन्द नाहटा ने इस ग्रन्थ का सुसंपादित पाठ प्रस्तुत किया, जिसका प्रकाशन 'छिताई चरित' नाम से विद्या मन्दिर, ग्वालियर से हुआ है। इस पूर्ण प्रति से इस ग्रन्थ के रचयिता के रूप में 'नारायण दास' व 'रतन रंग' के अलावा एक तीसरा नाम 'देवचन्द' का और पता चला।[1] इस प्रकार 'छिताई चरित' के प्रस्तुत पाठ के रचयिता तीन कवि हैं। इनमें मूलतः उसे नारायणदास ने लिखा था। तत्पश्चात् किसी रतन रंग नामक अथवा रतन रंग उपनामधारी कवि ने उसमें कुछ भाग जोड़ा और अन्त में देव चन्द्र ने उसे परिवर्धित किया।[2] अतः यह तीन कवियों की संयुक्त रचना है। रतन रंग तथा देव चन्द्र ने उसमें परिवर्धन नारायण दास की स्वीकृति से किये थे और उन्हें स्वयं नारायण दास ने स्वीकार कर लिया

'बादशाह चढ़ाई खण्ड' के अन्तर्गत –

(क) काँपि उदै गिरि देवगिरि डरा। तब सो छिताई अब केहि धरा।।५००।७

सरजा द्वारा अलाउद्दीन की शक्ति के वर्णन से रतनसेन को आतंकित करने और रतनसेन के उत्तर में –

(ख) बोलु न राजा आप जनाई। लीन्ह उदै गिरि लीन्ह छिताई।।४६२।१

इस पर रतनसेन उत्तर देता है – जो छलि आने जाइ छिताई। तब का भएउ जो मुक्ख जनाई।।४६३।७।' 'छिताई चरित' में उक्त तथ्य विषयक पंक्तियों को देखते हुए यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि जायसी के समक्ष 'छिताई-चरित' नामक यह काव्य था, क्योंकि जायसी ने पद्मावत में छिताई के आख्यान का उल्लेख छिताई-चरित के कथानक के अनुसार ही किया है। अतः 'छिताई चरित' का जायसी के 'पदमावत' के अध्ययन में भी विशेष महत्त्व है।

(आ) केशवदास कृत 'वीर सिंह देव चरित' में छिताई का उल्लेख इस प्रकार है –

तू बपुरा को दुख दे सकै। कैसैं पंगु सिन्धु को नकै।

साहि छिताई को ले जाई। बिहना फूल्यौ अंग न माई।।३६।। द्वितीय प्रकाश।

१. 'आधी कथा नराइन करी। संपूरन दिउ चंदु उचरी।'।।

२. इस प्रेमाख्यानक काव्य के मूल रचयिता नारायण दास, (जो ग्वालियर के तोमर राजाओं के आश्रित कवि और महाभारत कथा के रचनाकार विष्णुदास के पुत्र माने गये हैं), उनके शिष्य रतन रंग तथा तीसरे रचनाकार देव चन्द्र के परिचय के लिए देखें – 'छिताई चरित', सम्पा० श्री हरिहर निवास द्विवेदी तथा श्री अगरचन्द नाहटा, प्रस्तावना, पृ० १२ से २६, शीर्षक – 'छिताई चरित के रचयिता'।

था, ऐसा होशियारपुर की प्रति से ज्ञात होता है।[1]

यहीं यह स्पष्ट कर देना भी उचित होगा कि इस ग्रन्थ की प्राप्त प्रतियों की पुष्पिकाओं में यद्यपि 'छिताई-कथा', 'छिताई-वार्ता' व 'छिताई कथा-प्रबन्ध' जैसे नामसूचक शब्दों का उल्लेख हुआ है,[2] किन्तु रचना का नाम 'छिताई चरित' ही अधिक उपयुक्त है, क्योंकि अन्तिम छन्द में इसी का उल्लेख है – 'चरित छिताई आयो छेऊ। सब कहं जयो नरायन देऊ।।'

'छिताई चरित' में चूँकि रचना-काल का अभाव है, इसीलिए उसके संबंध में भिन्न-भिन्न अनुमान किये गये हैं। डा० माताप्रसाद गुप्त ने अपने संपादित संस्करण की भूमिका में बीकानेर-प्रति के प्रतिलिपि-काल सं० १६४७ वि० के आधार से हस्तलेखों की पीढ़ियाँ निर्धारित कर नारायण दास की रचना का समय सं० १५०० वि० के लगभग और रतन रंग के कृतित्व को सं० १५५० के आसपास का माना है, किन्तु इसी संस्करण में 'परिचय' के अन्तर्गत श्री रुद्र काशिकेय ने इसका रचना-काल सं० १६२७ माना है, जो पूर्णतया भ्रमात्मक है, क्योंकि ग्रन्थ में ही कवि नारायण दास ने सारंगपुर में पहुँचकर अपने द्वारा सं० १५८३ में 'छिताई-चरित' को सुनाने का उल्लेख किया है।[3] अतः इससे स्पष्ट है कि रचना का निर्माण उक्त संवत् से पूर्व ही हो चुका था।

श्री हरिहर निवास द्विवेदी ने रचनागत कुछ उल्लेखों एवं तत्कालीन परिस्थितियों के संदर्भ से 'छिताई चरित' के नारायण दास के अंश का रचना-काल सं० १५३२-१५३७ (सन् १४७५-१४८० ई०) के लगभग माना है।[4] बाद में दो व्यक्तियों ने इसमें परिवर्धन किया। इस दृष्टि से देखा जाए तो उक्त अनुमित रचना-काल उपयुक्त ही है।

'छिताई चरित' की कथावस्तु अति संक्षेप में इस प्रकार है –

देवगिरि में राजा रामदेव राज्य करता था। उस पर दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन ने आक्रमण करने के लिए अपने सेनापति को भेजा। उस आगत विपत्ति से बचने के लिए

---

१. विस्तृत जानकारी के लिए देखें, वही, प्रस्तावना। प्राप्त उल्लेखों से ज्ञात होता है कि रतन रंग और देव चन्द्र दोनों ने अपना अंशदान देकर इसकी रचना में जो सहयोग किया, वह निःसन्देह महत्त्वशाली है, किन्तु सम्पूर्ण कथा के वस्तु-संगठन में नारायण दास से उसका भिन्न महत्त्व नहीं है और यह सारा परिवर्तन एवं परिवर्द्धन उसकी सम्मति से ही हुआ है। रचना के अन्तःसाक्ष्य से यह सिद्ध है।

२. (क) 'इतिश्री छिताई कथा सम्पूर्ण समापता।।' (ख) 'इतिश्री छिताई वार्ता समाप्तः।।' (ग) 'इतिश्री छिताई कथा प्रबंध समाप्तानि।।'

३. **महानगर सारंगपुरि भलो। तिहिं पुर सलहदीन जांगलौ।।**

x x x x x x

पंद्रह सइ तिरासी माता। कछुलक सुनी पाछली बाता।।
सुदि आषाढ सातइ तिथि भई। कथा छिताई जंपन लई।।

नारायण दास ने इस आख्यान की रचना सं० १५८३ के पूर्व कर ली थी, किन्तु कथा के अन्तर्गत आनेवाले सारंगपुर (जहाँ सलहदीन का शासन था) के वर्णन और विष्णु मन्दिर में कथा सुनाने के उल्लेख से ज्ञात होता है कि उसमें आवश्यक संशोधन-परिवर्तन उस समय किया गया होगा। सलहदीन की मृत्यु सं० १५८६ वि० में हुई थी।

४. दे० छिताई चरित, प्रस्तावना, पृ० २६

राजा ने सन्धि कर ली और स्वयं भी सुल्तान से भेंट-हेतु सेनापति के साथ दिल्ली गया। वहाँ वह कुछ समय तक रहा और लौटते समय अपने साथ एक चित्रकार को लेकर वह देवगिरि आया। वह चित्रकार वहाँ कई वर्ष तक रहा। जब वह आने लगा तो राजा ने अलाउद्दीन के लिए बहुमूल्य भेंट एवं भीमसेनी कपूर भेजा। चित्रकार ने दिल्ली पहुँचकर उक्त भेंट को तो दिया ही, साथ ही देवगिरि की राजकुमारी छिताई का चित्र भी बादशाह को दिखाया, जिसे देखते ही वह मूर्छित हो गया। फिर क्या था, देवगिरि पर चढ़ाई हुई और रामदेव की पुत्री छिताई को, जिसका विवाह सौंरसी (समर सिंह) के साथ हो चुका था, छल द्वारा अपहरण कर दिल्ली लाया गया और इस प्रकार विजय के रूप में अलाउद्दीन की अभीष्ट-पूर्ति हुई।

दिल्ली में छिताई ने मारे दुःख के खाना-पीना सब त्याग दिया। उसे समझाने-बुझाने का भी कोई परिणाम नहीं निकला और वह अपने आचरण पर दृढ़ रही। उसकी दृढ़ता को देखकर अन्त में सुलतान ने उसकी ओर से अपनी पाप-दृष्टि हटा ली और राघव चेतन की निगरानी में रख दिया। साथ ही संगीत के अभ्यास आदि का विशेष प्रबन्ध भी कर दिया।

छिताई के पकड़े जाने का समाचार पाकर सौंरसी बहुत व्यथित हुआ। वह सब कुछ छोड़कर योगी हो गया। वीणा लेकर वह विरक्त वेश में इधर-उधर घूमने लगा। साधुओं से भेंट होने पर उसे उनसे छिताई की स्थिति का पता चला। वीणा बजाकर दिन काटते हुए, वह छिताई की खोज करते-करते दिल्ली पहुँचा। दिल्ली में भी उसकी वीणा-वादन की विशेष ख्याति फैली।

सौंरसी एक दिन घूमते-घूमते दिल्ली के प्रसिद्ध संगीतज्ञ जनगोपाल (जिनके यहाँ छिताई ने अपनी वीणा रखवा दी थी) के निवास-स्थान के पास से होकर निकला। लोगों ने उसे नाद-प्रेमी समझ छिताई की वीणा बजाने को दी। उसने उससे जैसे ही मधुर स्वर निकाला कि सब लोग मुग्ध हो गये। छिताई की एक दासी ने यह सब देख-सुन झट अपनी स्वामिनी के पास जा सारा वृत्तान्त निवेदित किया। तत्पश्चात् सौंरसी की राघव चेतन से मुलाकात हुई। राघव चेतन योगी सौंरसी को साथ लेकर दरबार में उपस्थित हुआ। वहाँ भी उसने वीणा-वादन का अपना चमत्कार दिखाकर सबको वशीभूत कर लिया। बादशाह ने उससे बेगमों के सामने भी वीणा बजाने का आग्रह किया। रनिवास में उसके सामने छिताई भी बुलाई गयी। सौंरसी को देखकर उसके नेत्रों से आँसू बहने लगे, जो सामने बैठे हुए सुलतान के ऊपर गिरे। सुलतान ने छानबीन करके सारा रहस्य जान लिया और अन्त में उसे सौंरसी के सुपुर्द कर दिया तथा बहुत से हाथी, घोड़े, रत्न आदि देकर उन दोनों को विदा किया।

दिल्ली से चलकर छिताई सहित सौंरसी जब देवगिरि पहुँचा तब राजा रामदेव ने उन दोनों का स्वागत-सत्कार किया और धूमधाम से अपने किले में ले गया। खोई हुई पुत्री और जामाता को पाकर वहाँ के लोग प्रसन्न हो उठे। उत्सव मनाये गये। कुछ दिन वहाँ रहकर सौंरसी छिताई को साथ लेकर अपने पैतृक स्थान ढोल समुद (द्वार समुद्र)

चला गया। वहाँ सबसे मिला और फिर सुखपूर्वक राज करने लगा। कथा के अन्त में फल-श्रुति भी दी गयी है।[१]

'छिताई चरित' के कथानक से प्रकट है कि नारायण दास के इस काव्य की कथावस्तु के चयन में प्राचीन लोक-श्रुति एवं कल्पना के सहारे अपने से लगभग दो शती पूर्व घटित राजनीतिक घटनाओं को उसका आधार बनाया है। यह प्रेमाख्यानक सुखान्त है। यद्यपि यह प्रेमाख्यान काव्य देवगिरि के राजा रामदेव की राजकुमारी छिताई तथा द्वार समुद्र के राजकुमार सौंरसी (समर सिंह) के प्रेम की कहानी है, किन्तु उसी के वर्णन-प्रसंग में रचयिता ने तत्कालीन देश के सांस्कृतिक इतिहास की उपादेय सामग्री भी प्रस्तुत की है, जो समकालीन संस्कृति एवं समाज के स्वरूप को प्रतिबिम्बित करने में समर्थ है। अत: मध्यकालीन संस्कृति का चित्रण भी इसमें अत्यन्त विशद् रूप से हुआ है।

'छिताई चरित' हिन्दी की लौकिक आख्यान काव्य-धारा की एक श्रेष्ठ रचना है, जो राजनैतिक इतिहास की घटनाओं के कथा-बीज पर आधारित है। कथाबीज के रूप में 'छिताई चरित' में जहाँ देवगिरि के राजा रामदेव और अलाउद्दीन के ऐतिहासिक युद्धों को आधार बनाया गया है, वहीं कथावस्तु को आगे बढ़ाने एवं आकर्षण उत्पन्न करने के लिए परम्परागत कथा-युक्तियों, कथा-रूढ़ियों तथा कल्पना का सहारा भी लिया गया है। इनका प्रयोग कथा-सर्जन की रचना-विधा से सम्बद्ध है। इस प्रकार छिताई चरितान्तर्गत कथावस्तु के स्पष्टत: दो खण्ड हैं। पूर्वार्ध में छिताई-हरण तक की कथा है और उत्तरार्ध में समर सिंह (सौंरसी) द्वारा छिताई की प्राप्ति का वृत्तान्त है। कथावस्तु को इन दो खण्डों में विभक्त कर छिताई चरित के रचयिताओं ने अपने प्रतिपाद्य (उद्देश्य) की प्राप्ति की है। प्रथम खण्ड में हिन्दुओं के पराक्रम और तुर्कों (मुसलमानों) की अनैतिकता का निरूपण हुआ है (क्योंकि उन्होंने छल से छिताई का हरण किया) और कथानक के दूसरे खण्ड में पति-पत्नी की एकान्त निष्ठा का अंकन है अर्थात् सौंरसी द्वारा छिताई की प्राप्ति के लिए की गयी एकान्त साधना का निरूपण किया गया है। 'कथा' को ऐतिहासिक मानने में कोई बाधा नहीं है, क्योंकि इसमें वर्णित प्रधान व्यक्ति, प्रमुख स्थान तथा घटनाओं का आधार इतिहास पर अवलम्बित है।[२]

अब यह देखना है कि देवगिरि के यादव राजा रामदेव की पुत्री छिताई[३] के संबध

---

१. 'जो यहु कथा सुनइ दै काना। ता फलु गंगा होइ असनाना।'

२. 'छिताई चरित' की ऐतिहासिकता को लेकर डा० दशरथ शर्मा तथा डा० बटे कृष्ण में विवाद भी हुआ था। दे० हिन्दुस्तानी, भाग १७, अंक १ व भाग १७, अंक ४ (१९४७ ई०)। वैसे यदि देखा जाए तो प्रस्तुत कथा को पूर्णतया इतिहास की कसौटी पर कसना उचित नहीं है; क्योंकि मध्य युग के कथा-प्रबन्धों की एक सामान्य प्रवृत्ति यह थी कि उसके लेखक किसी एक ऐतिहासिक चरित्र की मूल विशेषताओं और मुख्य प्रवृत्तियों को अपनी रचना का आधार बनाने के साथ ही लोककथाओं और कल्पना का भी प्रयोग करते थे। ऐसा ही इसमें भी हुआ है। छिताई की कथा भी जनजीवन के बीच अत्यन्त लोकप्रिय थी। उसी आधार से कवि ने उसे काव्यरूप प्रदान किया है।

३. कवि जान ने भी सं० १६९३ में 'कथा छिताई की' (छीता-कथा) नामक एक प्रेम-काव्य लिखा है। इसमें 'छीता' नाम छिताई का ही है। छिताई (सीता + आई) नाम का मूल द्विवेदी जी के अनुसार

में तत्कालीन तथा अन्य फारसी इतिहास-लेखकों ने क्या कोई उल्लेख किया है, जिससे रामदेवी की पुत्री के रूप में छिताई के नामोल्लेख की पुष्टि होती हो ? इस दृष्टि से जब विचार करते हैं तो निराश नहीं होना पड़ता। अलाउद्दीन के इतिहास से सम्बन्धित फारसी ग्रन्थों का हिन्दी-अनुवाद – 'खलजीकालीन भारत' नामक ग्रन्थ-रूप में डा० सैयद अतहर अब्बास रिजवी ने अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय से कराया है। इस ग्रन्थ के पृ० २०७-२०८ पर यह उल्लेख मिलता है – "रामदेव की पुत्री झिताई के पुत्र उमर खाँ, जिसकी पदवी शिहाबुद्दीन थी, को अलाउद्दीन के बाद मलिक नायब ने गद्दी पर बैठाया था। उस समय उसकी अवस्था छह साल कुछ महीने की थी।" यह उद्धरण अब्दुल्ला मलिक एसामी के 'फुतूहस्सलातीन' नामक फारसी इतिहास-ग्रन्थ का है। यह इतिहासकार अलाउद्दीन का समकालीन है।

इस उद्धरण में छिताई का उल्लेख 'झिताई' नाम से हुआ है, जो फारसी लिपि के कारण है। उक्त उल्लेख से ज्ञात होता है कि रामदेव की पुत्री 'छिताई' को अलाउद्दीन ने अपनी 'बेगम' बनाया था। किन्तु वह 'शाह' के हरम में कैसे आई, इस सम्बन्ध में स्पष्टता का अभाव है। एसामी के ग्रन्थ के मद्रास संस्करण में जहाँ उक्त उद्धरणोल्लेख के अलावा और कोई उल्लेख छिताई के सम्बन्ध में नहीं मिलता, वहाँ उक्त ग्रन्थ के आगरा-संस्करण में रामदेव द्वारा अपनी पुत्री भी 'शाह' को देने का उल्लेख है।[1] एक अन्य इतिहास-लेखक वस्साफ ने भी राय के द्वारा सुलतान को अपनी बेटी देने का उल्लेख किया है। एक ही रचना के दो संस्करण में एक ही घटना में यह अन्तर विस्मयकारी तो है ही।

श्री हरिहर निवास द्विवेदी ने अलाउद्दीन विषयक फारसी-इतिहास-ग्रन्थों पर विचार किया है और उन्होंने छिताई सम्बन्धी उक्त तथ्य अर्थात् अलाउद्दीन द्वारा छिताई को अपनी बेगम बनाये जाने को विश्वसनीय नहीं माना है। उनके विचारानुसार – "इन रचनाओं में निरपेक्ष इतिहास की खोज व्यर्थ है। ये सोद्देश्य लिखी हैं। इनका लक्ष्य घटनाओं का यथातथ्य वर्णन देना न होकर चाटुकारिता तथा वैमनस्य-प्रदर्शन एवं आधुनिक अर्थों में 'प्रचार' रहा है।"[2] द्विवेदी जी का उक्त विचार बहुत कुछ सही है और इसमें कोई सन्देह नहीं है। परन्तु 'छिताई चरित' की साक्षी पर उनका यह मान लेना कि 'अलाउद्दीन द्वारा छिताई का अपहरण करके लाया तो गया, किन्तु जिसे पुनः समर सिंह को लौटा दिया गया', पर भी किसी प्रकार विश्वास नहीं किया जा सकता। कारण यह है कि अलाउद्दीन एक क्रूर-धर्मा

'सीता' है। बुंदेलखण्ड में 'सीता' को 'छीता' कहा जाता है। 'आई' आदरास्पद पद है। जान कवि ने अपने इस काव्य में कथानक को 'छिताई चरित' के समान रखते हुए भी कल्पना को विशेष स्थान दिया है। अतः उसका इतिवृत्त कल्पित लगता है, ऐतिहासिक नहीं। ये जान कवि फतहपुर (जयपुर के निकट) के नवाबी वंश से थे। वैसे वे चौहान राजपूत वंश के थे, किन्तु उनके पूर्वजों ने इस्लाम ग्रहण कर लिया था।

१. दे० 'छिताई वार्ता' (डा० माताप्रसाद गुप्त-संस्करण), पृ० ५६।

२. दे० 'छिताई चरित' (द्विवेदी एवं नाहटा-संस्करण), प्रस्तावना, पृ० ५५।

एवं अति कामुक व्यक्ति था, ऐसा उस विषयक (तत्कालीन) इतिहास-ग्रन्थों से स्वत: सिद्ध है। उसकी मृत्यु का कारण भी यही कामुकता थी। इसीलिए उसकी मृत्यु अतिशय योनि-सेवन के कारण उत्पन्न हुए 'जलोदर रोग' से हुई थी। इतिहास-ग्रन्थों से यह तथ्य प्रमाणित है।[१]

तुर्कों (मुसलमानों) की नृशंसता एवं अलाउद्दीन की कामुकता का चित्रण 'छिताई चरित' में भी किया गया है, किन्तु साथ ही उसमें उदारता एवं वचन निभाने के गुणों का समावेश भी किया गया है, जिसे तत्कालीन परिस्थितियों अर्थात् कवि के समय का प्रभाव माना गया है, किन्तु यह सही नहीं है। अत: यह तथ्य विचारणीय है।

वास्तविकता यह है कि कवि नारायण दास ने 'कथा' में यह नया मोड़ देकर 'छिताई' के 'सत्त' की स्थापना की है और रचना को सुखान्त बनाया है। वह नहीं चाहता था कि रचना का अन्त छिताई के अपहरण के साथ हो। उसका उद्देश्य समाज के सामने एक आदर्श प्रस्तुत करना भी था[२], क्योंकि तुर्कों द्वारा अपहृत रमणियों के लिए उनके सामने रावण द्वारा अपहृत सीता का आदर्श था। अत: उसने उसी को सामने रखकर अलाउद्दीन द्वारा अपहृत देवगिरि की छिताई को नायिका बनाकर अपना यह कथा-ग्रन्थ रचा। इसीलिए कवि को अलाउद्दीन के चरित में उदारता एवं वचन निर्वाह के गुणों का समावेश करना पड़ा। यह सहानुभूति कथा-निर्वाह-हेतु सायास है। यह अलाउद्दीन के चरित का वास्तविक गुण नहीं है।[३] यह सब कवि द्वारा अपने समय की रचनाओं के प्रभाव में कल्पना-प्रसूत है, क्योंकि इस युग के साहित्य में 'शूर', 'साधु' एवं 'सती' के 'सत्त' की पुनर्स्थापना बारम्बार की गयी है और यही उसकी विशेषता है। यही कारण है कि पति अथवा प्रेमी के प्रति एक निष्ठा इस युग की रचनाओं में प्रतिपादित हुई है।

'एसामी' ने अपने ग्रन्थ में छिताई-सम्बन्धी उल्लेखान्तर्गत उसके पुत्र की जो आयु (छह साल कुछ महीने) दी है, उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि देवगिरि पर अलाउद्दीन द्वारा किये गये दूसरे आक्रमण के समय ही छिताई को छल-बल से अपहृत कर दिल्ली लाया गया था और उसे बेगम बनाया गया था। अलाउद्दीन ने देवगिरि पर दूसरा आक्रमण सन् १३०७ ई० में किया था (रामदेव की मृत्यु १३०९ ई० में हुई थी) और उसकी (सुल्तान की) मृत्यु १३१६ ई० में हुई थी[४], जबकि उसके बाद छिताई के उक्त

---

१. दे० 'खलजीकालीन भारत' (डा० रिजवी) में अलाउद्दीन का उल्लेख।

२. समसामयिक परिस्थितियों में इस प्रकार के सामाजिक और वैयक्तिक आदर्शों की प्रतिष्ठा आवश्यक थी। अत: यह अभिव्यक्ति सोद्देश्य है और इस सोद्देश्यता को काव्योचित ही कहा जाएगा।

३. कथा के विकास में खलनायक का महत्त्व भी कम नहीं होता। रचना के खलनायक अलाउद्दीन के चरित्र की कुप्रवृत्तियों का विकास अपनी चरम सीमा पर है। छल-प्रपंच, सौन्दर्यलिप्सा तथा कुटिल चातुर्य उसके अनिवार्य अवगुण हैं। अलाउद्दीन के चरित्र में सद्प्रवृत्तियों का आरोपण इतिहास के विपरीत और अत्यन्त अतिशयोक्तिपूर्ण है, किन्तु कथा-प्रबन्ध में तत्कालीन कथा-रूढ़ियों एवं कवि-कल्पना आदि का भी पूर्ण समावेश है, जो कि उस समय की एक सामान्य प्रवृत्ति थी। उसी का प्रभाव अलाउद्दीन के चरित्र पर है।

४. दे० भारतीय मध्य युग का इतिहास (डा० ईश्वरी प्रसाद) पृ० २२९; २४७।

पुत्र को मलिक काफूर ने दिल्ली की गद्दी पर बैठाया था। इस दृष्टि से एसामी का उक्त उल्लेख सार्थक ही प्रतीत होता है।

जहाँ तक इस बात का प्रश्न है कि एसामी ने छिताई का उल्लेख अचानक कैसे कर दिया और देवगिरि के किसी आक्रमण के समय इसका उल्लेख क्यों नहीं किया, तो इस सम्बन्ध में इतना ही निवेदन है कि रामदेव ने अलाउद्दीन से अपनी पुत्री का विवाह नहीं किया था, अपितु छल-बल से उसका अपहरण हुआ था, जो बादशाह के लिए लांछन की बात थी। फिर लेखक ने प्रसंग के अनुसार जहाँ उचित समझा, वहाँ उसका उल्लेख कर दिया। संदर्भित उल्लेख उसके पुत्र के परिप्रेक्ष्य में हुआ है, जो प्रसंगगत है। अतः यह उल्लेख अविश्वसनीय नहीं है और आपत्ति निरर्थक है। अस्तु।

'छिताई-चरित'[1] का हिन्दी के प्रेमाख्यान काव्यों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'पदमावत' के पूर्ववर्ती रचित प्रेमाख्यानों में अपेक्षाकृत यह अधिक सरस एवं वस्तु-संगठन की दृष्टि से एक सफल कृति है। इस काव्य में हृदय को स्पर्श करनेवाले रसात्मक घटना-प्रसंगों के समावेश के साथ-साथ उनका स्वाभाविक एवं सुसम्बद्ध रूप प्राप्त होता है। कथा-प्रवाह के अन्तर्गत मर्म-स्थलों के संयोजन में कवि को अपने कार्य में सफलता मिली है। इसमें एक महाकाव्य के अनुरूप सभी रसों का सुन्दर समावेश किया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि यह एक शृंगार प्रधान काव्य है, किन्तु साथ ही इसके घटना-चक्र के भीतर सुख-दुःखपूर्ण जीवन-दशाओं का सम्यक् समावेश है, जिनका यथास्थान समुचित वर्णन हुआ है।

इस रचना का कवि भाव-व्यंजना में निपुण है तथा भाषा, अलंकार एवं छन्द-योजना आदि अर्थात् काव्य-कला की दृष्टि से भी सफल है। भाषा-प्रयोग की दृष्टि से तो इस काव्य का ऐतिहासिक महत्त्व है। कवि द्वारा प्रस्तुत अलंकार-विधान, भावाभिव्यक्ति एवं रूप-चित्रण के उत्कर्ष में सहायक है।

इस प्रकार यह रचना अनेक दृष्टियों से सफल तथा महत्त्वपूर्ण प्रबन्ध कृति है। साथ ही अपने सांस्कृतिक साक्ष्यों के कारण इस आख्यानक काव्य का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। यह तत्कालीन सांस्कृतिक परिवेश की जानकारी से पूर्ण है।

अतः इसमें सन्देह नहीं कि 'छिताई चरित' मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य की एक उत्कृष्ट कृति है, जो रचयिता एवं रचना के सम्बन्ध में कवि की इस उक्ति को सार्थक करती है– 'जंपइ बिनु नरायन दासू। मरइ फूल जीवइ दिन बासू।'

२.२ श्री केशव काश्मीरी भट्टाचार्य का समय-निरूपण

वैष्णव सम्प्रदायों में निम्बार्क मत का एक विशिष्ट महत्त्व है। इसके प्रथम ऐतिहासिक प्रतिनिधि आचार्य निम्बार्क से परवर्ती विशिष्ट आचार्यों में श्री केशव काश्मीरी भट्टाचार्य ३०वीं (सम्प्रदाय परम्परा में ३३वीं) संख्या में माने जाते हैं। ये इस सम्प्रदाय में अत्यन्त प्रौढ़ विद्वान् हुए हैं। इन्हें श्री गांगल भट्टाचार्य का शिष्य माना जाता है और इनके जन्मोत्सव

१. यह समस्त काव्य 'छिताई' को ही केन्द्र बनाकर विरचित हुआ है और तीन कवियों की संयुक्त कृति होते हुए भी यह लौकिक आख्यान काव्यों की परम्परा की श्रेष्ठ रचना है।

की तिथि ज्येष्ठ शु० ४ कही जाती है (श्री आचार्य-परम्परा-परिचय, पृ० १३-१४)। यद्यपि ये तैलंग प्रदेशीय दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे, तथापि कश्मीर में अधिक काल तक निवास करने के कारण काश्मीरी कहलाते थे। इनका जन्म निम्बार्काचार्य जी के वंश में उन्हीं के जन्म-स्थान वैदूर्यपत्तन (आन्ध्र प्रदेश) में हुआ था। ये दिग्विजयी विद्वान्, तपस्वी महात्मा, परम भक्त और प्रकाण्ड शास्त्रवेत्ता थे। इन्होंने तीन बार समस्त भारत की यात्राएँ की थीं, जिनमें उन्होंने विधर्मियों को पराजित कर वैष्णव धर्म का प्रचार किया था। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। इनमें प्रस्थान त्रयी पर उनके विद्वत्तापूर्ण भाष्य और भागवत की टीका विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अपने उत्तर जीवन में वे ब्रज में आकर बस गये थे। उनका निवास-स्थान मथुरा में ध्रुव-क्षेत्र था, जहाँ के ध्रुव टीला और उसके निकटवर्ती नारद टीला पर वे अपनी शिष्य-मंडली के साथ निवास करते थे। यहीं इनका देहावसान हुआ था, क्योंकि नारद टीला पर चरण-चिह्न युक्त जो तीन समाधियाँ बनी हुई हैं, उनमें से एक श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी की बतलाई जाती है।

यद्यपि शिवसिंह सेंगर ने अपने 'शिवसिंह सरोज' (१२२/१०८/६०) में इन्हें ब्रजभाषा का कवि माना है, किन्तु ये ब्रजभाषा के कवि नहीं थे। इनके नाम पर सरोज में जो पद उदाहृत है, वह किसी दूसरे भक्त केशव का है। इनके शिष्य श्री भट्ट निम्बार्क सम्प्रदाय में पहले भाषा-कवि हुए, इसीलिए उनकी रचना 'युगल शतक' सम्प्रदाय में 'आदि वाणी' कहलाती है। अस्तु।

इनके काल का भली-भाँति परिचय न मिलने के कारण निम्बार्क-सम्प्रदायानुयायी महानुभाव भी किसी एक निश्चित मत पर केन्द्रित नहीं हैं। सम्प्रदायानुगत तथा अन्य विद्वानों की मान्यता में तो अत्यधिक वैषम्य है। इस विषम पहेली को सुलझाना नितान्त आवश्यक है। इनका निश्चित समय-निरूपण इतिहास की अनिवार्य आवश्यकता है, क्योंकि इनके प्रामाणिक समय की जानकारी के बिना परवर्ती आचार्यों का भी समय-निर्धारण सम्भव नहीं है। अतः सत्य-प्राप्ति-हेतु समस्त उपलब्ध सामग्री का विवेचन करते हुए, अपने सीमित साधनों के बल पर तथा अपनी अल्पमत्यनुसार इस लेख द्वारा इस विषय की ओर प्रवृत्त हो रहा हूँ। आशा है, सभी विद्वान् सहृदयतापूर्वक विचार कर, सत्योद्घाटन में पूर्ण सहयोग प्रदान करेंगे।

केशव काश्मीरी भट्टाचार्य के अधिकांश जीवन-तथ्य अभी तक अज्ञानान्धकार के भीतर आवृत्त हैं। जीवन-तथ्य सम्बन्धी अभी तक जो कुछ विचार हुआ है, वह साम्प्रदायिक दृष्टिकोण मात्र से हुआ है। साम्प्रदायिक दृष्टि तो सदा पूज्य एवं श्रद्धा-भावना से ओत:प्रोत होती ही है। भावना-अतिरेक के कारण शुद्ध ऐतिह्य की उपेक्षा होना स्वाभाविक है। अतः आवश्यकता है कि शुद्ध ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक सरणी को अपनाया जाए।

साम्प्रदायिक मान्यतानुसार ये अलाउद्दीन खिलजी के समकालीन माने जाते हैं।[1] इसके साथ ही यह भी मान्यता है कि कश्मीर में पर्याप्त समय तक निवास कर इन्होंने

१. द्रष्टव्य – 'भागवत सम्प्रदाय', ले० पं० बलदेव उपाध्याय, प्र० ना० प्र० सभा, काशी, पृ० ३२०-२१ (प्र०सं०) तथा निम्बार्क माधुरी, सं० ब्रह्मचारी बिहारीशरण (सं० १९९७), पृ० ७ तथा ९।

मुसलमानों के अत्याचारों से हिन्दू धर्म की रक्षा की थी[1], किन्तु इतिहास से उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि नहीं होती।

अलाउद्दीन खलजी का राजत्व-काल सन् १२६६ ई० (१३५३ वि०) से सन् १३१६ ई० (१३७३ वि०) तक निश्चित है।[2] अलाउद्दीन खलजी क्या, सम्पूर्ण खलजी-वंश समाप्त होने तक भी कश्मीर में मुसलमानों का शासन प्रारम्भ नहीं हो पाया था। कश्मीर में मुसलमानी राज्य का आरम्भ राजा ऊदन देव की मृत्यु के पश्चात् हुआ। राजा ऊदन देव की मृत्यु हिजरी सन् ७४७ = १३४६-४७ (१४०३ -०४ वि०) में हुई थी।[3] अतः मुसलमानों से हिन्दू धर्म की रक्षा का कोई प्रश्न ही पैदा नहीं होता, फिर केशव जी ने कश्मीर में किन मुसलमानों के अत्याचारों से हिन्दू धर्म की रक्षा की थी ? उपर्युक्त विचार केवल अनुमानाश्रित है, किन्हीं ठोस आधारों पर आधारित नहीं है।

'निम्बार्क-माधुरी' के सम्पादक श्री ब्रह्मचारी बिहारी शरण जी ने 'निम्बार्क माधुरी' में केशव काश्मीरी भट्टाचार्य जी से सम्बन्धित कुछ और तथ्य प्रकट किये हैं, जिन पर यहाँ विचार किया जाता है।

ब्रह्मचारी जी ने 'निम्बार्क-माधुरी' के पृष्ठ ७ पर श्री भट्टजी की जीवनी लिखते हुए, केशव काश्मीरी जी के जीवन-काल के सम्बन्ध में "कई एक सौ वर्ष पर्यन्त पृथ्वी पर प्रगट रहना" माना है। इस लेख के विरुद्ध आपने अपने इसी ग्रन्थ के पृ० ४७३ पर इनका जीवन-काल "दो सौ वर्ष" सिद्ध किया है। एक स्थान पर अनिश्चितता तो दूसरे स्थान पर निश्चितता ! इससे तो ब्रह्मचारी जी की लेखनी की परस्पर विरुद्ध दो बातों से यह विषय मिथ्या सिद्ध होता है। केशव काश्मीरी जी को अष्टांग योग द्वारा सिद्धि प्राप्त योगी[4] ठहराना भी भक्ति-सिद्धान्त के विरुद्ध है। प्रमाण-रहित तथ्यों के आधार पर किसी बात को सत्य सिद्ध नहीं किया जा सकता।

'माधुरी' के पृष्ठ ७ पर ही लिखा है – "इन्हीं आचार्य केशव काश्मीरी भट्टजी का बनवाया हुआ मथुरा में श्री केशव देव जी का जगत्-प्रसिद्ध मन्दिर था, जिसे औरंगजेब ने समूल तुड़वाकर मसजिद बनवा दिया है।"

इस उपहासास्पद लेख के सम्बन्ध में अधिक क्या कहूँ ? बस, केवल इतना ही कि इतिहास की अनभिज्ञता की पराकाष्ठा है। मथुरा का यह केशवदेव मन्दिर जहाँगीर के शासन-काल में 'हिन्दुत्व के अभिमानी' ओरछा के बुन्देला-नरेश श्री वीरसिंह देव द्वारा लगभग ३३ लाख रुपये के व्यय से बनवाया गया था।[5]

१. द्रष्टव्य – श्री सर्वेश्वर-वर्ष ३, अंक १, पृ० ३ तथा श्री सर्वेश्वर-वृन्दावनांक (वर्ष ५, अंक १-५), पृ० २१४
२. द्रष्टव्य – दिल्ली सल्तनत – डा० आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, पृ० १६६ तथा १६६ व १६६।
३. द्रष्टव्य – उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग २ – सैयद अतहर अब्बास रिजवी, प्र० इतिहास-विभाग, मुस्लिम विश्वविद्यालय अलीगढ़, पृ० ५१२
४. निम्बार्क माधुरी, पृ० ४७३
५. विशेष विवरण के लिए देखिए – व्रज साहित्य मंडल मथुरा द्वारा प्रकाशित तथा श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी द्वारा लिखित – श्री कृष्ण जन्म-स्थान का इतिहास।

काश्मीरी जी के जीवन की एक घटना सर्वत्र प्रसिद्ध है। कहते हैं कि हिन्दुओं की परम-पूज्य, धर्मप्रधान मथुरापुरी के विश्राम घाट पर यवनों ने एक ऐसा यन्त्र स्थापित किया कि जिसके प्रभाव से जो भी हिन्दू उधर से निकलता, उसकी स्वत: सुन्नत हो जाती और वह मुसलमान बन जाता। काश्मीरी जी सूचना पाकर उस स्थान पर अपने शिष्यों के साथ पहुँचे और अपने प्रभाव से उस यन्त्र को व्यर्थ बना डाला। इस आश्चर्यमयी घटना के सम्बन्ध में कई एक कहावतें प्रचलित हैं। कुछ भी हो, किसी भी शैली में कार्य हुआ हो, किन्तु यह निश्चित है कि उस आपत्तिकाल में काश्मीरी जी ने हिन्दू धर्म की अनुपम रक्षा की थी।

नाभादास जी ने 'भक्तमाल' के ७५ वें छप्पय में इनके पूर्वोक्त चमत्कार तथा प्रभाव का वर्णन इस प्रकार किया है –

'केशौभट' नरमुकुटमणि, जिनकी प्रभुता बिस्तरी॥
'कास्मीरि' की छाप; पाप तापनि जग मंडन।
दृढ़ हरि भक्त कुठार, आन धर्म बिटप बिहंडन॥
मथुरा मध्य मलेच्छ, बाद करि, बरवट जीते।
काजी अजित अनेक देखि परचै भै भीते॥
बिदित बात संसार सब संत साखि नाहिन दुरी।
'केशौभट' नरमुकुटमणि, जिनकी प्रभुता बिस्तरी॥

इसी आशय को भक्तमाल की प्रसिद्ध 'भक्तिरस बोधिनी' टीका में प्रियादास जी ने और स्पष्ट करते हुए लिखा है[1] –

आप काश्मीर सुनी बसत विश्रांत तीर,
तुरक समूह द्वार जंत्र इक धारियै।
सहज सुभाय कोऊ निकसत आय,
ताको पकरत जाय ताकें 'सुन्नत' निहारियै॥
संग लै हजार शिष्य भरे भक्ति रंग महा,
अरे वही ठौर बोले नीच पट टारियै।
क्रोध भरि झारे आय, 'सूबा' पै पुकारे,
वे तौ देखि सबै हारे, मारे जल बोरि डारियै॥

प्रियादास जी ने अपनी टीका में उपुर्यक्त कवित्त के पूर्व केशव काश्मीरी जी से सम्बन्धित चार कवित्त और दिये हैं, जिनसे काश्मीरी जी के जीवन-काल के सम्बन्ध में अमूल्य ऐतिहासिक सूचना प्राप्त होती है। वे चारों कवित्त यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं[2]–

करि दिग बिजै, सब पंडित हराय दिये,
लिये बड़े बड़े जीति, भीति उपजाई है।

१. भक्तमाल सटीक – भक्ति सुधा स्वाद तिलक, पृ० ५६३, कवित्त सं० ३३७ (तृतीय संस्करण)।
२. वही, पृ० ५६० से ५६३ तक।

फिरत चौडोल चढ़े गज बाजि लोग संग,
प्रतिभा कौ रंग, आए 'नदिया' प्रभाई है॥
डरे द्विज भारी, महाप्रभू जू बिचारी तब,
लीला बिस्तारी, गंगातीर सुखदाई है।
बैठे ढिंग आय, बोले, नम्रता जनाय,
'रह्यो जग जसु छाय, नेकु सुनै मन भाई है'॥३३३॥
'लरिकान संग पढ़ौ, बातैं बड़ी बड़ी गढ़ौ,
ऐ पै रढ़ौ कहौं सोई, सीलता पै रीझिये।''
'गंगा कौ सरूप कहौ', 'चाहौ दृग आगे सोई',
नये सौ श्लोक किये, सुनि मति भीजियै॥
तामै, एक कंठ करि पढ़िकै सुनायौ 'अहो बड़ी अभिलाष,
याकी व्याख्या करि दीजियै'।
'अचरज भारी भयौ कैसे तुम सीखि लयो ?'
'दया लै प्रभाव तुम्है, ताने दयौ जीजियै'॥३३४॥
'दूषन औ भूषन हूँ कीजियै बखान याकै'
सुनि दुख मानि, कही 'दोष कहाँ पाइयै।'
'कविता प्रबन्ध मध्य रहै खोटि गंध अहो !
आज्ञा मोको देउ' कह्यो 'कहि कै सुनाइयै'॥
व्याख्या करि दई नई, औगुन सुगुन मई;
आये निज धाम 'भोर मिले' समुझाइयै।
सरस्वती ध्यान कियौ, आई ततकाल बाल,
'बाल पै हरायौ, सब जग जितवाइयै'॥३३५॥
बोली सरस्वती मेरे 'ईश भगवान वे तौ
मान मेरौ कितौ सन्मुख बतराइयै।
भयो दरसन तुम्है' मन परसन होत,
सुनि सुख सोत बानी आये प्रभु पाइयै॥
बिनै बहु करी, करि कृपा आप बोले अजू !
'भक्ति फल लीजै, काहू भूलि न हराइयै।'
हिये धरि लई, भीर भार छोड़ दई;
पुनि नई यह भई, सुनि दुष्ट मरवाइयै॥३३६॥

उपर्युक्त कवित्तों से प्रकट है कि केशव काश्मीरी दिग्विजय करते हुए नदिया पहुँचे और वहाँ शास्त्रार्थ में श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु से पराजित हुए और उन्होंने प्रभु पाद को सम्मानित किया। प्रियादास जी स्वयं चैतन्य-सम्प्रदायानुयायी थे। अतः यह सम्भावना की जा सकती है कि उन्होंने साम्प्रदायिक भावना से ऐसा उल्लेख

कर दिया हो।[1] लेखक को इस विवाद में पड़ना अभीष्ट नहीं है; किन्तु प्रियादास जी के इस कथन से इतना अवश्य निश्चित होता है कि केशव काश्मीरी भट्टाचार्य, महाप्रभु कृष्ण चैतन्य के समकालीन थे।

नाभाजी कृत 'भक्तमाल' प्राचीन एवं सर्वमान्य ग्रन्थ है। भक्तमाल के ऊपर प्रियादास जी कृत 'भक्ति रस बोधिनी' टीका भी सर्वमान्य है। अयोध्यावासी भक्तमाल के विशेषमर्मज्ञ श्री रूपकला जी ने भक्तमाल के अपने 'भक्ति सुधास्वाद तिलक' के पृष्ठ ५६२ की पाद टिप्पणी[2] में लिखा है कि – "श्री केशव भट्ट के अनुयायियों ने कवित्त ८३३ से ८३६ तक के चार कवित्त निकाल दिये हैं।"[3]

भक्तमाल की 'भक्तिरस बोधिनी' टीका की सभी प्राचीन प्रतियों में प्रियादास जी द्वारा लिखित उक्त चारों कवित्त मिलते हैं। सर्वप्रथम १८७३ ई० में प्रियादास जी की टीका सहित भक्तमाल काशी में छपी थी, उसमें उक्त चारों कवित्त मुद्रित हैं। तत्पश्चात् कुछ निम्बार्क सम्प्रदायानुयायी व्यक्तियों ने साम्प्रदायिक भावना से असह्य होकर प्रियादास जी की टीका से इन कवित्तों को निकाल दिया और उस संस्करण को पहली बार काशी में छापा। उसके अन्य संस्करण लखनऊ आदि में छपे हैं। इस विषय में रूपकला जी ने बहुत छानबीन करने के बाद प्रियादास जी के उक्त चारों कवित्तों को प्रामाणिक मानकर अपने संस्करण में स्थान दिया है और पाद टिप्पणी में उपर्युक्त सूचना अंकित की है।[4]

निम्बार्कीय विद्वान् भी इस बात को मानते हैं कि केशव काश्मीरी जी महाप्रभु चैतन्य के समकालिक थे। निम्बार्क-माधुरी के पृ० ४६१ पर गोबिन्द देव जी द्वारा निर्मित 'जयति-चतुर्दश' नामक ग्रन्थ के 'श्री गुरु-परम्परा-जयति' के अन्तर्गत निम्न पद आता है –

"जयति काश्मीरि केशव सुभट जक्त गुरु जीति सब भुव भक्ति प्रचुर कीनी;
कृष्ण चैतन्य नित्यानन्दादिक त्रिगुण बहुत शिष्य करि अमित हरि मूर्ति दीनी॥"

---

१. यद्यपि इस पर एकदम अविश्वास करके प्रियादास जी को दोषी नहीं ठहराया जा सकता, क्योंकि इनसे पूर्ववर्ती चैतन्य-सम्प्रदायी कई विद्वानों ने भी महाप्रभु द्वारा केशव काश्मीरी जी के पराजित किये जाने की घटना का उल्लेख अपने ग्रन्थों में किया है। देखिये श्री चैतन्य भागवत आदि खण्ड; नवम अध्याय। श्री चैतन्य चरितामृत। श्री भक्ति रत्नाकर, जिसको निम्बार्क-माधुरी, सम्पादक श्री बिहारी शरण जी ने भी 'मुकुट की लटक' नामक पुस्तक में पृ० ६ तथा १६ पर 'वेदमन्त्र तुल्य सर्वमान्य प्रणम्य सुग्रंथ' कहा है, प्रियादास जी के पश्चात् तो अधिकांश महानुभावों ने उक्त घटना का उल्लेख किया है।

२. देखिये, भक्तमाल का रूपकला जी वाला तृतीय संस्करण।

३. पाद टिप्पणी में कवित्तों की संख्या ३३३ से ३३६ होनी चाहिए। सम्भवतः ८३३ से ८३६ मुद्रण-दोष से छप गया है।

४. इस विषय में निम्बार्क सम्पदायानुयायियों की अब निम्न धारणा है – (१) ये चारों कबित्त श्री कृष्ण चैतन्य के छप्पय की टीका के हैं और बाद में किसी ने कृष्ण चैतन्य देव सम्बन्धी इन चारों कवित्तों को केशव भट्ट जी के छप्पय की टीका के साथ लिख दिया। (२) ये चारों कबित ही प्रक्षिप्त हैं, बाद में किसी ने द्वेषवश इन्हें टीका में बढ़ा दिया है। (३) प्रियादास की टीका की कुछ हस्तलिखित प्रतियों में ये चार कबित्त मिलते ही नहीं। न कृष्ण चैतन्य के छप्पय की टीका के साथ और न केशव भट्ट के छप्पय की टीका के साथ। उपर्युक्त धारणाओं में पारस्परिक कितना विरोध है ? यह पाठक स्वयं जान सकते हैं।

श्री गोविन्द देवी जी की गणना निम्बार्क पीठस्थ आचार्यों में की जाती है। ये वृन्दावन देव जी के शिष्य थे और उनके पश्चात् गद्दी पर आसीन हुए थे। वि०सं० १८०० से १८१४ तक इन्होंने आचार्य-पद का सुचारु रूप से संचालन किया था।

उपर्युक्त पद में श्री कृष्ण चैतन्य तथा नित्यानंदादिक को श्री केशव काश्मीरी द्वारा शिष्य बनाये जाने का उल्लेख हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि केशव काश्मीरी जी विषयक चैतन्य-सम्प्रदायी उल्लेखों की प्रतिक्रिया स्वरूप, प्रियादास जी के पश्चात्, निम्बार्क सम्प्रदाय में भी उक्त विषय से सम्बन्धित रचनाओं का प्रणयन प्रारम्भ हुआ। यदि वास्तव में केशव काश्मीरी द्वारा कृष्ण चैतन्य आदि शिष्य बनाये जाते तो सम्प्रदाय में प्राचीनतम उल्लेख अवश्य मिलते, किन्तु इस घटना से सम्बन्धित गोविन्द देव जी से पूर्व की किसी रचना में कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता। परवर्ती लेखकों ने अवश्य कुछ ग्रन्थों में केशव काश्मीरी द्वारा चैतन्य महाप्रभु आदि के शिष्य बनाये जाने अथवा सम्पर्क में आने का उल्लेख किया है। जिनमें श्री किशोरीदास जी, श्री नीलाम्बरशरणदेव गोस्वामी, ब्रह्मचारी बिहारीशरण जी तथा बाबा हंसदास जी आदि प्रमुख हैं।[1] शिष्य बनाये जाने अथवा न बनाये जाने के विवाद में लेखक नहीं पड़ना चाहता। चाहे कुछ भी हो, किन्तु इतना अवश्य सिद्ध है कि निम्बार्क-सम्प्रदायानुयायी महानुभावों की दृष्टि में भी केशव काश्मीरी भट्टाचार्य जी और चैतन्य महाप्रभु जी का समय एक है अर्थात् दोनों समकालीन हैं।

चैतन्य-सम्प्रदायी तथा निम्बार्क-सम्प्रदायी अर्थात् दोनों सम्प्रदाय के अनुयायियों को यह बात मान्य है कि केशव काश्मीरी भट्ट तथा महाप्रभु श्री गौरांग देव का समय एक है, किन्तु बिहारी शरण जी ने अपने सम्प्रदाय के आचार्य श्री भट्ट का समय निर्णय करते हुए महाप्रभु जी और केशव भट्ट जी के समय में डेढ़ सौ वर्ष से भी अधिक का अन्तर डाल दिया है, साथ ही दोनों का सम्पर्क भी सिद्ध किया है। क्योंकि ब्रह्मचारी जी ने लिखा है कि केशव काश्मीरी जी के अन्तिम समय में भट्ट जी दीक्षित हुए थे।[2] इसके साथ ही श्री भट्ट जी के 'युगलशतक' का निर्माण-काल 'नैन, बान, पुनि राम, ससि, गिनो अंक गति वाम'[3] वाले दोहे के आधार पर १३५२ वि० सम्वत् माना है। अब यदि 'युगल शतक' का यह समय ठीक हो तो अवश्य ही इसके १०-१५ वर्ष पूर्व ही श्री भट्ट जी ने दीक्षा ग्रहण की होगी। इससे यह सुनिश्चित है कि सं० १३५२ का समय केशव काश्मीरी जी की अत्यन्त वृद्धावस्था का समय था और १४वीं शताब्दी के समाप्त होते-होते अवश्य ही वे भगवद्धाम को प्रस्थान कर गये होंगे। इस प्रकार उनके दो सौ वर्ष के जीवन का समय

१. द्रष्टव्य – (१) तत्त्वप्रकाशिका – गीता भाष्य (ले० केशव काश्मीरी भट्ट, सम्पादक एवं प्रकाशक – पं० किशोरदास), भूमिका, पृष्ठ ३।
(२) केशव दिग्विजय सार समुच्चय (ले० नीलाम्बर शरण देव गोस्वामी, श्री मदनगोपाल प्रेस, वृन्दावन में मुद्रित), पृष्ठ ७।
(३) निम्बार्क माधुरी (सम्पादक – ब्रह्मचारी बिहारीशरण), पृष्ठ ४७३।
(४) निम्बार्क-प्रभा (ले० बाबा हंसदास, बम्बई भूषण प्रेस, मथुरा में मुद्रित), पृष्ठ ७५

२. दे० निम्बार्क-माधुरी, पृ० ७।

३. यह दोहा संदिग्ध है। विद्वानों का इस पर मतैक्य नहीं है।

१२वीं शताब्दी तक ठहरता है। इधर महाप्रभु चैतन्य स्वामी का समय इतिहास-प्रसिद्ध और परम प्रामाणिक है। श्री महाप्रभु का सं० १५४२ में जन्म और सं० १५९० में गोलोकवास माना जाता है। अब पाठक स्वयं विचार कर लें कि निम्बार्क-माधुरीकार की दृष्टि से केशव काश्मीरी और महाप्रभु गौरांग का मिलन कैसे सम्भव हो सकता है ? जबकि दोनों के समय में लगभग १५० वर्ष से भी अधिक का अन्तर पड़ता है।

वस्तुत: लेखक को अपने कथनों के पूर्वापर का ज्ञान नहीं है। देखिए, निम्बार्क-माधुरी के पृष्ठ ७ पर लेखक ब्रह्मचारी जी ने श्री भट्ट जी महाराज का कविता-काल तेरहवीं शताब्दी के मध्य से चौदहवीं शताब्दी के मध्य तक माना है। इसके विरुद्ध इसी ग्रन्थ के ४७३ पृष्ठ पर ब्रह्मचारी जी ने श्री भट्ट का प्रादुर्भाव और परमधाम गमन १३वीं शताब्दी के मध्य से १४वीं शताब्दी के मध्य तक माना है। इसी प्रकार ग्रन्थ के पृ० ६ पर 'युगल शतक' का निर्माण-काल सं० १३५२ सिद्ध किया है और स्वयं ही पृष्ठ ४७३ पर लिखा है– "इन्होंने तेरहवीं के अन्त में 'आदि वाणी युगलसत' की रचना की थी।" अत: पारस्परिक विरोध होने के कारण ब्रह्मचारी बिहारी शरण जी के कथन 'वदतो व्याघात' दोष से पीड़ित हैं।

श्री ब्रजवल्लभ शरण जी वेदान्ताचार्य ने श्री युगल शतक की भूमिका में 'श्री निम्बार्क समय समीक्षा' के अन्तर्गत श्री केशव काश्मीरी भट्टाचार्य जी के समय के सम्बन्ध में एक और तथ्य प्रकट किया है। आप लिखते हैं – "इसी प्रकार श्री केशव काश्मीरी भट्टाचार्य जी (श्री श्री भट्ट जी के श्री गुरुदेव) के नाम का एक पट्टा मिल रहा है। वि० संवत् १२१७ में सभी ब्रजवासियों ने आचार्य श्री को अर्पित किया था, जबकि यवनों के तान्त्रिक-अत्याचार से आचार्य श्री ने हिन्दू धर्म की रक्षा की थी। इस पट्टे को समर्पित करने में यवन भी सम्मिलित थे। सारांश यह है कि श्री निम्बार्काचार्य के पश्चात् ३०वीं पीठिका में होनेवाले श्री केशव काश्मीरी भट्टाचार्य विक्रम की १३वीं शताब्दी के आरम्भ में विद्यमान थे।"[1]

वि० सम्वत् १२१७ का उपर्युल्लिखित पट्टा अभी तक कहीं प्रकाशित रूप में देखने में नहीं आया। यदि इस प्रकार का कोई पट्टा वास्तव में है, तो उसे मूल रूप में प्रकाशित करना चाहिए। साम्प्रदायिक उल्लेखों को देखते हुए यह उल्लेख और भी हास्यास्पद प्रतीत होता है। उनके अनुसार तो केशव जी का समय अलाउद्दीन खलजी से भी १३६ वर्ष और पहले पहुँच जाता है। जब अलाउद्दीनवाला समय ही इतिहास की कसौटी पर खरा नहीं उतरता तब उपर्युक्त तथ्य की संगति केशव काश्मीरी जी के जीवन-प्रसंगों से कैसे बैठ सकती है ? उस समय तो भारत में मुसलमानों का राज्य-स्थापन भी नहीं हुआ था।

अत: केशव काश्मीरी जी तथा चैतन्य महाप्रभु जी की सम-सामयिकता सिद्ध है। श्री कृष्ण चैतन्य, सिकन्दर लोदी के समकालिक थे। सिकन्दर लोदी का शासन-काल सं० १५४६ से १५७४ वि० तक है।

---

१. श्री युगल शतक – प्र० पं० व्रजविहारीशरण (प्र०सं०), पृ० १३।

'यन्त्र बाधा निवारण' की घटना पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने के उपरान्त यह ज्ञात होता है कि यह घटना सिकन्दर लोदी के शासन-काल में ही घटित हुई होगी। सिकन्दर लोदी की धार्मिक कट्टरता का इतिहास अत्यन्त मुखर है। इस धार्मिक कट्टरता के कारण ही उसके शासन-काल में मथुरा की बड़ी बर्बादी हुई। सिकन्दर के समय में मथुरा के मन्दिर पूरी तरह नष्ट कर दिये गये थे। कोई भी हिन्दू अपनी दाढ़ी-मूँछ आदि नहीं मुँडवा सकता था। यमुना में स्नान करने तथा धार्मिक कृत्य करने का भी उन्हें आदेश न था।[1] हिन्दुओं की ऐसी आपत्कालीन स्थिति में केशव काश्मीरी जी ने तत्कालीन कट्टरता का विरोध करते हुए हिन्दू धर्म की रक्षा की तो कोई आश्चर्य नहीं।

अब कुछ ऐसे प्रमाण उद्धृत किये जाते हैं, जिनसे यह पूर्णरूपेण सिद्ध होता है कि केशव काश्मीरी जी और चैतन्य महाप्रभु जी सम-सामयिक थे और यह भी निश्चित होता है कि 'यन्त्र बाधा निवारण' वाली उक्त घटना सिकन्दर लोदी के शासन-काल में ही घटित हुई थी।

वल्लभ-सम्प्रदायी पं० गदाधर द्विवेदी ने, सं० १६१० में रचित अपने 'सम्प्रदाय प्रदीप' नामक संस्कृत-ग्रन्थ में केशव काश्मीरी का उल्लेख किया है और सूचित किया है कि ये वल्लभाचार्य जी के समकालिक थे।[2] 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में भी केशव भट्ट जी और वल्लभाचार्य की समकालिकता का उल्लेख है।[3] यद्यपि ग्रन्थकारों ने इन ग्रन्थों में वल्लभाचार्य जी का साम्प्रदायिक गौरव प्रदर्शित किया है, फिर भी इनसे केशव भट्ट जी का समय तो स्वतः स्थिर हो ही जाता है। वल्लभाचार्य जी का समय सं० १५३५ से १५८७ वि० तक माना जाता है।

वल्लभाचार्य जी और चैतन्य महाप्रभु जी समकालिक थे और इन दोनों महापुरुषों की भेंट हुई थी,[4] यह इतिहास-प्रसिद्ध है। अतः श्री केशव भट्ट काश्मीरी निश्चित रूप से श्री चैतन्य महाप्रभु के समकालिक ठहरते हैं।

गो० विट्ठल नाथ जी के षष्ठ पुत्र गो० यदुनाथ जी ने सं० १६२८ में रचित अपने 'वल्लभ दिग्विजय' नामक ग्रन्थ में 'यन्त्र बाधा मुक्ति' की घटना का उल्लेख किया है।[5] 'श्री गोवर्धन नाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' तथा 'बैठक चरित्र' में भी मथुराविश्रांत घाट की बैठक के प्रसंग में इस 'यन्त्र बाधा मुक्ति' की घटना का उल्लेख है। इन उल्लेखों में यन्त्र बाधा मुक्ति का श्रेय वल्लभाचार्य जी को दिया गया है और भक्तमाल के अनुसार

---

१. देखिये – विशेष विवरण के लिए – उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग १, पृ० १०२; २२७, २६० तथा ३३१। प्रकाशक – इतिहास-विभाग, मुस्लिम वि०वि०, अलीगढ़।
२. दे० पृ० १००–१०१ तथा मूल की पृ० सं० ७४–७५। विद्या विभाग, काँकरौली से हिन्दी-अनुवाद सहित प्रकाशित।
३. चौरासी वैष्णवन की व्रार्ता – पृ० १२२ (लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई-संस्करण), 'माधव भट्ट काश्मीरी की वार्ता'।
४. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, भाग १, पृ० ७२ – ले० डा० दीनदयालु गुप्त।
५. अष्टछाप और व्रल्लभ सम्प्रदाय, भाग १ – ले० डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० ७२ पर उल्लिखित – 'व्रल्लभ दिग्विजय', पृ० ५०।

श्रीं केशव भट्ट को है।

यह हम पहले ही लिख आये हैं कि 'सम्प्रदाय-प्रदीप' तथा 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में केशव भट्ट जी का उल्लेख है, जिनमें लिखा है कि श्री वल्लभाचार्य तथा केशव भट्ट जी में बड़ा स्नेह एवं मैत्री थी। अत: यह सम्भव है कि दोनों महानुभावों के सम्मिलित प्रयास से ही यह संकट दूर हुआ हो और इसके दूर करने में विशेष हाथ केशव भट्ट जी का रहा हो। इसी कारण भक्तमालकार ने इस घटना का पूर्ण श्रेय श्री केशव भट्ट को दिया हो, किन्तु ज्ञात होता है कि वल्लभ-सम्प्रदायी ग्रन्थकारों ने साम्प्रदायिक भावनावश केशव भट्ट जी को महत्त्व न देते हुए, केवल श्री वल्लभाचार्य जी की महत्ता को प्रदर्शित करने के लिए ही इस यन्त्र बाधा मुक्ति का सम्पूर्ण श्रेय श्री वल्लभाचार्य को दे दिया है।

इस 'यन्त्र बाधा निवारण' घटना के समस्त वर्णनों को देखने से ज्ञात होता है कि सभी लेखकों का ध्येय श्री केशव भट्ट तथा श्री वल्लभाचार्य जी की अलौकिक शक्ति पर ही केन्द्रित रहा है और इसी धुन में उन्होंने इस घटना के वृत्त को भी उसी ढंग से लिखा है। उनका एकमात्र दृष्टिकोण इस घटना को प्रधानता देना नहीं है। इसके लिए दोनों महानुभावों ने अदम्य साहस और मानवीय अधिकारों के विरोध पर प्रकाश न डालकर लेखक उनके व्यक्तित्व के अलौकिक एवं चमत्कारिक रूप को प्रधानता देना चाहते हैं।

इस घटना का बुद्धिसम्मत विवेचन करने पर ऐसा लगता है कि ऐतिहासिक तथ्य का आधार लेकर लेखकों ने इस आपत्ति को दूर करने के लिए श्री केशव काश्मीरी तथा श्री वल्लभाचार्य के द्वारा किये गये प्रयत्नों का उल्लेख किया है। क्योंकि हम पहले लिख आये हैं कि तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार सिकन्दर लोदी का शासन-काल अत्यन्त हिन्दू-विरोधी था। मथुरा में हिन्दुओं को यमुना में स्नान करने की किसी प्रकार से भी सुविधा प्राप्त नहीं थी। दोनों महापुरुषों को इस कार्य में कितनी सफलता प्राप्त हुई थी, इसका भारत के राजनीतिक इतिहास-लेखकों ने कोई उल्लेख नहीं किया है। इतिहास से सिद्ध है कि जब बादशाह अकबर मथुरा आया था तब यमुना में स्नान करनेवालों से एक प्रकार का कर लिया जाता था, जो सेना के सिपाहियों के उस समय के वेतन का आधा भाग होता था। अकबर ने इसे अनुचित समझकर सदा के लिए बन्द कर दिया था।

इस घटना में तथ्य की बात यह लगती है कि सम्भव है कि श्री वल्लभाचार्य तथा श्री केशव भट्ट के प्रभाव से सिकन्दर लोदी ने कर देनेवालों को यमुना में स्नान करने की आज्ञा दे दी हो, जिसकी इससे पहले आज्ञा न होगी। वल्लभ-सम्प्रदायी उल्लेखों के आधार पर यहाँ यह स्वीकार करना आवश्यक है कि सिकन्दर लोदी के अत्याचारपूर्ण शासनकाल में श्री महाप्रभु वल्लभाचार्य जी ने हिन्दुओं के अधिकार की जो रक्षा की और श्री नाथ जी की स्थापना की थी, वह उस समय की परिस्थिति के विचार से अत्यन्त साहसपूर्ण और महत्त्वशाली कार्य था, जिसके करने के लिए एक दृढ़ निश्चय और प्रतिभापूर्ण असाधारण व्यक्तित्व की आवश्यकता थी। यही बात श्री केशव भट्ट के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में भी

कही जा सकती है। सभी लेखकों ने अपने धार्मिक विश्वास के कारण इस घटना को अत्यन्त असाधारण रूप देने की चेष्टा की है और उसके ऐतिहासिक आधार की सर्वथा अवहेलना कर दी है।

वल्लभ-सम्प्रदायी विवरणों से पता चलता है कि वल्लभाचार्य जी ने दो व्यक्तियों को दिल्ली भेजकर उनके द्वारा मथुरा की इस विषम स्थिति के सम्बन्ध में सिकन्दर लोदी से कहलवाकर इस संकट को दूर करवाया था। श्री वल्लभाचार्य जी की निज वार्ता में दिल्ली जानेवालों में श्री केशव भट्ट जी का नाम मिलता है। और यह भी सुनने में आता है कि विश्रान्त घाट-विजय के चिह्न के लिए श्री केशव भट्ट काश्मीरी ने अपना एक मन्दिर और श्री वल्लभाचार्य जी ने बैठक स्थापित की थी, जो आज भी हैं। इन सब तथ्यों से भी उक्त दोनों महानुभावों के सम्मिलित प्रयास के द्वारा मथुरा के संकट दूर करने के विचार की ही पुष्टि होती है। यह बात दूसरी है कि बाद में सम्प्रदायानुयायियों ने इस तथ्य पर साम्प्रदायिक आवरण डाल दिया, किन्तु फिर भी कुछ ऐंसे संकेत मिल ही जाते हैं, जिनसे यह सत्य-तथ्य उद्घाटित होता है।

श्री नटवरलाल गोकुलदास शाह ने अपने अंग्रेजी में लिखे 'श्रीवल्लभाचार्य जी का संक्षिप्त जीवन-परिचय' नामक ग्रन्थ के ११वें अध्याय में श्री वल्लभाचार्य जी के एक पुराने चित्र का हवाला दिया है। वे कहते हैं कि वल्लभाचार्य जी का समकालीन दिल्ली का बादशाह सिकन्दर लोदी उनका बहुत सम्मान करता था। बादशाह ने उस समय के एक प्रसिद्ध चित्रकार 'होनहार' से उनका एक चित्र बनवाया था। श्री शाह ने इस चित्र के निर्माण का सं० १५६७ वि० दिया है। यह चित्र अभी तक कृष्ण गढ़ में विद्यमान है।[1] सम्भव है, सिकन्दर लोदी मथुरावाली घटना के सम्बन्ध में आचार्य जी के व्यक्तित्व तथा प्रभाव से प्रभावित हुआ हो और तभी बादशाह ने प्रसन्न होकर आचार्य जी के चित्र का निर्माण कराया हो।

इस चित्र-साक्षी से सिद्ध होता है कि मथुरा की यन्त्र-बाधा-निवारण वाली घटना सं० १५६७ वि० से पूर्व ही घटी थी। मेरा अनुमान है कि यह घटना सं० १५६० के लगभग घटित हुई होगी।

उपर्युक्त समस्त सामग्री के पर्यालोचनोपरान्त निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि श्री केशव काश्मीरी भट्टाचार्य जी, निश्चित रूप से, श्री चैतन्य महाप्रभु जी तथा वल्लभाचार्य जी के समकालिक थे और 'यन्त्र बाधा निवारण' वाली घटना तत्कालीन शासक सिकन्दर लोदी के राजत्व काल में ही घटी थी। वैसे श्री केशव काश्मीरी जी आयु में श्री चैतन्य

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, भाग १ (ले० डा० दीनदयालु गुप्त), पृ० ७४-७५ पर उल्लिखित। किन्तु नवीन शोध के अनुसार चित्र-निर्माण सम्बन्धी उक्त तथ्य तत्कालीन ऐतिहासिक कारणों से सर्वथा अप्रामाणिक ठहरता है। सिकन्दर लोदी द्वारा इसका बनवाया जाना सम्भव नहीं है। फिर जिस 'होनहार' चित्रकार को सिकन्दर-कालीन समझा जाता है, वह उसके प्रायः दो शताब्दी बाद शाहजहाँ के काल में हुआ था और उसी का दरबारी चित्रकार था। दे० भारतीय चित्रकला (मेहता), पृ० ६३। अतः अन्य प्रमाणों का आधार ही लेना उपयुक्त है।

महाप्रभु तथा श्री वल्लभाचार्य से बड़े थे।

मुनि कान्तिसागर जी के संग्रह में श्री केशव काश्मीरी के शास्त्रार्थों और जीवन की अन्य महत्त्वपूर्ण घटनाओं पर प्रामाणिक प्रकाश डालनेवाला 'केशव ऋषि चरित्र' विद्यमान है। संस्कृत की यह लघु रचना मूल्यवान् ज्ञातव्यों का भण्डार है। इस रचना के द्वारा भी हमारे उपर्युक्त निष्कर्षों की ही पुष्टि होती है।

पुनश्च : मेरे इस लेख के सम्बन्ध में डा० प्रभुदयाल मीतल ने अपने ग्रन्थ – 'ब्रज के धर्म-सम्प्रदायों का इतिहास' (पृ० १६६) में मेरे निष्कर्ष से सहमत होते हुए उक्त घटना के मेरे द्वारा अनुमित सं० १५६० के काल में कुछ संशोधन प्रस्तुत करते हुए लिखा है – "श्री वेदप्रकाश गर्ग ने ऐतिहासिक और साम्प्रदायिक उल्लेखों की परिश्रमपूर्वक खोज और समीक्षा करने के अनन्तर श्री केशव काश्मीरी भट्ट के काल का निरूपण किया है और मथुरा के यान्त्रिक संघर्ष की वास्तविकता पर प्रकाश डाला है। उनका मत है, मथुरा का वह संकट काश्मीरी जी और वल्लभाचार्य जी दोनों के सम्मिलित प्रयास से दूर हुआ था। उक्त घटना का काल उन्होंने सं० १५६० के लगभग अनुमानित किया है। उनका निष्कर्ष है, केशव काश्मीरी भट्टाचार्य जी निश्चित रूप से चैतन्य महाप्रभु तथा वल्लभाचार्य जी के समकालीन थे और यान्त्रिक संघर्षवाली घटना दिल्ली के तत्कालीन सुलतान सिकन्दर लोदी के राजत्वकाल में घटी थी। हम भी गर्ग जी के निष्कर्ष से सहमत हैं ; किन्तु उक्त घटना का काल हमारे मतानुसार सं० १५६० से कुछ पूर्व का है। 'श्री गोवर्धन नाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' के अनुसार उक्त घटना वल्लभाचार्य जी की प्रथम यात्रा के काल में हुई थी, जबकि वे पहली बार ब्रज में आये थे। वह काल सं० १५५० का माना गया है (दे० 'श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता', पृ० १०-११)।"

'वार्ता' के उल्लेख को देखते हुए मुझे काल-विषयक इस संशोधन (सं० १५५०) को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है। अत: सब बातों को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि केशव काश्मीरी भट्ट और वल्लभाचार्य की भेंट सं० १५५० के आस-पास तथा भट्ट जी एवं चैतन्य महाप्रभु का शास्त्रार्थ सं० १५६० के लगभग होना माना जा सकता है। केशव काश्मीरी भट्ट जी का दीर्घायु होना प्रसिद्ध है। 'भेंट' एवं 'शास्त्रार्थ' के समय वे काफी बड़ी उम्र के थे। अत: केशव काश्मीरी भट्टाचार्य जी का समय सं० १४६० से १५६० के बीच अनुमित किया जा सकता है।

२.३ श्री श्रीभट्ट, हरिव्यासदेव तथा परशुराम देवाचार्य का काल-निर्धारण

कृष्ण-भक्ति के परमोपासक सुप्रसिद्ध अन्य वैष्णव-सम्प्रदायों के समान निम्बार्क-सम्प्रदाय के भक्तों ने भी भक्ति-साहित्य का निर्माण किया। श्रीभट्ट, हरिव्यासदेव तथा परशुरामाचार्य – ये तीन इस सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य और गुरु-शिष्य परम्परा से क्रमिक उत्तराधिकारी के रूप में संबद्ध माने जाते हैं। इन तीनों ही आचार्य-कवियों के

जीवन-वृत्त का यथातथ्य पता नहीं लग पाया है।

श्रीभट्ट जी, केशव काश्मीरी जी के अंतरंग शिष्य थे। श्री केशव काश्मीरी भट्टाचार्य के उपरान्त उनकी गद्दी पर ये विराजमान हुए।[१] उनके गुरुदेव केशव काश्मीरी जी की साधना ऐश्वर्यपरक थी, किन्तु इनका झुकाव आरम्भ से ही वृन्दावन की रसोपासना की ओर था। इसी कारण उन्होंने अपने गुरु की ऐश्वर्यमिश्रित साधना को छोड़कर मधुरोपासना को स्वीकार किया और उसी में अपने को लीन कर दिया। इनकी रचना 'युगल-शतक' या 'युगल-शत' नाम से प्रसिद्ध है। इन्होंने ही निंबार्कीय आचार्यों में सर्वप्रथम ब्रजभाषा में कविता की और इसीलिए ये इस सम्प्रदाय के 'आदि ब्रजभाषा-कवि' तथा इनका ग्रन्थ 'जुगल-शतक' 'आदि बानी' के नाम से सम्प्रदाय में विख्यात है।

भट्टजी का समय विवादास्पद है। निम्बार्क-सम्प्रदायी विद्वान् जिस-तिस प्रकार से इन्हें प्राचीन सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं, किन्तु उनकी यह मान्यता पुष्ट प्रमाण, तर्क एवं युक्ति के अभाव में सर्वथा अनुपयुक्त ही ठहरती है। निम्बार्क सम्प्रदायानुयायी जुगल-शतक के रचना-काल के द्योतक दोहे के आधार पर श्रीभट्ट का समय सं० १३५२ वि० मानते हैं। रचना-काल विषयक निम्न दोहे का रूप ही भिन्न-भिन्न मिलता है[२] –

नैन[२] बान[५] पुनि राम[३] ससि[१], गिनौ अंग गति बाम।
जुगल सतक पूरन भयौ, संवत अति अभिराम॥

निम्बार्कियों के अनुसार श्री भट्टजी के समय का प्रमुख आधार उपर्युक्त दोहा ही माना जाता है। सभा में उपलब्ध एक हस्तलिखित प्रति के विवरण में 'राम' के स्थान पर 'राग' पाठ मिलता है, जिसके कारण इनका काल ३०० वर्ष पीछे सं० १६५२ वि० में चला जाता है, किन्तु इधर यह सिद्ध हो चुका है कि यह दोहा बाद में जोड़ा गया है, प्राचीन प्रतियों में उपलब्ध नहीं है[३]। युगल शतक पर एक महात्मा लड़ैतीदासजी ने ब्रजभाषा में टीका की है। इस टीका में भी यह दोहा नहीं है। इस टीका की सं० १६२१ की लिखी हुई एक प्रति मैंने श्री ललित किशोर शाह जी के संग्रह (शाह बिहारी मन्दिर) वृन्दावन में देखी है। फिर वि०सं० १३५२ में ब्रजभाषा का वह प्रौढ़ रूप प्रचलित न था, जो 'युगल शतक' में परिलक्षित होता है। इस समय साहित्य का माध्यम या तो अपभ्रंश थी या चारणों की डिंगल भाषा। कहा जाता है कि जुगल शतक का संकलन भी रूप रसिक देवजी ने किया था। इस बात की पुष्टि का प्रमाण भी मिलता है। जुगल-शतक की अर्वाचीन प्रतियों में रूप रसिकजी का एक छप्पय प्राप्त होता है, वह इस प्रकार है –

---

१. इनका जन्म गौड़ ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। इनके जन्मोत्सव की तिथि अगहन शु० १२ कही जाती है और इनका पाटेत्सव आश्विन शु० २ को मनाया जाता है। इनका जन्म मथुरा में हुआ था।

२. (अ) श्री युगल शतक – प्र० श्री ब्रजबिहारी शरण, सम्पादक – श्री ब्रजवल्लभ शरण, पृ० ६ तथा४४।

(आ) निम्बार्क-माधुरी, प्र० तथा सं० ब्रह्मचारी बिहारी शरण, पृ० ६।

(इ) सूर पूर्व ब्रजभाषा और उनका साहित्य – डा० शिवप्रसाद सिंह, पृ० २०२ (प्र०सं०)

३. डा० गोपालदत्त शर्मा – स्वामी हरिदास : सम्प्रदाय और वाणी साहित्य (अप्र०प्रव०), पृ० ४८३।

दो० – इक छप्पय इक दोहरा, आदि अंत मधि मान।
शतपद आभासन सहित, जुगल शत है परमान॥
छप्पय – दस पद हैं सिद्धान्त बीस षट ब्रज लीला पद।
सेवा सुख सोलह सहज सुख एक बीशहद॥
आठ सुरत इक उनवीस उत्सव सुख लहिये।
श्री युत श्री भट्ट देव रच्यौ शत जुगल जु कहिये॥
निज भजन भाव रुचि ते किये इते भेद ये उर धरो॥
रूप रसिक सब संत जन, अनुमोदन याकौ करो॥

उपर्युक्त छप्पय के सम्बन्ध में निम्बार्क-सम्प्रदाय के योगदान की प्राचीनता के अत्यन्त उत्साही समर्थक डा० नारायण दत्त शर्मा ने लिखा है – "..........युगल-शतक को निज भजन-भाव रुचि से श्री रूप रसिकजी ने ही विभिन्न सुखों में विभाजित किया है। ऐसी स्थिति में यह कहना कठिन हो जाता है कि इस संकलन में रूप रसिक देवजी की स्वयं की कितनी भजन, भाव, रुचि मिल गयी है। इस समय युगल-शतक की जो प्रकाशित प्रति प्राप्त है, उसमें भी इसके सम्पादक-प्रकाशक ने भाषा-छन्दादि के परिवर्तन कर दिये हैं।"[१]

प्राचीन प्रतियों तथा अर्वाचीन प्रतियों में छन्द-संख्या को लेकर लगभग दुगुने का अन्तर है। अर्वाचीन प्रतियों में जुगल-सत ६ सुखों में विभाजित है और पदों का क्रम निश्चित है। पहले एक दोहा, फिर स्पष्टीकरण के लिए एक पद यही इस रचना का शैली-क्रम है। इस प्रकार इन प्रतियों में १०० दोहा और १०० पद मिलते हैं, जबकि प्राचीन प्रतियों में ९२ पद और १२ दोहे हैं। पदों से पूर्व दोहे नहीं मिलते। पदों के बीच-बीच में स्वतन्त्र दोहे हैं। इस प्रकार दोहे और पद मिलाकार कुल संख्या १०४ होती है। प्राचीन प्रतियों में सुखों का विभाजन एवं क्रम नहीं मिलता। साधारणतया पदों का संग्रह कर दिया गया है। यह नहीं कि सिद्धान्त, सिद्धान्त के एक साथ ब्रज लीला और सेवा आदि के एक साथ। अत: ज्ञात होता है कि आरम्भ में 'जुगल-सत' केवल पदों का संग्रह मात्र रहा है, बाद में कभी रूप रसिक जी ने वर्ण्य विषय के अनुसार उसके पदों को छाँटकर और परिवर्धन कर 'सुखों' में विभाजित कर दिया। मेरा विचार है कि इस रचना का युगल-शतक या 'युगल-शत' नाम भी रूप रसिक जी का दिया हुआ है। प्राचीन संग्रहात्मक प्रतियों में यह नाम न होगा। उक्त प्रतियों में 'श्री भट्टजी की वाणी' जैसा नाम होगा। प्राचीन प्रतियों और अर्वाचीन प्रतियों के पाठों में अनेक पाठ-विकृतियाँ (भेद) हैं। कहीं-कहीं तो किसी पद में कोई पंक्ति कम या अधिक प्राप्त होती है। शब्द-भेद का तो कहना ही क्या? ऐसी स्थिति में 'युगल-शतक' के पाठ की प्रामाणिकता पर अत्यधिक शंका उठती है। नाभादासजी ने 'भक्तमाल' में श्री भट्ट के सम्बन्ध में छप्पय लिखा है। उक्त छप्पय से इतना तो सिद्ध है कि वे मधुर भाव रूप भगवान् की ललित-लीला संवलित छवि को देखते थे एवं

---

१. डा० नारायण दत्त शर्मा – निम्बार्क सम्प्रदाय और उसके कृष्ण-भक्त हिन्दी कवि (अ०प्र० प्रबन्ध)।

उस प्रेम की वर्षा में उन्होंने सुन्दर कविताएँ भी लिखी थीं।[1] पर इस प्रेम और लीला के स्वरूप में कितना इन परवर्ती संशोधकों ने जोड़ा है, इसका निर्णय नितान्त दुष्कर हो गया है। बहुत सम्भव है कि यह लीला माधुरी सूरदास आदि के समान रही हो; किन्तु इतना अवश्य लगता है कि निम्बार्क-सम्प्रदाय की वैधी परम्परा के स्थान पर रागमयी भक्ति के क्षेत्र में श्री भट्टजी का प्रवेश हो गया था।

नाभादास जी के भक्तमाल में भट्ट जी का उल्लेख होने से इतना तो निश्चित हो जाता है कि १७ वीं शती विक्रमी के पूर्वार्ध में वे अवश्य उपस्थित रहे होंगे, क्योंकि नाभाजी ने इनके छप्पय में कई वर्तमानकालिक क्रियाओं का स्पष्ट रूप से प्रयोग किया है। डा० दीनदयालु गुप्त ने अष्टछाप से पहले हिन्दी में कृष्णभक्ति-काव्य की परम्परा का संधान करते हुए ब्रह्मचारी बिहारीशरण के द्वारा 'निम्बार्क-माधुरी' तथा 'नाम-माहात्म्य' नामक मासिक पत्र के 'श्री ब्रजांक' में श्री भट्ट तथा हरिव्यास देव पर लिखे हुए जीवन-वृत्त को अप्रामाणिक बताया है।[2] ब्रह्मचारी जी ने श्री भट्ट का समय १३५२ वि० और उनके शिष्य हरिव्यास जी का १३२० वि० दिया था। डा० गुप्त लिखते हैं[3] –''वस्तुत: ब्रह्मचारी जी ने इन दोनों भक्तों की विद्यमानता का सम्वत् गलत दिया है। निम्बार्क-सम्प्रदायी तथा युगल-शतक के रचयिता श्री भट्ट केशव काश्मीरी के शिष्य माने जाते हैं। इनका रचनाकाल लगभग सं० १६१० वि० है। श्री हरिव्यास देव का रचना-काल भी सूरदास के समय का ही है। वैसे निम्बार्क सम्प्रदायी हरिव्यासदेव जी आयु में सूर से बड़े थे।'' डा० गुप्त ने अपनी स्थापना के मण्डन के लिए यद्यपि कोई आधार प्रस्तुत नहीं किया है, किन्तु केशव काश्मीरी जी का समय विक्रम की १६वीं शती का मध्य काल निश्चित[4] होने के कारण डा० गुप्त के द्वारा अनुमान किया हुआ श्री भट्ट का काल सं० १६१० वि० उपयुक्त प्रतीत होता है। सूरदासजी से हरिव्यास देव जी को उम्र में बड़ा बताने का भी कोई आधार डा० गुप्त ने नहीं दिया है और न ही किसी अन्य प्रमाण से इस अनुमान की पुष्टि होती है। ऐसी दशा में यह तथ्य ग्राह्य नहीं हो सकता। वैसे देखा जाए, तो जैसा कि आगे के उल्लेखों से ज्ञात होगा, हरिव्यासदेव उम्र में सूर से काफी छोटे (लगभग ४० वर्ष) हैं। पं० बलदेव उपाध्याय जी ने भी एक नवीन युक्ति के आधार पर श्री भट्ट जी का समय सं० १६१० के लगभग अनुमित किया है, जो उचित है।[2]

डा० नारायण दत्त शर्मा की यह मान्यता है कि ''शाही खाँ उपनाम सिकन्दर बुतशिकन के शासन-काल १४२७ ई० में श्री भट्ट जी काश्मीर में थे, वे प्राणियों को औषधि-वितरण किया करते थे। वे पद-रचना भी करते थे और काश्मीर का शासक शाहीखाँ उनका

१. भक्तमाल – छप्पय सं० ७६, रूपकला संस्करण, पृ० ५६४ (तृतीयावृत्ति)।
२. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, भाग १, पृष्ठ २५
३. वही, पृ० २५।
४. दे० 'साहित्य-संगम' साहित्य-संगम गोष्ठी, मुजफ्फरनगर का वार्षिक संकलन, १९६३, पृष्ठ ५७ से ७३ तक।
५. भागवत सम्प्रदाय, पृष्ठ ३२६, ना०प्र० सभा, काशी (प्र०सं०)।

बहुत सम्मान करता था, जैसा कि तबकाते अकबरी, भाग २, पृष्ठ ४३६-४४१ में उल्लेख मिलता है।''[1] अत्यन्त हास्यास्पद है। श्री भट्ट का नाम देखकर ही डा० शर्मा ने बिना विचार किये हुए ही केवल नाम-साम्य के आधार पर तबकाते अकबरी के उल्लेख को प्रसिद्ध निम्बार्क-सम्प्रदायी भक्त कवि श्री भट्ट का वृत्त मान लिया। यह उनका भ्रम ही है। यदि डा० शर्मा तबकाते अकबरी के ही पृष्ठों को ध्यानपूर्वक उलट-पुलट लेते तो उनको ऐसा मान लेने का साहस न होता। डा० शर्मा के विवरण में कई अशुद्धियाँ हैं। सम्भवत: ऐतिहासिक ज्ञान के अभाव में ही समझने में कई अशुद्धियाँ हुई हैं। सिकन्दर बुतशिकन का उपनाम शाही खाँ नहीं था। शाहीखाँ के नाम से तो उसका पुत्र सुल्तान जैनुल आबदीन प्रसिद्ध था। पूरा उल्लेख इस प्रकार मिलता है, ''सुल्तान जैनुल आबदीन बिन सुल्तान सिकन्दर बुतशिकन जो कि शाहीखाँ के नाम से प्रसिद्ध है।'' 'बिन' का अर्थ 'पुत्र' होता है और 'जो कि शाहीखाँ के नाम से प्रसिद्ध है' यह उल्लेख 'सुल्तान जैनुल आबदीन' के लिए आया है। डा० शर्मा ने इस 'सुल्तान सिकन्दर बुत शिकन' के सम्बन्ध का समझ लिया है। इस उद्धरण में आया हुआ सन् १४२७ ई० भी सिकन्दर बुतशिकन के शासन-काल का न होकर शाहीखाँ के शासन-काल का है। शाहीखाँ (जैनुल आबदीन) का शासन-काल सन् १४१७ से १४६७ ई० तक है।

तबकाते अकबरी में उल्लिखित श्री भट्ट वस्तुत: भिन्न व्यक्ति हैं। ये कश्मीर सुल्तान के वजीर थे। इनकी मृत्यु कश्मीर में ही हुई थी और इनके पुत्रादि थे। मूल तबकाते अकबरी का हिन्दी अनुवाद उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग २ में प्राप्त है। उसमें लिखा है – ''श्री भट्ट की, जो सुल्तान का वजीर था, मृत्यु के उपरान्त सुल्तान ने कश्मीर का एक करोड़ धन, जो कि ४०० अशर्फियों के बराबर होता है, उसके पुत्रों में दान कर दिया।''[2] निम्बार्क-सम्प्रदायी श्री भट्ट जी का साम्प्रदायिक ऐतिह्य तबकाते अकबरी वाले उपर्युक्त विवरण से कुछ भी समानता नहीं रखता। सम्प्रदाय में श्री भट्ट जी को 'आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचारी' माना जाता है।[3] अत: डा० शर्मा का निम्बार्कीय श्री भट्ट तथा तबकाते अकबरी वाले श्री भट्ट की अभिन्नता सिद्ध करने का प्रयास निरर्थक है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि श्री भट्ट जी का समय[4] विक्रम की १६वीं शती का उत्तरार्ध और १७वीं शती का पूर्वार्ध अर्थात् सं० १५६० से १६३० के आसपास तक मानना ही ऐतिहासिक और साहित्यिक प्रमाणों के आधार पर ठीक है। उन्हें अधिक प्राचीन सिद्ध करना केवल साम्प्रदायिक दृष्टि से उचित हो सकता है; किंतु इसे सत्य रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

---

१. महावाणी की भूमिका, श्री सर्वेश्वर प्रेस, वृन्दावन से प्रकाशित, पृष्ठ ८।

२. उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग २, पृ० ५१६, प्रकाशक – इतिहास-विभाग, अलीगढ़ वि०वि०, अलीगढ़।

३. युगल-शतक – प्रकाशक – श्री ब्रजबिहारी शरण, भूमिका, पृ० ५।

४. श्री भट्ट नाम का एक भक्त कवि वल्लभाचार्य जी के आरम्भिक सेवकों में भी हुआ है और उसकी रचना भी माधुर्य भक्ति की ही है, किन्तु उसकी पृथकता प्रमाणित है।

भारतीय साधक और अन्वेषकों में मूर्धन्य म०म० डा० गोपीनाथ जी कविराज की 'काशी की सारस्वत साधना' शीर्षक लेखमाला में १५वीं शती के अन्तर्गत निम्बार्क-सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य श्री हरिव्यास देव का उल्लेख हुआ है। उन्होंने अपने हाथ से कृष्णदेव-विरचित 'नृसिंह-परिचर्या' नामक वैष्णव-ग्रन्थ की प्रतिलिपि काशी में बैठकर की थी। इस प्रतिलिपि का काल सम्वत् १५१५ वि० या सन् १४५८ लिखा गया है[1], जबकि 'पत्रिका' के वर्ष २, अंक३ के पृष्ठ १६ पर इस 'नृसिंहपरिचर्या' नामक ग्रन्थ का प्रतिलिपि-काल सम्वत् १५२५ वि० या सन् १४६८ ई० दिया गया है। मूल ग्रन्थकार का नाम भी 'कृष्णदेव' के स्थान पर 'विष्णुदेव' लिखा है।

कविराजजी के दोनों उल्लेख अपने आप में एक-दूसरे के विरुद्ध हैं। वास्तविकता निम्नलिखित रूप में है –

मैंने अपने शोध-कार्य के सिलसिले में उक्त 'नृसिंह परिचर्या' नामक ग्रन्थ का आवश्यक विवरण तथा पुष्पिका की प्रतिलिपि संस्कृत वि०विद्यालय, वाराणसी के पुस्तकालय से मँगाई थी। वहाँ से जो अधिकृत विवरण और पुष्पिका की प्रतिलिपि प्राप्त हुई है, उसके आधार पर मैं निःसन्देह कह सकता हूँ कि कविराजजी के उल्लेख अशुद्ध हैं। मूल ग्रन्थकार का नाम 'कृष्णदेव' (विष्णुदेव नहीं) और प्रतिलिपि-काल सम्वत् १६२५ या सन् १५६८ ई० है (सम्वत् १५१५ या १५२५ वि० नहीं)। पुष्पिका का आवश्यक अंश उद्धृत किया जा रहा है –

"............इति श्रीमत्परम वैष्णव प्रतिष्ठाचार्य श्री रामार्य वर्य सुत कृष्णदेव विरचितायां वैष्णवधर्मानुष्ठानपद्धतौ नृसिंह परिचर्यायां द्वादशः पटलः। समाप्तेयं नृसिंह परिचर्या।।श्रीः।। सम्वत् १६२५ वर्षे आषाढस्यासितेपक्षे चतुर्श्यां रवि वासरे। लिखतं हरिव्यासेन वाराणस्यां शुभ स्थले।। श्रीमत्का..........ख्य विप्रस्य पुत्रः परमवैष्णवः। गोविन्दः श्रौतधर्मज्ञस्तेनेदं लिखितं शुभं।।"

उपर्युक्त विवेचन से कविराज जी की पूर्वोक्त सूचना सं० १५१५ वि० या १५२५ वि० को सही मानकर हरिव्यासदेवजी के समय-निर्धारण में जिस भ्रम की सृष्टि हुई, उसका पूर्णतः निराकरण हो जाता है।

'नृसिंह परिचर्या' वैष्णव धर्म के नियमों, वर्ष-भर के कृत्यों तथा भगवदुत्सवादि के निर्णय के कारण बड़ा प्रामाणिक वैष्णोपयोगी ग्रन्थ है। इसीलिए हरिव्यास देव ज़ी ने उसकी प्रतिलिपि की होगी। अतः नृसिंह परिचर्या के लेखन-काल के आधार पर यह पूर्णरूपेण निश्चित हो जाता है कि सं० १६२५ वि० में हरिव्यास देव जी इस धराधाम पर विद्यमान थे। उस समय यदि उनकी आयु २५ या ३० वर्ष की रही हो तो वि०सं० १५९० या इससे कुछ पूर्व तक उनके आविर्भाव-काल का अनुमान किया जा सकता है।

मिश्रबन्धुओं ने श्री हरिव्यासदेव का रचना-काल १५१७ माना है।[2] पर यह केवल

---

१. दे० – परिषद्-पत्रिका, वर्ष २, अंक २, पृ० १६, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।
२. मिश्रबन्धु-विनोद, प्रथम भाग, पृ० २२५ (द्वि०सं०)।

अनुमानाधारित है। पुष्ट प्रमाणाभाव में उपर्युक्त ऊहापोह के अनुसार मिश्रबन्धुओं का यह अनुमान अशुद्ध है। हरिव्यासदेव का जन्म मथुरा में आदि गौड़ ब्राह्मण कुल में हुआ था और श्री भट्ट जी के बाद वे निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्य हुए थे। इनका जन्मोत्सव कार्तिक कृ० १२ को मनाया जाता है।

नाभादास जी ने 'भक्तमाल' में हरिव्यासदेव जी का वर्णन वर्तमान कालिक क्रिया के साथ किया है। इससे भी ये नाभा जी के समकालिक ठहरते हैं।[१]

पं० बलदेव उपाध्याय जी ने एक नवीन ढंग से हरिव्यासदेव जी के समय का अनुमान लगाया है।[२] "इनकी ८वीं पीढ़ी में प्रसिद्ध कवि रसिक गोविन्द हुए, जिन्होंने अपने गोविन्दानंदघन नामक ग्रन्थ की रचना १८५८ सम्वत् की वसन्त पंचमी को की। यदि एक पीढ़ी के लिए पच्चीस वर्ष का समय मान लिया जाए, तो हरिव्यास जी का समय उनसे २०० वर्ष पहले अर्थात् सं० १६५८ के आस-पास होना चाहिए। 'नृसिंह परिचर्या' के लेखन-समय को देखते हुए यह अनुमान असंगत प्रतीत नहीं होता। अत: सं० १५८० से १६६० के आस-पास तक इनका समय स्वीकार किया जा सकता है।

श्री ब्रजवल्लभ शरण जी ने 'युगल-शतक' की भूमिकान्तर्गत 'श्री निम्बार्क समय-समीक्षा' में श्री परशुराम देवाचार्य के नाम के १६६६ वि० सम्वत् के एक पट्टे का उल्लेख किया है।[३] साथ ही यह भी लिखा है कि इसके पश्चात् किसी पट्टे में श्री परशुराम देव का नामोल्लेख नहीं मिलता; केवल श्री परशुरामजी रे द्वारे या मन्दिर आदि का ही उल्लेख मिलता है। इससे यह ज्ञात होता है कि परशुराम देव जी वि०सं० १६६६ तक विद्यमान थे।

भूमिका लेखक महोदय ने यहीं खेजड़लारा भाटी सरदारान की तवारीख के आधार पर सम्वत् १५१५ के एक ताम्रपत्र का भी उल्लेख किया है, जिसमें परशुराम जी का नाम अंकित है।[४] इस ताम्रपत्र में सम्वत् संख्या का तो उल्लेख है, किन्तु सम्वत् का नाम उल्लिखित नहीं है कि कौन-सा सम्वत् है – वि० सम्वत् है या शक सम्वत् है ? लेखक महोदय ने संदिग्ध शब्दों में इस सम्वत् को विक्रमी सम्वत् स्वीकार करते हुए लिखा है – "यदि उक्त जोधपुर की तवारीख में विक्रम सम्वत् का ही उल्लेख हो और उस १५१५ सम्वत् के समय श्री परशुराम देव जी की कम से कम १५ वर्ष की आयु मान ली जाए, तब भी श्री परशुराम देव जी का आयुमान १६६ वर्ष का निकलता है।" उपर्युक्त उल्लेख से विदित होता है कि लेखक ने आयु-दीर्घता के मोह में पड़कर ही शक सम्वत् को विक्रमी सम्वत् माना है। फिर केवल १५ वर्ष की आयु में दीक्षादि देना भी कोई उचित प्रतीत नहीं होता। ताम्रपत्र के पूरे विवरण को पढ़ने के पश्चात् ज्ञात होता है कि उक्त सम्वत् वि० सम्वत् न होकर शक सम्वत् है। उक्त सम्वत् को शक सम्वत् मान लेने से

---

१. भक्तमाल – ७७वाँ छप्पय, रूपकला संस्करण, पृ० ५६५ (तृतीयावृत्ति)।
२. भागवत-सम्प्रदाय, पृ० ३२५-२६, प्र० ना० प्र० सभा काशी (प्र०सं०)
३. दे० युगल शतक – श्री निम्बार्क समय समीक्षा, पृ० ७, ब्रजबिहारी शरण, वृन्दावन।
४. वही, पृ० ६, बही नकल तवारीख वकील कड़राज जी जोधपुर से उद्धृत।

इसकी संगति ठीक बैठ जाती है। १५१५ शक् सम्वत् का १६५० वि० सम्वत् होता है, जो वि०सं० १६६६ की संगति में उचित जँचता है, अतः इसके अनुसार परशुराम देव जी वि० सं० १६५० (१५१५ शक सं०) में विद्यमान थे। 'शिवसिंह सरोज' में इनका समय सं० १६६० दिया गया है, वह सही है।

श्री ब्रजवल्लभ शरण जी ने परशुराम देव जी की गुफा के निकट उनके शिष्य हरिवंश देव जी के द्वारा वि० सं० १६८९ में एक मन्दिर बनवाये जाने का उल्लेख, गुफा के द्वार पर अंकित शिलालेख के आधार पर किया है। शिलालेख की प्रतिलिपि भी उद्धृत की गयी है।[1] उक्त शिलालेख की नकल यहाँ भी दी जा रही है –

श्री गोपाल जी महाराज सत्य
सम्वत् १६८९ वर्षे माघ सुदि
पूर्णमासी सोमवार सालां
स्वामी श्रीपरशुराम जी मन्दिर
बिराजमान, श्रीकृष्ण जयति
सत्य सखामद स्वामी दामोदरदासं
मथुरा बाला।
पात साह, श्री शाह जहाँ राजे स्वामी
श्री हरिवंश देव, श्री परशुराम जी का
शिष्य-स्वामी पूरणदास साखा में
दुरसद
सेवक रामदास

परशुरामदेव जी की गुफा वाला स्थान सम्प्रदाय में पुष्कर राज के १२ प्राचीन सालों (स्थानों) में एक मुख्य स्थान माना जाता है। उसके पुष्कर द्वार पर अंकित इस शिलालेख से यह निश्चित होता है कि परशुराम देव जी वि०सं० १६८९ के पूर्व परलोकवासी हो गये थे।[2]

अतः सं० १६६६ के पश्चात् और सं० १६८९ से पूर्व, दोनों सम्वतों के बीच किसी समय श्री परशुराम देव जी परलोकवासी हुए होंगे। मेरा अनुमान है कि सं० १६८० के लगभग श्री परशुराम देव जी का गोलोकवास हुआ होगा। अतः इस आधार पर इनका जन्म-काल सं० १६०० के आस-पास माना जा सकता है।

श्री वेदान्ताचार्य जी ने आचार्य पीठिका विषयक एक और तथ्य का उल्लेख अपनी इस समीक्षा में किया है। आप लिखते हैं –"एक विशेष ध्यान देने की बात यह है कि वल्लभाचार्य जी का जन्म सं० १५३७ निर्विवाद है। उनके साथ श्री चतुर चिन्तामणि देवाचार्य (श्री नागाजी) का समागम हुआ था; यह उन्हीं श्री वल्लभाचार्य जी के नाती गोकुलनाथ जी की लिखी हुई बन यात्रा बैठकन के चरित पृ० १६३ से १६५ तक में लिखा हुआ है कि नागा जी जो श्री निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी थे, वे वल्लभाचार्य जी के समय में ४० वर्ष की अवस्था में थे, वल्लभाचार्य जी ने कहा था कि आपकी दो सौ वर्ष आयु होगी, हमारे नाती से आपका समागम होगा।

...........इससे यह निष्कर्ष अवश्य निकल आता है कि विक्रम सम्वत् १५६० के

१. वहीं, पृ० ८, शिलालेख के कई अक्षर स्पष्ट पढ़ने में नहीं आते – लेखक पाद टिप्पणी।
२. विद्वानों को इन ताम्रपत्र, पट्टे-परवानों तथा शिलालेखादि की प्रामाणिकता के विषय में पूर्ण जाँच करनी चाहिए।

आसपास श्री नागाजी विद्यमान थे, जो भट्ट जी से ५वीं पीठिका उत्तरवर्ती थे, अब विचार किया जाए कि जब नागाजी ही १५६० में स्थित थे, तब उनसे ५ पीठिका पूर्ववर्ती आचार्य श्री भट्ट जी का जन्म समय वि० सं० १५६५ कैसे माना जा सकता है ?''[१]

उपर्युक्त कथन में कई त्रुटियाँ हैं – (१) श्री वल्लभाचार्य जी का जन्म सं० १५३७ न होकर १५३५ निर्विवाद है।[२] मूल ग्रन्थ (८४ बैठकन के चरित्र) में चतुरा नागा नाम दिया है और इनकी २०० नहीं, १५० वर्ष की आयु का उल्लेख है। साथ ही इनके द्वारा श्री गोकुलनाथ जी का शिष्यत्व ग्रहण करने का भी उल्लेख है।

यहाँ प्रश्न पीठ-गणना का नहीं है, क्योंकि ग्रन्थ में नागा जी का उल्लेख किसी सम्प्रदायाचार्य के रूप में नहीं किया गया, केवल एक सामान्य निम्बार्क-सम्प्रदाय के अनुयायी के रूप में हुआ है। अत: शिष्य परम्परा गणना (मन्त्र प्रदान रूप परम्परा) के अनुसार पाँच पीढ़ियों का एकसाथ एकत्र होना असम्भव नहीं। फिर यह पीढ़ी-गणना किसी प्रामाणिकता पर आधारित नहीं जान पड़ती, क्योंकि कहीं तो चतुरा नागा जी को श्री भट्ट जी से ५वीं पीठिका उत्तरवर्ती लिखा गया है और कहीं श्री हरिव्यासदेव जी से ५वीं पीठिका के महापुरुष माना गया है।

उपर्युक्त वार्ता ग्रन्थ (८४ बैठकन के चरित्र) में भी साम्प्रदायिक गौरव को स्थापित करने की चेष्टा है। लेखक का आशय अपने पूर्वजों का उत्कर्ष बढ़ाने का है। अत: ऐसी स्थिति में यह पीढ़ी-परम्परा का झंझट आपके ही लेखानुसार समय सिद्ध करने में निरर्थक ही ठहरता है।

''आचार्य पीठ के अतिरिक्त महात्माओं की यदि पाँच पीढ़ियाँ एकत्रित भी हो जाएँ तो भी वे समय सिद्ध करने में सहायक नहीं हो सकतीं।''[३]

आश्चर्य है, फिर न जाने क्यों इस निरर्थक पीढ़ी-गणना के तथ्य को प्रमाण कोटि में लाकर और इसके आधार पर ही श्री भट्ट, हरिव्यास आदि का समय सिद्ध करने की व्यर्थ ही चेष्टा की जा रही है ?

नाभादास कृत 'भक्तमाल' में परशुराम जी के विषय में भी छप्पय प्राप्त होता है।[४] नाभादास जी के उक्त छप्पय में श्री भट्ट के पश्चात् श्री हरिव्यास देव और श्री परशुराम जी को क्रमश: शिष्य परम्परा में स्थापित किया गया है।

डा० शिवप्रसाद सिंह ने अपने शोध-प्रबन्ध 'सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य' में परशुराम जी विषयक छप्पय की एक पंक्ति 'जंगली देस के लोग सब परशुराम किय पारषद' के आधार पर एक ऐतिहासिक तथ्य का उद्घाटन करते हुए निम्न निष्कर्ष निकाला है[५] – ''..........इस प्रकार परशुराम सम्बन्धी छप्पय में 'जंगली देश' का अर्थ

---

१. दे० युगल शतक – श्री निम्बार्क समय समीक्षा, पृ० ७, ब्रजबिहारी शरण, वृन्दावन।

२. अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय, भाग १, पृ० ७०, डा० दीनदयालु गुप्त।

३. श्री युगल शतक – प्र० ब्रजबिहारी शरण, वृन्दावन, श्री निम्बार्क समय समीक्षा, पृ० १३।

४. छप्पय सं० १३७, रूपकला संस्करण, पृ० ७८४ (तृ०सं०)।

५. पृष्ठ २०३ (प्र०सं०)

जांगल देश अर्थात् राजपूताना का भू-भाग है। नाभादास के मत से परशुराम ने राजस्थान के लोगों को 'पारषद' यानी वैष्णव भक्त बनाया। नाभादास ने परशुराम के कार्यक्षेत्र का एकदम ठीक उल्लेख किया है। क्योंकि परशुराम देव राजस्थान के सलेमाबाद (परशुरामपुरी) को केन्द्र बनाकर भक्ति-प्रचार का कार्य करते थे।...........इस प्रकार नाभादास को यह मालूम था कि परशुराम ने जांगल देश के जंगली लोगों को भक्त बनाया। परशुराम के इस विशेष कार्य का उल्लेख भी ध्यान देने की वस्तु है। एक काफी बड़े भू-भाग को असभ्य से सभ्य या भक्त बनाना कुछ समय-सापेक्ष्य व्यापार है। मेरे कहने का मतलब यह कि परशुराम नाभादास से पूर्व में थे ही, भक्ति-प्रचार का कार्य तो उन्होंने और भी बहुत पहले से किया होगा। इस प्रकार परशुराम वि० १६०० के आस-पास या उसके पूर्व वर्तमान थे।''

'जंगली देस' अर्थात् 'जांगल देश' देशवाची है। वर्तमान सारा बीकानेर राज्य तथा मारवाड़ (जोधपुर) का उत्तरी भाग, जिसमें नागौर आदि परगने हैं, प्राचीन काल में 'जांगल देश' कहलाता था। बीकानेर के राजा जांगल देश के स्वामी होने के कारण अपने को 'जांगलधरा (जांगल देश) के बादशाह' कहते हैं, जैसा कि उनके राज्य-चिह्न में लिखा रहता है – 'जय जंगलधर बादशाह'।

क्या जांगल देश के निवासी परशुराम जी से पूर्व जंगली या असभ्य थे ? देशसूचक इस शब्द से वहाँ के निवासियों को जंगली या असभ्य बतलाना अर्थ का अनर्थ करना है। नाभादास जी की उक्त पंक्ति का सीधा अर्थ यही है कि परशुराम जी ने भक्ति का प्रचार कर जांगल देश के निवासियों को 'पारषद' अर्थात् वैष्णव भक्त बनाया। यह ठीक है कि परशुराम जी का यह विशेष कार्य कुछ समय-सापेक्ष्य व्यापार है, किन्तु नाभादास जी की 'भक्तमाल' का निर्माण-काल भी पर्याप्त दीर्घ है।

'भक्तमाल' के बनने का समय 'भक्तमाल' में तो दिया नहीं है। ऐसी स्थिति में इसके निर्माण-काल के सम्बन्ध में विद्वानों ने अनुमान ही लगाया है। श्री राधाकृष्णदास जी के अनुमान से 'भक्तमाल' का रचना'-काल सं० १६४२ से लेकर सं० १६८० तक है।[१] श्री वासुदेव गोस्वामी ने रचना-काल सं० १६८६ के पश्चात् अनुमित किया है।[२] ग्रन्थ में रचयिता द्वारा किसी सम्वत्-सूचक संकेत के अभाव में एक सम्वत् विशेष को रचना-काल नहीं माना जा सकता। भक्तमाल के छप्पयों का प्रणयन पर्याप्त लम्बे समय तक इच्छानुसार समय-समय पर हुआ। ऐसी दशा में यह सम्भव है कि परशुराम विषयक छप्पय का निर्माण भक्तमाल की रचना के अन्तिम समय में हुआ हो। पूर्व पृष्ठों में निर्धारित परशुराम जी के समय से प्रकट है कि वे नाभादासजी के समसामयिक थे। नाभा जी ने उनके विषय में खूब देखा-सुना होगा और तब उनके सम्बन्ध में छप्पय की रचना की होगी। अतः परशुराम जी के इस 'कुछ समय-सापेक्ष्य' भक्ति-प्रचार के कार्य के आधार पर उन्हें नाभादास जी से पूर्व अथवा सं० १६०० वि० के पूर्व का नहीं सिद्ध किया जा सकता।

---

१. भक्तनामावली – सं० राधाकृष्णदास, प्र० नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, पृ० ६०।

२. नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६४, अंक ३-४, पृ० २६०।

डा० शिवप्रसाद सिंह ने परशुराम-सागर में विप्रमती ग्रन्थ की पुष्पिका पर भी विचार कर परशुराम जी को सं० १६७७ के पहले का माना है और सिद्ध किया है कि सं० १६७७ परशुराम जी की वाणी का लिपि-काल है, प्रणयन-काल नहीं।[1]

यह उचित है कि सं० १६७७ को परशुराम जी की वाणी का लिपिकाल मानने से इस सम्वत् को परशुरामदेव का आविर्भाव-काल बताना उपयुक्त नहीं है और यह भी ठीक है कि परशुरामजी ने स्वयं अपनी वाणी का संकलन नहीं किया होगा, क्योंकि 'परशुराम जी की वाणी' ऐसा उल्लेख स्वत: नहीं होता। अत: सं० १६७७ में परशुराम-वाणी का किसी भक्त ने ही संकलन किया होगा, किन्तु डा० सिंह ने यह बताने का कष्ट नहीं किया कि इस सं० १६७७ के आधार पर परशुराम जी को कितना पहले माना जाए ? और फिर परशुराम-वाणी की प्रतिलिपि उनके जीवन-काल में होना भी तो सम्भव है। अत: सं० १६७७ परशुरामदेव जी के जीवन-काल के अन्तर्गत ही आता है, यह उनका उपस्थिति-काल है।

सं० १६७७ तक इनकी रचनाओं का संकलन 'परशुराम सागर' नाम से प्रसिद्ध नहीं हुआ था। यह नामकरण १६७७ और १८३७ के बीच किसी समय हुआ। १६७७ वाली पुष्पिका ग्रन्थ के मध्य में है और १८३७ वाली ग्रन्थ के अन्त में है। अत: स्पष्ट है कि सं० १६७७ उनके जीवन-काल ही में संकलित 'परशुराम जी की वाणी' का लिपिकाल है। उनकी मृत्यु के बाद पश्चात्कालीन रचनाएँ भी मिलाकर जो बृहत् संकलन वाणी का तैयार हुआ, उसका नाम 'परशुराम सागर' रखा गया। सं० १८३७ ऐसे ही संकलन का प्रतिलिपि-काल है। ग्रन्थ का काफी पहले प्रकाशन भी हो चुका है, जिसकी एक प्रति काशी ना०प्र० सभा में है।

२.४ आचार्य परशुराम देव के समय पर पुनर्विचार

डा० रामप्रसाद शर्मा ने निम्बार्क-सम्प्रदाय के 'आचार्य परशुराम देव' के विषय में शोध-कार्य कर 'आचार्य श्री परशुराम देव – एक अध्ययन' नामक शोध-प्रबन्ध पर सन् १९६३ में राजस्थान विश्वविद्यालय से पी-एच०डी० की उपाधि प्राप्त की है।[2] डा० शर्मा ने परशुरामजी की समस्त रचनाओं का संकलन 'परशुराम सागर' नाम से चार खंडों में प्रकाशित कराया है। 'परशुराम सागर' के चतुर्थ खण्ड में परशुराम देवाचार्यजी के ६३० गेय पद संकलित हैं। इस 'परशुराम पदावली' का प्रकाशन करेंट बुक कम्पनी, जयपुर से हुआ है। ग्रन्थ का सम्पादन अत्यन्त भ्रष्ट है। इसे मात्र ग्रन्थ का प्रस्तुतीकरण कह सकते हैं। इसमें स्व-विवेक का उपयोग नहीं है। ग्रन्थारम्भ में ६६ पृष्ठों की एक लम्बी-चौड़ी 'प्रस्तावना' है। इसी प्रस्तावना के अन्तर्गत उन्होंने अपने शोध-निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं।

१. सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, पृ० २०४ (प्र०सं०)
२. यह शोध-प्रबन्ध 'आचार्य परशुराम देव : व्यक्तित्व और कृतित्व' शीर्षक से अर्चना प्रकाशन, अजमेर से सन् १९७५ में प्रकाशित हो चुका है।

इसके पूर्व भी उनके उक्त शोध-विचार उनके एक 'शोधात्मक निबन्ध' के रूप में 'श्रीसर्वेश्वर' के दो अंकों[1] में क्रमशः प्रकाशित हो चुके हैं। इस विस्तृत निबन्ध में उनके 'प्रबन्ध' का सार-संक्षेप सामने आया है।

'निम्बार्क-सम्प्रदाय' के केशव काश्मीरी भट्टाचार्य, श्री भट्ट, हरिव्यास देव तथा परशुराम देव का समय-निर्धारण, यद्यपि मैं अपने दो विस्तृत शोधपूर्ण निबन्धों[2] में प्रामाणिक तथ्यों के आधार पर कर चुका हूँ, लेकिन फिर भी डा० शर्मा ने शोध के नाम से जो सामग्री प्रस्तुत की है, उस पर पुनर्विचार आवश्यक है। यह इसलिए भी अनिवार्य है, जिससे उनके शोधकार्य का वास्तविक रूप सबके सामने आ सके। फिर इधर कुछ नयी सामग्री भी प्राप्त हुई है। उसके प्रकाश में भी डा० शर्मा के निष्कर्षों को परखने की आवश्यकता है। अतः उनके द्वारा प्रकाशित ऐसी सभी सामग्री पर मैं इस लेख द्वारा अपनी विचारणा प्रस्तुत कर रहा हूँ।

इस लेख में प्रथम उस नवीन सामग्री को प्रस्तुत किया जा रहा है, जिससे मेरे निष्कर्षों की ही पुष्टि होती है। तत्पश्चात् प्रस्तावनान्तर्गत डा० शर्मा के प्रस्तुत किये गये तथ्यों एवं निष्कर्षों पर विचार किया जाएगा।

पूर्वोल्लिखित अपने लेख में मैंने प्राप्य तथ्यों के आधार पर आचार्य परशुराम देव का मृत्यु-समय सं० १६८० के आस-पास सिद्ध किया था, जिसके आधार पर उनका जीवन-काल लगभग सं० १६०० से लेकर सं० १६८० के आस-पास तक माना जा सकता है। इस स्थापना की पुष्टि नीचे प्रस्तुत सामग्री से भी होती है।

परशुरामजी की सं० १६८० के आस-पास मृत्यु मानने का कारण यह है कि परशुरामजी के बाद उनके प्रमुख शिष्य हरिवंशदेवजी सलेमाबाद गद्दी के आचार्य हुए थे। इन्होंने सं० १६८६ में अपने गुरु परशुराम देवाचार्य की समाधि और गुफा के निकट इनके स्मृति स्वरूप एक स्थान निर्माण कराया था, जो अब परशुराम द्वारा के नाम से प्रख्यात है। इससे ज्ञात होता है कि परशुरामजी की मृत्यु इस समय से पूर्व ही हो गयी थी, किन्तु स्मारक-निर्माण के समय को ध्यान में रखते हुए यह प्रतीत होता है कि उस समय तक उनको दिवंगत हुए अधिक समय नहीं हुआ होगा। अतः इसी आधार पर सं० १६८० के आस-पास उनके देहावसान-काल का अनुमान किया गया है। इससे पूर्व परशुरामजी[3] की विद्यमानता के प्रमाणों का उल्लेख पूर्व प्रकाशित लेख में किया ही जा चुका है। अतः यहाँ उनका उल्लेख फिर से नहीं किया जा रहा है। उन्हें उसी लेख में पढ़ने का कष्ट करें। नये तथ्य इस प्रकार हैं –

---

१. वर्ष १२, अंक ३ तथा ४, मार्च-अप्रैल १६६४, पृ० २१ तथा ११। श्री सर्वेश्वर कार्यालय, वृन्दावन।

२. (अ) केशव काश्मीरी भट्टाचार्य का समय-निरूपण – 'साहित्य-संगम', साहित्य-संगम-गोष्ठी, मुजफ्फरनगर का वार्षिक संकलन, १६६३, पृ० ५७-७३ तक।

(आ) श्री भट्ट, हरिव्यास देव तथा परशुराम देवाचार्य का काल-निर्धारण, शोध-पत्रिका, वर्ष १६, अंक २, पृ० १०-२२ तक।

३. ये जाति से गौड़ ब्राह्मण थे और इनका वार्षिक पाटोत्सव भाद्रपद कृष्णा ५ को मनाया जाता है।

दादूजी की शिष्य-परम्परा में राघोदासजी ने भी 'भक्तमाल' का निर्माण किया है, जो सन्त-सम्प्रदायों में विशेष प्रसिद्ध है। उक्त भक्तमाल में राघोदासजी ने दादूजी के शिष्य जग्गाजी का परिचय निम्नलिखित रूप में दिया है –

दादू दीनदयाल कै, जगो जोति जगदीस की।।
भक्ति-भाव परपक्क, साध गुर सेवा बरती।
सहर सीकरी श्री रब, धायो जानि सु धरती।
गये सलेमाबाद, परस जु लई परक्षा।
भये रसोई खान, सीरनी कीन्हीं भक्षा।
राघो धाये दक्षन दिस, भक्ति बयाई ईस की।
दादू दीन दयाल कै, जगो जोति जगदीस की।।४१५।।

आगे ४१६ संख्यक छंद (मनहर) में भी उक्त घटना के साथ 'परसराम' का नामोल्लेख है।[1]

अकबर के आमन्त्रण पर सत्संग करने के लिए दादूजी अपने आठ शिष्यों के साथ फतहपुर सीकरी गये थे। सं० १६४३ में वहाँ दोनों की भेंट हुई थी।[2] जो आठ शिष्य दादूजी के साथ सीकरी गये थे, उनमें से एक जग्गाजी भी थे। इनका थांभा दक्षिण में नर्मदा तट पर भडौंच में था। यह सलेमाबाद भी गये थे, जहाँ 'परसजु' (परशुरामदेव) ने इनकी परीक्षा ली थी। दादू-पंथ में दादूजी के प्रसिद्ध शिष्य छोटे सुन्दर दास, जग्गाजी के अवतार माने जाते हैं।[3] उक्त सुन्दरदासजी का जन्म चैत सुदी ६, सं० १६५३ में हुआ।[4] इससे प्रतीत होता है कि जग्गाजी की मृत्यु सं० १६५३ से पूर्व किसी समय हो गयी थी। माना कि उनकी मृत्यु सं० १६५१-५२ में हुई होगी। अतः जग्गाजी सं० १६४३ एवं १६५१ के बीच किसी समय सलेमाबाद गये होंगे और तभी वे परशुराम जी से मिले होंगे। इस तथ्य-प्रमाण से यह सिद्ध है कि परशुराम जी दादू जी (सं० १६०१-१६६०) के शिष्य जग्गाजी के समकालीन थे और सं० १६५० के लगभग विद्यमान थे।

डा० शर्मा द्वारा प्रकाशित 'परशुराम पदावली' में परशुराम जी का एक पद निम्नांकित रूप में है –

राग सारंग-हरिजन सब परिवार हमारौ।।
जहाँ कहूँ सुमिरैं जो हरि कौं सोई हम कौं लागत अति प्यारो।।टेक।।
नामदेव, जैदेव तिलोचन, जन कबीर, सधना, रैदासा।
पीपा, पदम, सूर, परमानंन्द, सेन, धतां, सोझा कुली खासा।।१।।
भीम, भुवन, हरिदास, चत्रभुज, कृष्णा, कृष्णदास आधारा।।
व्यास, तिलोक, दिवाकर, द्योगूना मान्यो हूँ जिन हरि प्यारा।।२।।

---

१. दे० भक्तमाल – राजस्थान प्रा०वि० प्रतिष्ठान, जोधपुर का संस्करण, पृ० १६७।
२. उ०भा० की सन्त-परम्परा, पृ० ४६८ (द्वि०सं०)
३. वही, पृ० ५०७
४. वही, पृ० ५०७

सोभूराम, जसौधर, धोमी, सु मान दास कह हरियो॥
श्री भट, श्री व्यासदेव परि चेरौ, 'परसराम' हरि करियो॥३॥

– पृ० ११७, पद १६६।

उपर्युक्त पद अन्तःसाक्ष्य का कार्य करता है और परशुरामदेव जी के समय-निरूपण में पूर्ण सहायक सिद्ध होता है। इस पद में 'सूर' का नाम आया है और उन्हीं के साथ-साथ 'परमानन्द' का भी नाम है। यह परमानन्द प्रसिद्ध अष्टछापी कवि है। 'कृष्णा' जी वल्लभ-सम्प्रदाय की हैं, जो गोसाईं विट्ठलनाथ जी की शिष्या थीं। 'हरिदास' प्रसिद्ध स्वामी हरिदास हैं। 'व्यास' प्रसिद्ध हरिराम शुक्ल 'व्यास' हैं, जो भक्त व्यास जी के नाम से प्रसिद्ध हैं। श्री भट्ट परशुराम जी के गुरु थे। सोभूराम, परशुराम जी के गुरुभाई थे। 'दिवाकर' अग्रदास जी के शिष्य थे।[1] 'भुवन' जी राधा-वल्लभ सम्प्रदाय के आचार्य गोसाईं वनचन्द्र जी के शिष्य थे। इनका वर्णन भगवत् मुदित जी ने अपनी 'रसिक अनन्यमाल' में किया है।[2] गोसाईं वनचन्द्र जी का निकुंजवास सं० १६६५ में हुआ था।[3] अतः इस समय से पूर्व ही भुवन जी ने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया होगा।

उक्त पद में उपर्युक्त भक्तों के नामोल्लेख से यह सिद्ध होता है कि परशुरामजी का देहावसान सूर, परमानन्द, कृष्णदास, चतुर्भुजदास, स्वामी हरिदास, दिवाकर, भुवन एवं हरिराम व्यास की मृत्यु के पश्चात् किसी समय हुआ। इनमें से हरिराम व्यास का जीवन-काल सं० १५६७ से १६६६ के लगभग माना जाता है।[4] स्पष्ट है कि परशुराम उक्त भक्तों के समसामयिक थे और संवत् १६६६ के बाद तक जीवित रहे। अतः परशुराम जी का जीवन-काल संवत् १६०० से लेकर संवत् १६८० तक माना जाना सर्वथा युक्तियुक्त, संगत एवं उपयुक्त है।

प्रस्तावना एवं सर्वेश्वर में प्रकाशित लेखान्तर्गत डा० शर्मा की परशुराम जी विषयक स्थापनाएँ इस प्रकार हैं –

(अ) परशुराम जी की विद्यमानता अर्थात् उनका जीवन-काल संवत् १४५० से संवत् १५६५ तक माना गया है।

(आ) परशुराम देव कबीर के समकालिक और मीराँ से पूर्ववर्ती माने गये हैं।

(इ) परशुराम देव को सूर के स्थान पर हिन्दी का सर्वप्रथम भ्रमरगीतकार माना गया है।

परशुराम देव जी का स्वयं का पद ऊपर दिया ही जा चुका है। उससे स्पष्ट है कि परशुराम देव कबीर, सूर, परमानन्द, हरिदास, हरिराम व्यास, भुवन आदि से परवर्ती हैं। ये कबीर के समकालीन नहीं थे और न सूर, परमानन्द से पूर्ववर्ती। परशुराम जी ने उक्त

---

१. दे० भक्तमाल (रूपकला-संस्करण), छंद १५०।

२. रसिक अनन्यमाल, सं० ललिताप्रसाद पुरोहित, प्र० वेणु प्रकाशन, वृन्दावन, पृ० ५१।

३. वही, प्रस्तावना, पृ० १६

४. दे० भक्त कवि व्यासजी, पृ० ४१ तथा १०४। अन्य मतानुसार व्यास जी का जीवन-काल सं० १५४६ से सं० १६५५ तक है। दे० श्री हित हरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य, ले० ललिताचरण गोस्वामी, पृ० ३८८ से ४०६ तक।

पद के अतिरिक्त अन्य पद में भी सूर, परमानन्द का नामोल्लेख किया है। (दे० परशुराम पदावली का अठारहवाँ पद, पृष्ठ ११)। डा० साहब ने प्रस्तावना में तो परशुराम जी को मीराँ का पूर्ववर्ती लिखा है और लेख में[1] उन्हें मीराँ का समकालीन बताया है, किन्तु डा० साहब के दोनों ही उल्लेख वास्तविकता के विपरीत हैं। परशुराम जी ने स्वयं एक पद में मीराँ के विषपान की कथा का उल्लेख किया है –

'चरणोदक करिपियो हलाहल, जग जीवत न मरै।
ताको साखि प्रगट मीराँ जन, जाको अजर जरै।।' पद ४७, पृ० २६७-६८।

स्पष्ट है कि परशुराम देव जी मीराँ से परवर्ती हैं। स्वयं के उल्लेख से उनका मीराँ से पूर्ववर्ती या समकालीन होने का प्रश्न ही नहीं है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि परशुराम देव हिन्दी में भ्रमरगीत-परम्परा के आरम्भकर्ता किसी प्रकार नहीं हो सकते। यह श्रेय तो सूरदास जी को ही प्राप्त है। अत: डा० शर्मा के इस प्रकार के विचार हास्यास्पद ही हैं।

अब उनके अन्य तथ्योल्लेखों पर विचार किया जा रहा है। डा० साहब ने अपनी प्रस्तावना और लेखों में अनावश्यक इतिहास का ऐसा घटाटोप उपस्थित किया है कि कुछ कहते नहीं बनता। इतिहास का आधार बनाकर अपने मन्तव्यों की सिद्धि में धरती-आकाश के कुलावे मिलाये हैं। उनका यह श्रम निरर्थक ही है और फिर जिस इतिहास को उन्होंने उद्धृत किया है, उसे भी विकृत रूप में उपस्थित किया है। उनकी विद्वत्ता के परिचायक तथ्य निम्नांकित हैं –

१. प्रस्तावना में श्री भट्ट के शिष्य हरिव्यास देव को निम्बार्काचार्य की ३२वीं पीढ़ी में बताया गया है और लेख[2] में श्री भट्ट जी को निम्बार्काचार्य की ३४वीं पीढ़ी के आचार्य और परशुराम देव को निम्बार्क-परम्परा के ३६वें आचार्य लिखा गया है। पाठक स्वयं विचार कर लें कि डा० शर्मा का यह परम्परा-ज्ञान कितना प्रामाणिक और शुद्ध है ? तीन पीढ़ियों की इस अव्यवस्था का क्या होगा ? इसे डा० साहब स्वयं जानें ?
२. डा० साहब ने राजस्थान का प्राचीन नाम 'जांगल देश' बताया है। लेख में भी ऐसा ही उल्लेख है। डा० साहब को ज्ञात होना चाहिए कि राजस्थान का प्राचीन नाम 'जांगल देश' नहीं था। हाँ, उसके एक भू-भाग को अवश्य 'जांगल देश' कहा जाता था, जो आज का पश्चिमोत्तर राजस्थान है।
३. डा० शर्मा ने 'युगल शतक' के रचना-काल विषयक तथाकथित दोहे के आधार पर श्री भट्ट जी का सं० १३५२ वि० में विद्यमान होना लिखा है।[3] शर्मा जी का उल्लेख प्रामाणिक नहीं है। युगल शतक की प्राचीन प्रतियों में उक्त दोहा नहीं मिलता। यह बाद की मिलावट है। इस तथाकथित दोहे के आधार पर युगल शतक न तो सं० १३५२ की रचना मानी जा सकती है और न ही सं० १६५२ की रचना। इस सम्बन्ध में मेरे शोध-पत्रिका में पूर्व प्रकाशित लेख को देखें।

---

१. दे० सर्वेश्वर, वर्ष १२, अंक ४, पृ० ११।
२. वही, वर्ष १२, अंक ३, पृ० २१।
३. वही, पृ० २१।

४. डा० साहब ने जैसलमेर के भाटी सरदारों का इतिहास उद्धृत कर परशुराम जी का काल-निर्धारण करने की चेष्टा की है। प्रथम तो उक्त इतिहास का कुछ भी सम्बन्ध परशुराम जी से नहीं है। दूसरे, वह इतिहास भी गलत रूप में दिया गया है। देखिये – चूंडाजी के मारे जाने का संवत् प्रस्तावना में १४८० लिखा है और लेख में १४६८।[1] किसे ठीक माना जाए ? लेखक को स्वयं सही इतिहास का ज्ञान नहीं है, इसीलिए उसके लेखों में विरोधाभास है। इसी प्रकार अर्जुनजी के पिता का नाम देवराज भाटी लिखा गया, जो अशुद्ध है। खेजड़ला के भाटी सरदारों की जिस वंशावली और सन्-संवतों को डा० साहब ने आधार बनाया है, वे अशुद्ध रूप में उद्धृत किये गये हैं। गोपालदास भाटी को एक स्थान पर सीयोजी का भतीजा बताया है, तो दूसरे स्थान पर सीयोजी को गोपालदास का पिता लिखा है। संवत् तो प्राय: जाली ही दिये गये हैं। इस प्रकार निराध ार तथ्यों का जमघट इकट्ठा किया गया है। प्रामाणिकता का नितान्त अभाव है। इन आधारहीन बातों के विषय में मैं इतना ही कहूँगा कि डा० साहब खेजड़ला के सरदारों की वंशावली के लिए कृपया, 'मुंहता नैणसी री ख्यात, भाग २, पृ० १४५ (जोधपुर संस्करण) तथा 'बाँकीदास री ख्यात' पृ० ११७ (जोधपुर संस्करण) देखने का कष्ट करें। उन्हें वास्तविकता स्वत: ज्ञात हो जाएगी।

५. डा० शर्मा ने एक स्थान में लिखा है – भक्त कवि राघवदास ने अपनी "भक्तमाल-टीका में.........।"[2] शर्मा जी को ज्ञात होना चाहिए कि राघवदास ने भक्तमाल की कोई टीका नहीं की, बल्कि नाभादासजी की तरह वे उनके अवान्तरकालीन भक्तमालकार हैं। उनकी भक्तमाल की सन्त-सम्प्रदायों में विशेष प्रसिद्धि है।

६. तवारीख खेजड़लारा भाटी सरदारान के आधार पर सं० १५१५ का उल्लेख डा० शर्मा ने किया है, जबकि भाटी सरदार सांवतसिंह ने परशुराम देव से यमुना-किनारे दीक्षा ली थी। इस सं० संख्या के साथ संवत् का नामोल्लेख नहीं है। अत: यह पता नहीं चलता कि यह कौन-सा सम्वत् है ? विक्रमी सम्वत् है, शक सम्वत् है या और कोई सम्वत् है ? शर्मा जी ने इसे विक्रमी सम्वत् मानकर अपना मत निश्चित किया है। उन्होंने तो इस सम्वत् को वास्तविक विक्रमी सम्वत् रूप देने के लिए अपने लेख में सं० १५१५ के बाद 'वि०' भी बढ़ा दिया है।[3] जबकि मूल में 'वि०' नहीं है। इतिहास की कसौटी पर यहाँ सं० संख्या विक्रमी संवत् के रूप में खरी नहीं उतरती। अत: यह विक्रमी सम्वत् कदापि नहीं हो सकता। या तो जान-बूझकर इसे गलत दिया गया है या फिर यह जाली है।

७. डा० साहब ने खेजड़ला में बाग के निकट स्थित एक छतरी के लेख के आधार पर गोपालदास भाटी की मृत्यु सं० १५६७ में होना माना है। पाद-टिप्पणी में उक्त छतरी-लेख को उद्धृत किया है। उक्त लेख पर विचार करने से पता चलता है कि इस लेख को

---

१. वही, पृ० २३।
२. वही, पृ० २३।
३. वही, पृ० २४

भी या तो गलत रूप में उद्धृत किया गया है या फिर यह भी जाली है। कारण यह है कि जिस गोपालदास भाटी का नामोल्लेख इस लेख में हुआ है, उसे आसोजी का पुत्र बतलाया गया है। खेजड़ला के भाटी सरदार गोपालदास भाटी आसावत तो सं० १६७१ में जीवित थे (दे० मुंहता नैणसी री ख्यात, भाग २, पृ० १४५, १४६ तथा बांकीदास री ख्यात, पृ० ११७) फिर उन्हें सं० १५६७ में कैसे दिवंगत माना जा सकता है ? हो सकता है, यह सं० १६६७ हो, जिसे अपने मत की ताल बैठाने के लिए सं० १५६७ कर दिया गया हो, क्योंकि इसी लेख में आगे सं० १७०० में देवली प्रतिष्ठित किये जाने का उल्लेख है। यह सं० १७०० भी सं० १५६७ की संगति में न आकर सं० १६६७ की संगति में आता है। इतिहास-विरुद्ध उपर्युक्त कारण इस लेख की प्रामाणिकता पर सन्देह उत्पन्न करते हैं।

८. शर्मा जी ने किशनगढ़ राज्य के संस्थापक महाराजा किशनसिंह द्वारा दिये गये सं० १६६६ के पट्टे की प्रतिलिपि भी उद्धृत की है। यह पट्टा सलेमाबाद (परशुराम पुरी) निम्बार्क-पीठ में सुरक्षित है, ऐसा बतलाया जाता है। इस पट्टे को निम्बार्कीय विद्वान् भी परशुरामदेव जी के नाम का और उनकी जीवितावस्था के समय का मानते हैं, किन्तु विद्वान् अन्वेषक ने इसका अपने मतानुसार अन्य ही अर्थ लगाया है। उन्होंने इस पट्टे को परशुराम देव जी के देहावसान के बाद का माना है। यह उनकी अपनी हठधर्मी ही है।

जब इस पट्टे पर विचार करते हैं, तो इस पट्टे की प्रामाणिकता पर सन्देह उत्पन्न होता है। कारण यह है कि इसमें विक्रमी सं० १६६६ के साथ-साथ सन् १०१६ हि० भी दिया गया है। इन दोनों की कोई संगति नहीं बैठती। सन् १०१६ हि० का वि०सं० १६६७ होता है और वि०सं० १६६६ का हि० सन् १०२१ होता है। यदि वास्तव में ही इस पट्टे का अस्तित्व है, तो उसकी पुनः जाँच-पड़ताल की आवश्यकता है।

९. डा० साहब ने किशनगढ़ के किसी मन्दिर से प्राप्त टीला स्वामी और शेरशाह के मिलन-सम्बन्धी एक चित्र का उल्लेख किया है।[1] उस चित्र में शेरशाह गोपालदास के साथ टीला स्वामी के दर्शन कर रहा है। सन्त टीला स्वामी के शिष्य वैश्य कवि तुलसीदास आदि विद्यमान हैं। उक्त चित्र के चारों ओर निम्न कवित्त अंकित है –

'प्रणमों प्रथम पूज्यपाद श्री टीला जू के
लीला अनन्द अन्त कोऊ नहीं पायो है।
विप्र कुल टीकौ हरिपाद प्रद्मिनी को अलि नीको;
जग जीवन को तारन तुलसी सुख छायो है।
शेरशाह दिल्ली पति प्रणम गोपालदास,
सेवक सलेमाबाद माधव जस गायो है।'

इस चित्र का हवाला प्रथम तो व्यर्थ ही है, क्योंकि इसका कोई सम्बन्ध परशुराम जी से नहीं है। गोपालदास और सलेमाबाद का नाम आने से ही इसका

१. वही, पृ० २४

सम्बन्ध परोक्ष रूप से प्रस्तुत प्रसंग से जोड़ा गया है। 'टीलाजी' रामानन्दी सन्त कृष्णदास पयाहारीजी के शिष्य और अग्रदासजी के गुरुभाई थे। सम्भव है, कभी शेरशाह ने आकर उनके दर्शन किये हों, किन्तु इससे परशुराम देव के सम्बन्ध में कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। गोपालदास को गोपालदास भाटी माना गया है, किन्तु इस सम्बन्ध में शर्माजी ने कोई प्रमाण नहीं दिया, जिसके आधार पर उनके विचार की सत्यता को स्वीकार किया जा सके। इस बात का क्या प्रमाण कि ये गोपालदास वे ही गोपालदास भाटी हैं, जिनका तथाकथित सम्बन्ध डा० साहब ने परशुराम जी से जोड़ा है। ये कोई और गोपालदास हैं। खेजड़ला के गोपालदास भाटी, जिसके रूप में उक्त गोपालदास को शर्माजी मानते हैं, की विद्यमानता के सम्बन्ध में पहले ही लिखा जा चुका है, अतः सं० १५९७ में उनकी मृत्यु स्वीकार नहीं की जा सकती। फिर भी यदि उनकी मृत्यु सं० १५९७ में मान ली जाए, तो भी डा० साहब के विचारों का इतिहास से अनुमोदन नहीं होता। कारण यह है कि शेरशाह का राज्य-काल सं० १५९७ से १६०२ वि० तक है। शेरशाह स्वयं सं० १५९७ में दिल्ली का अधिपति बना था। तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में इससे पूर्व उसका राजस्थान में आना इतिहास से समर्थित नहीं है। सं० १५९७ के बाद ही वह राजस्थान की ओर उन्मुख हुआ था। शर्मा जी के विचारानुसार परशुरामजी की मृत्यु सं० १५९५ के आसपास हो गयी थी और उनके उल्लेखानुसार स्वयं गोपालदास की मृत्यु भी सं० १५९७ में हो चुकी थी। अतः ऐसी स्थिति में शर्मा जी का यह अनुमान कि वे अपने गुरु के दर्शन कराने बादशाह को लाये होंगे, बेतुका और निराधार ही सिद्ध होता है। क्या गोपालदास जी को अपने गुरु परशुराम देव जी के देहान्त की जानकारी नहीं थी ? जो वे शेरशाह को, जब कि वह बादशाह भी नहीं हुआ था, अपनी मृत्यु से पूर्व अर्थात् सं० १५९७ से पूर्व परशुराम जी की मृत्यु हो जाने पर भी अपने गुरु का दर्शन कराने लाते ? इससे बढ़कर और क्या उपहासास्पद कल्पना हो सकती है ? अतः ये सब शर्मा जी की कपोल कल्पनाएँ ही हैं ? फिर चित्र के चारों ओर कवित्त लिखे जाने का कार्य, किसी विशेष उद्देश्य को ध्यान में रखकर बाद का कृत्य भी तो हो सकता है। अतः यह चित्र-साक्षी निरर्थक है।

१०. डा० शर्मा ने परशुराम देव के गुरु हरिव्यास देव जी द्वारा 'नृसिंह परिचर्या' की प्रतिलिपि सं० १५२० में की जाने का उल्लेख किया है और इसके आधार पर भी समय-निर्धारण का प्रयास किया है। नृसिंह-परिचर्या की यह प्रतिलिपि सरस्वती भवन वाराणसी में सुरक्षित है। इस प्रति की पुष्पिका की अधिकृत प्रतिलिपि मेरे पास है, जिसके आधार पर यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि शर्मा जी की यह सूचना भ्रामक और नितान्त अशुद्ध है। यह प्रतिलिपि संवत् १६२५ वि० की है। इसका विस्तृत परिचय मैंने अपने शोध-पत्रिका (वर्ष १६, अंक २) वाले लेख में दिया है। कृपया शर्मा जी उसे पढ़ने का कष्ट करें। उनका भ्रम स्वतः दूर होकर उन्हें वास्तविकता का ज्ञान हो जाएगा।

२.५ तत्त्ववेत्ता जी का समय-निरूपण

तत्त्ववेत्ता जी राजस्थन के एक प्रसिद्ध भक्त-कवि हो गये हैं। ये निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित वैष्णव सन्त थे। इनका इतिवृत्त भी अन्य अनेक महानुभावों के समान एक प्रकार से अज्ञात ही है। अभी इनके सम्बन्ध में विशेष अन्वेषण भी नहीं हुआ है। साम्प्रदायिक विद्वानों द्वारा इनके सम्बन्ध में जो थोड़ा-बहुत शोध-कार्य हुआ है, उससे कुछ तथ्य अवश्य प्रकाश में आये हैं, लेकिन इसके पीछे शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि न होकर, साम्प्रदायिक मनोभावना अधिक है। इसी से वे केवल अनुमानों के आधार पर इनका समय अधिकाधिक पूर्ववर्ती सिद्ध करने में प्रयत्नशील हैं, किन्तु इस प्रयास के पीछे पुष्ट प्रमाणों का नितान्त अभाव है। यही कारण है कि इनका समय विवाद का विषय बन गया है। जिन साहित्यकारों ने इनके विषय में कुछ लिखा है, उन्होंने भी प्रामाणिक सामग्री का आधार लिये बिना, केवल अनुमान का ही सहारा लिया है। वास्तविकता तो यह है कि उन्होंने एक-दूसरे का अनुकरण मात्र ही किया है। स्वतन्त्र शोध के आधार पर स्वविवेक का परिचय नहीं दिया। इस लेख में प्रामाणिक सूत्रों के आधार पर तत्त्ववेत्ता जी के समय के सम्बन्ध में विचार प्रकट किया जा रहा है, जिनसे इनका सही समय निरूपित किया जा सके। समय-निरूपण से पूर्व इनके ज्ञात जीवन-तथ्यों पर प्रकाश डाला जा रहा है।

तत्त्ववेत्ता जी का जन्म जोधपुर राज्यान्तर्गत जयतारण के निकट 'फूलमाल' नामक ग्राम में हुआ था। कुछ विद्वानों ने जयतारण को ही इनका जन्म-स्थान लिखा है[1], जो अशुद्ध है। यह जाति के 'दाधीच (दाहिमा) ब्राह्मण' थे। किसी विद्वान् ने इन्हें जाति का गुर्जरगौड़ ब्राह्मण[2] और किसी ने इन्हें छन्याती ब्राह्मण[3] लिख दिया है, किन्तु ऐसा लिखना भ्रामक है। इनका पूर्व का नाम 'टीकमदास' था। 'तत्त्ववेत्ता' इनका गुरु-प्रदत्त नाम था, जो तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी इनके गहन ज्ञान को देखकर गुरु ने रख दिया था। इनकी इसी नाम से प्रसिद्धि है और इसी उपनाम का प्रयोग इन्होंने अपनी रचनाओं में अधिकांश रूप

१. (अ) आचार्य-परम्परा-परिचय,पृ० ३१, ले०पं० किशोरीदास जी। (आ) राजस्थान का पिंगल-साहित्य, पृ० ७५, ले० डा० मोतीलाल मेनारिया (प्र०सं०)। मेनारिया जी ने अपने अन्य दो ग्रन्थों (१. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० १०६ प्र०सं० तथा २. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, प्रथम भाग, पृ० १६६, प्र०सं०) में इन्हें जैतारण नगर निवासी मात्र लिखा है। इन ग्रन्थों के आधार पर ही सरोज-सर्वेक्षण, (पृ० ३२४ प्र०सं०) में डा० किशोरीलाल गुप्त ने भी ऐसा ही उल्लेख किया है। डा० गुप्त द्वारा सम्पादित 'शिवसिंह सरोज' (पृ० ७१२) में भी टिप्पणी के अन्तर्गत जैतारण नगर-निवासी ही लिखा गया है। जन्म-स्थान और निवास-स्थान में अन्तर होता है। जयतारण इनका निवास-स्थल अवश्य रहा है, किन्तु इनका जन्म-स्थल नहीं है। (इ) व्रज का इतिहास, द्वितीय खण्ड, पृ० २६४, सं० श्री कृष्णदत्त वाजपेयी।

२. (अ) आचार्य-परम्परा-परिचय, पृ० ३१, ले० पं० किशोरीदास जी। (आ) राजस्थान का पिंगल-साहित्य, पृ० ७५। (इ) व्रज का इतिहास, द्वितीय खण्ड, पृ० २६४।

३. (अ) राजस्थानी भाषा और साहित्य, ले० डा० मोतीलाल मेनारिया, पृ० १०६ तथा राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, प्र०भा० पृ० १६६। (आ) सरोज-सर्वेक्षण, ले० डा० किशोरीलाल गुप्त, पृ० ३३४। फूलमाल में अब भी तत्त्ववेत्ता जी के वंशज दाधीच (दाहिमा) ब्राह्मण हैं। गोपाल द्वारा जयतारण के पुजारी श्री वल्लभदास जी उसी घराने के हैं। दे० सर्वेश्वर, वर्ष १०, अंक ६, पृ० २१।

से छाप के रूप में किया है। ये निम्बार्क-सम्प्रदाय के आचार्य श्री परशुरामदेव जी के शिष्य थे। इस तथ्य का उल्लेख इन्होंने स्वयं अपनी 'बानी' में किया है –

'तत्त्ववेत्ता तिहुँलोक में ज्ञान आत्मा गाइये। परसराम प्रसाद तै प्रसन्नातमा गाइये'

'तत्त्ववेत्ता वो लग तहाँ रामचन्द्र सन्मुख रहै, गुरु परसराम परसाद सै कृष्ण कवित दीठा कहै'

ब्रह्मचारी बिहारीशरण जी ने 'निम्बार्क-माधुरी'[१] में इन्हें हरिव्यास देव जी का शिष्य लिखा है और इसके आधार पर ही अन्य लेखकों ने भी ऐसा ही उल्लेख कर दिया है,[२] जो नितान्त भ्रमात्मक है। यद्यपि निम्बार्क-माधुरी में तत्त्ववेत्ता जी का परिचय विस्तारपूर्वक, गोपाल द्वारा जयतारण से प्रकाशित 'तत्त्व-चरित्र' के आधार पर दिया गया है, किन्तु पता नहीं, फिर भी इन्हें हरिव्यासदेव जी का शिष्य कैसे लिख दिया ? यह आश्चर्य ही है। 'तत्त्व-चरित्र' में इन्हें परशुरामदेव जी का ही शिष्य बताया गया है।[३] बाबा हंसदास जी[४] तथा श्री किशोरीदास जी[५] ने भी यही अभिमत प्रकट किया है। उपर्युक्त सभी तथ्यों की पुष्टि 'बाँकीदास री ख्यात' से भी होती है।[६]

तत्त्ववेत्ता जी का समय, पुष्ट प्रमाणों के अभाव में अभी भी अनिर्णीत है। केवल अनुमानों के आधार पर ही उसके उल्लेख किये गये हैं। साम्प्रदायिक मान्यता और अन्य विद्वानों के मत में भी पर्याप्त विषमता है। निम्बार्क-सम्प्रदाय के विद्वान् श्री ब्रजवल्लभशरण जी ने अपने लेख 'श्री तत्त्ववेत्ताचार्य और उनकी रचनाएँ' में इनका आविर्भाव काल वि०सं० १५६० आश्विन शुक्ला ४ लिखा है[७], किन्तु इसके सम्बन्ध में उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया। अत: नहीं कह सकते कि इसका आधार क्या है ? इन्हीं ब्रजवल्लभशरण जी की सूचना के आधार पर 'ब्रज का इतिहास' द्वितीय खण्ड में तत्त्ववेत्ताजी का जन्म सं० १६०० (१५४३ ई०) के लगभग होना लिखा गया है।[८] इससे प्रकट है कि उन्हें स्वयं इनके जन्म-समय का कोई प्रामाणिक ज्ञान नहीं है। उनका उल्लेख केवल अनुमानाश्रित है। इस बात की पुष्टि सर्वेश्वर में ही प्रकाशित एक अन्य लेख (जो सम्भवत: उनका ही लिखा हुआ प्रतीत होता है) से भी होती है, जिसमें किसी जन्म-सम्वत् का उल्लेख नहीं है और स्पष्ट लिखा है कि "यद्यपि आपका जन्म सम्वत् अज्ञात है, तथापि मास, तिथि, जन्म-स्थान और कुल का उल्लेख मिलता है।"[९] अत: प्रकट है कि सम्प्रदाय में इनका जन्म-काल पूर्णत: अज्ञात है और कोई ऐसा सूत्र भी प्राप्त नहीं है, जिसके आधार पर

१. निम्बार्क-माधुरी, पृ० १२६।
२. शिवसिंह सरोज, टिप्पणी, पृ० ७१२, सं० डा० किशोरीलाल गुप्त।
३. तत्त्वचरित, पृ० ४।
४. निम्बार्क-प्रभा, पृ० ५६।
५. आचार्य-परम्परा-परिचय, पृ० ३१।
६. बाँकीदास री ख्यात, पृ० ५२ (जोधपुर संस्करण), सं०पं० नरोत्तमदास स्वामी।
७. सर्वेश्वर, वर्ष १०, अंक ६, पृ० २।
८. ब्रज का इतिहास, द्वितीय खण्ड, पृ० २६५ पर।
९. सर्वेश्वर, वर्ष ४, अंक २, पृ० १७।

प्रामाणिकता के साथ इनके जन्मकाल का अनुमानोल्लेख किया जा सके। उक्त लेख में इनकी जन्मतिथि आश्विन शुक्ला ४ दी गयी है[१], जिसके साथ व्रजबल्लभशरण जी ने अपने कल्पित 'सं० १५६०' को जोड़कर उसे वास्तविक रूप-सा प्रदान कर दिया है, जिसे उचित नहीं कहा जा सकता।

डा० मोतीलाल मेनारिया ने तत्त्ववेत्ता जी के आविर्भाव-काल का उल्लेख विरोधात्मक स्थिति में किया है। उन्होंने अपने दो ग्रन्थों में तो सं० १५५० के लगभग इनका आविर्भाव होना लिखा है[२] और तीसरी कृति में सं० १६८० के लगभग आविर्भाव होने का उल्लेख किया है[३], किन्तु उक्त दोनों ही सम्वतों की पुष्टि में उन्होंने प्रमाण नहीं दिये हैं। ये भी निराधार और कल्पित हैं।

डा० किशोरीलाल जी गुप्त ने अपने 'सरोज-सर्वेक्षण' में पहले तो मेनारिया जी की प्रथम दो पुस्तकों के आधार पर तत्त्ववेत्ता जी का आविर्भाव-काल सं० १५५० के लगभग लिखा है[४] और आगे इसी ग्रन्थ में 'पुनश्च' के अन्तर्गत इनका जीवन-काल सं० १५७० से १६८० के आसपास होने का उल्लेख किया है।[५] सं० १५५० के लगभग का ही उल्लेख गुप्त जी ने 'हिन्दी-साहित्य का प्रथम इतिहास' की (तत्त्ववेत्ता जी विषयक) टिप्पणी के अन्तर्गत भी किया है और ग्रियर्सन के दिये हुए सन् (१६२३) को अशुद्ध बतलाया है।[६] डा० गुप्त ने ही अपने द्वारा सम्पादित 'शिवसिंह सरोज' में तत्त्ववेत्ता जी विषयक टिप्पणी के अन्तर्गत इनका समय (सरोज-प्रदत्त) सं० १६८० ठीक माना है, लेकिन इसे इनका अन्तिम जीवन-काल लिखा है।[७] डा० गुप्त भी अपनी इन विभिन्न मान्यताओं के समर्थन में कोई प्रमाण या साक्ष्य प्रस्तुत नहीं करते हैं। उनकी उक्त मान्यताएँ भी अनुकरण और निराधार अनुमान पर ही अवलम्बित हैं। (ग्रियर्सन और सरोज के प्रदत्त समयों पर आगे विचार किया जाएगा।) इसी प्रकार ब्रज के इतिहास[८] और मिश्रबन्धु विनोद[९] में भी इनका आविर्भाव-काल बिना किसी आधार के सं० १६८० लिखा गया है।

उपर्युक्त सभी मान्यताएँ अनुमानाधारित हैं। अतः प्रमाणाभाव में इन्हें स्वीकार नहीं किया जा सकता।

सर्वेश्वर में प्रकाशित लेखों में दो-तीन इतिहास विषयक तथ्य भी उल्लिखित हैं, जिनका सम्बन्ध तत्त्ववेत्ता जी के समय-निर्धारण से है। इसलिए उन पर विचार करना

---

१. सर्वेश्वर, वर्ष ४, अंक २, पृ० १७।

२. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० १०६ तथा राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, प्रथम भाग, पृ० १६६।

३. राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ० ७५ (प्र०सं०)

४. पृ० ३३४

५. पृ० ६८६ पर।

६. हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास, पृ० १८३, सं० २३१।

७. शिवसिंह सरोज, पृ० ७१२।

८. ब्रज का इतिहास, द्वितीय खण्ड, पृ० २६४।

९. मिश्रबन्धु विनोद, द्वितीय भाग, पृ० ४५८, कवि सं० ३८१।

आवश्यक है, जिससे उनकी वास्तविकता का पता चल सके। लेख में एक स्थान पर लिखा है[१] –

१. ''श्री गोपाल द्वारा जयतारण से प्राप्त लेखादि सामग्री के अनुसार वि०सं० १५९२ में जयतारण के राव सूजाजी के पुत्र राव उदयसिंह जी ने आपसे वैष्णव दीक्षा ली। इससे अनुमान किया जा सकता है कि उस समय आपकी कम से कम ३० वर्ष की आयु मानी जाय तब भी सोलहवीं शताब्दी का मध्य भाग आपके आविर्भाव का समय सिद्ध होता है, इसके आगे तो प्राय: सभी सन् सम्वतों का प्रामाणिक उल्लेख मिलता है।''
लेकिन उक्त तथ्यों की पुष्टि में जयतारण से प्राप्त लेखादि में से एक भी प्रमाण के रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया है। अत: इसकी विश्वसनीयता संदिग्ध है। इतिहास से भी इनका समर्थन नहीं होता है। वास्तविकता निम्न प्रकार है – राव सूजाजी के पुत्र उदय सिंह (उदाजी) ने राव सूजाजी के राज्य-समय (सं० १५४८-१५७२) में सींघलों से जैतारण छीन लिया था और अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया था। इनके वंशज 'ऊदावत' कहलाते हैं। ऊदाजी का देहान्त सं० १५६७ में हुआ था।[२] इनके पुत्र खींवकरण की मृत्यु सं० १६०० में हुई थी।[३] तत्पश्चात् खींवकरण का पुत्र रतनसिंह गद्दी पर बैठा और सं० १६१४ में वीरगति को प्राप्त हुआ।[४]

जब ऊदाजी की मृत्यु सं० १५६७ में हो गयी थी, तब वे सं० १५९२ में कैसे दीक्षा ले सकते हैं ? अत: यह विचार असंगत और भ्रामक है। उक्त तथाकथित दीक्षाकाल के आधार पर तत्त्ववेत्ता जी के आविर्भाव-काल का अनुमान करना भी उपयुक्त नहीं है, और न बाद के ही कोई सन्-सम्वत् प्रामाणिक रूप में प्राप्त हैं। इनका कोई प्रामाणिक उल्लेख कहीं पर नहीं मिलता। वास्तव में ये सब कोरे अनुमान मात्र हैं। इनमें प्रामाणिकता कुछ नहीं है।

२. तत्त्ववेत्ता जी द्वारा रचित एक छोटे-से संस्कृत स्तोत्र (षट् श्लोकी) का भी उल्लेख लेख में किया गया है। इसमें आचार्य-वन्दना की गयी है। इसका रचना-काल सं० १५९९ बतलाया गया है[५], किन्तु इस प्रकार के किसी संस्कृत-स्तोत्र के अस्तित्व में पूरा-पूरा सन्देह है। कारण यह है कि इसे जिस रूप में उद्धृत किया गया है, वह उल्लेख सन्दिग्ध और अनुमान मात्र है। उसमें निश्चय का अभाव है। इस स्तोत्र का उल्लेखाधार 'उदय' का 'परशुरामांक' है और इसकी मूल हस्तलिखित प्रति के सुरक्षा-स्थान का उल्लेख 'सम्भवत:' शब्द के साथ किया गया है।[६] रचना-काल द्योतक अंश कहीं भी उद्धृत नहीं किया गया। ऐसी संदेह-युक्त स्थिति में इस

१. सर्वेश्वर, वर्ष ४, अंक २१, पृ० १८।
२. राजस्थानी शोध संस्थान, जोधपुर के संचालक श्री नारायाण सिंह भाटी के दिनांक ५-१२-६४ के पत्र के अनुसार।
३. मारवाड़ रा परगना री बिगत, प्रथम भाग, पृ० ५६ (जोधपुर से प्रकाशित)।
४. परम्परा-राठौड़ रतनसिंह री बेलि नामक विशेषांक।
५. सर्वेश्वर, वर्ष ४, अंक २, पृ० २१ तथा वर्ष १०, अंक ६, पृ० ४।
६. वही।

रचना-काल को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

३. जोधपुर नरेश महाराज सूरसिंह द्वारा जयतारण का गोपाल द्वारा नामक विशाल मठ और मन्दिर सं० १६६६ में बनवाया जाकर तत्त्ववेत्ता जी को अर्पित किये जाने का उल्लेख भी किया गया है,[१] किन्तु इसकी पुष्टि में कोई प्रमाण नहीं दिया गया। गोपाल-द्वारा का निर्माण-काल विषयक कोई शिलालेख भी अभी तक प्रकाशित रूप में देखने में नहीं आया। यदि जयतारण के गोपालद्वारे में इस प्रकार का कोई शिलालेख प्राप्य है, तो उसके मूल रूप को प्रकाशित करना चाहिए था। इतिहास से भी इस उल्लेख की सत्यता सिद्ध नहीं होती। जोधपुर राज्य से सम्बन्धित इतिहास-ग्रन्थों में जहाँ सूरसिंह जी के अन्य निर्माण-कार्यों का उल्लेख प्राप्त होता है, वहाँ जयतारण के इस गोपाल-मन्दिर के उनके द्वारा निर्माण कराये जाने का कोई उल्लेख नहीं मिलता।[२] अत: यह उल्लेख भी प्रमाणहीन और कपोल-कल्पित है।

उपर्युक्त उल्लेखों से प्रकट है कि तत्त्ववेत्ता जी के समय के सम्बन्ध में जो भी विचार हैं, वे प्रमाण-रहित और आनुमानिक हैं। वास्तविक तथ्यों के आधार पर उनके समय को निश्चित करने की चेष्टा नहीं की गयी है। अब यहाँ प्रामाणिक तथ्यों के आधार पर उनके समय को निर्धारित करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

नाभादास ने 'भक्तमाल' में इनके गुरु परशुरामदेव जी का परिचय तो दिया है[३], किन्तु इनका परिचय उसमें प्राप्त नहीं है। उसमें इनका परिचय हो भी नहीं सकता था। कारण यह है कि इन्होंने स्वयं भक्तमाल एवं भक्तमालकार की प्रशस्ति में छप्पय लिखे हैं। वे छप्पय इस प्रकार हैं –

उन हरि आज्ञा पाय सकल ब्रह्माण्ड उपायो।
इन गुरु आज्ञा पाय भक्त को निर्णय गायो॥
चार युगन के भक्त गुणन की गूँथी माला।
अंग अंग ही बनी विचित्रजू परम रसाला॥
लघु मोहन अचिरज कहा सीतापति जापै जयो।
कमल नाम अज विष्णु को त्यों अग्रनाम नाभा भयो॥१॥
ब्रह्मा आयुष वर्ष कल्प छत्तीस हजारा।
पाँच लाख पर चारि हजार सुचार विचारा॥
तीन कोटि साठै हजार चौकड़ी सुजाही।
छत्तिस कोटि अवतार ब्रह्म आयुर्बल माहीं॥
चौदह कोटि चालिस लाख जुग किना जाही जगत में

---

१. सर्वेश्वर, वर्ष ४, अंक २, पृ० २० तथा तत्त्व-चरित्र, पृ० ६-१०।

२. दे० मारवाड़ा परगना री विगत, परिशिष्ट १(क), (ख), (ग), पृ० ५५६-६०२ तक, जिसमें जोधपुर-नरेशों द्वारा छोटे से छोटे निर्माण-कार्य का भी उल्लेख किया गया है, किन्तु जयतारण के गोपाल-द्वारे के निर्माण का कोई उल्लेख नहीं मिलता। मारवाड़ का इतिहास, ले० पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ।

३. भक्तमाल, छं० १३७।

तत्त्ववेत्ता तिहुँ लोक में लेखो कीनो भक्त में।।२।।

तत्त्ववेत्ता जी के उपर्युक्त दोनों छप्पय मुम्बई वैभव प्रेस मुम्बई से प्रकाशित 'भक्तमाल' के अन्त में 'भक्तमाल माहात्म्य' के रूप में मुद्रित है।[1] इन छप्पयों से प्रकट है कि तत्त्ववेत्ता जी भक्तमाल की रचना के बाद हुए। यदि भक्तमाल के परिवर्धन के समय तत्त्ववेत्ता जी प्रसिद्धिप्राप्त भक्त होते तो नाभादास जी उनका उल्लेख भक्तमाल में अवश्य करते। तत्त्ववेत्ता जी ने भी भक्तमालकार के रूप में नारायणदास जी का नामोल्लेख न कर नाभादास जी की प्रशस्ति में छप्पय लिखा है। नारायणदास कृत भक्तमाल को सं० १७०० के पश्चात् या आसपास नाभादासजी ने परिवर्धित कर वर्तमान रूप दिया था। (नाभा जी का परिवर्धित संस्करण ही अब सर्वसुलभ है) इस आधार पर तत्त्ववेत्ता जी की अवस्थिति सं० १७०० के पश्चात् सिद्ध होती है।

इस समय की पुष्टि में एक प्रमाण और मिलता है। नाभादास जी के अवान्तर कालीन राघोदास जी ने अपनी 'भक्तमाल' के एक छप्पय में तत्त्ववेत्ता जी का तथा अन्य छप्पय में उनके शिष्यों का परिचय दिया है।[2] दोनों छप्पय यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं –

पंडित प्रम प्रवीण, सुर्ति सुम्रित पौरानन।
भारतादि पुनि और ग्रन्थ, सब कथत सु आनन।।
कीये कबित षट पदी, बहुत की संख्या ल्याही।
प्रिथी कोड़ी पचास, जीव चौरासी गाही।।
उत्म मध्य कनिष्ट द्रुम, राघो मधुमखि ज्यू लीयौ।
ततबेता तिहुँलोक कौ, ततसार संग्रह कीयौ।।४४६।।
राम दमोदरदास धाम थौलाई कीन्हौं।
आंबावति के भूप, तास कौं परचौ दीन्हौं।।
रामदास बड़ महंत, जैतारणि मुरधर मांही।
ऊदावत सिष करे, दुनी सुभ मारग लांहीं।।
राघो भक्ति करी इसी, तातैं हरि मन भाइया।
ततबेता के सिषन नैं, दोऊ देस चिताइया।।४४७।।

राघोदास जी ने अपनी भक्तमाल की रचना सं० १७७७ में की थी।[3] इसीलिए तत्त्ववेत्ता जी के शिष्यों का उल्लेख सम्भव हो सका है। राघोदास जी के इन उल्लेखों से भी तत्त्ववेत्ता जी की सं० १७०० के बाद विद्यमानता निश्चित रूप से सिद्ध होती है।

तत्त्ववेत्ता जी ने अपनी रचनाओं[4] में अपने समकालीन तथा अपने से पूर्व के

---

१. भक्तमाल माहात्म्य, पृ० १८६ व १८७।

२. राघोदास जी की भक्तमाल, पृ० २०६-२०७ (जोधपुर संस्करण)।

३. सामान्यतया इस भक्तमाल का रचनाकाल सं० १७१७ माना जाता रहा है, किन्तु यह अशुद्ध है। वास्तव में इसका रचना-काल सं० १७७७ है। इस सम्बन्ध में मेरा लेख 'व्रजभारती' में प्रकाशित हो चुका है। दे० वर्ष २८, अंक ४ तथा व्रर्ष ३५, अंक १ भी देखें।

४. इनकी 'वाणी' की प्रति जैतारण के गोपाल मन्दिर में विद्यमान है। इसके अतिरिक्त इनके एक ग्रन्थ का

अनेक भक्तों का उल्लेख अवश्य किया होगा, ऐसा मेरा पूर्ण विश्वास है। यदि तत्त्ववेत्ता जी की ऐसी रचनाओं को प्रकाश में लाया जाए तो उनके आधार पर इनके समय को और सरलता से निश्चित किया जा सके। विद्वानों से विनम्र निवेदन है कि वे इस ओर अवश्य ध्यान दें।

तत्त्ववेत्ता जी की गुरु-परम्परा के केशव भट्ट (काश्मीरी)[1], श्री भट्ट, हरिव्यासदेव तथा परशुरामदेव[2] जी के समयों को देखते हुए और भक्तमाल विषयक इनके प्रशस्ति छप्पयों को ध्यान में रखते हुए इनके जीवन-काल का अनुमान किया जा सकता है। इस आधार पर मेरे विचारानुसार तत्त्ववेत्ता जी का जन्म सं० १६४० के लगभग और देहावसान सं० १७४० के आसपास माना जा सकता है। इन्होंने सं० १६६० के लगभग २० वर्ष की अवस्था में परशुराम देव जी का शिष्यत्व ग्रहण किया होगा।

तत्त्ववेत्ता जी के जीवन की इस रूपरेखा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शिवसिंह सरोज प्रदत्त सं० १६८० इनका उपस्थिति-काल है, जो ठीक है। डा० गुप्त ने इसे इनका अन्तिम जीवन-काल माना है, जो उपयुक्त नहीं है। ग्रियर्सन ने सरोज के उपस्थिति-काल (सं० १६८०) को ही ईस्वी सन् (१६२३ ई०) के रूप में जन्मकाल मानकर दिया है, जो अशुद्ध है। यह ईस्वी सन् उपस्थिति-काल ही है। मिश्रबन्धु विनोद में इनका रचनाकाल सं० १७१० दिया है[3], जो ठीक है, किन्तु इन्हें 'हीन श्रेणी' का जो कवि लिखा गया है, वह इनकी सुन्दर एवं मधुर रचनाओं को देखते हुए हास्यास्पद ही प्रतीत होता है।

डा० प्रभात ने अपने शोध-प्रबन्ध 'मीराँबाई' के परिशिष्ट (२) में मीराँ-पूर्व हिन्दी कृष्ण-काव्य के सम्बन्ध में विचार करते हुए, तत्त्ववेत्ता जी को मीराँ-पूर्व के कृष्ण-काव्य के प्रणेताओं में स्थान देना उचित माना है[4], किन्तु डा० साहब ने इस सम्बन्ध में अनुसंधान कर किसी विशेष सामग्री के आधार पर अपना विचार अवलम्बित नहीं किया है, बल्कि डा० मेनारिया की पुस्तक 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' के आधार पर सामान्य चलता-सा विचार कर इस प्रकार के मन्तव्य को प्रकट किया है, जिसे अद्यतन शोध के प्रकाश में किसी प्रकार भी मान्य नहीं किया जा सकता। तत्त्ववेत्ता जी मीराँ के पर्याप्त पश्चात् काल के भक्त कवि हैं।

और उल्लेख मिलता है। राजस्थानी भाषा और साहित्य (मेनारिया) में इसका नाम 'कवित्त' और राज० में 'हिं०' के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, भाग १ में 'तत्त्ववेत्ता का सवैया' है। यह ग्रन्थ न तो कवित्तों का है, न सवैयों का। इसमें कुल ६८ छप्पय थे। इस प्रति का पहला पत्र नष्ट हो जाने से अब इसमें ८५ छप्पय हैं। यह प्रति अब रा०प्रा०वि० प्रतिष्ठान की उदयपुर शाखा के संग्रह में सुरक्षित है। दे० रा० हिन्दी हस्त० ग्रन्थ सूची, भाग १३ (उदयपुर संग्रह) सं० १०१३/१८६३।

१. दे० मेरा लेख – श्री केशव काश्मीरी भट्टाचार्य का समय-निरूपण, साहित्य-संगम, पृ० ५७-७३।

२. दे० शोध-पत्रिका, वर्ष १६, अंक २ में प्रकाशित तद्विषयक मेरा लेख, पृ० १०-२२ तक।

३. दे० द्वितीय भाग, पृ० ४५८ (द्वि०सं०) क०सं० ३८१।

४. दे० पृ० ५१४।

२.६ श्री चतुर चिन्तामणि देवाचार्य जी का समय

श्री चतुर चिन्तामणि देव निम्बार्क-सम्प्रदाय के श्री स्वभूराम जी की शिष्य-परम्परा में सर्वाधिक प्रसिद्ध सन्त हुए हैं। ये, स्वभूराम जी के शिष्य श्री कान्हर देव जी के प्रशिष्य और श्रीपरमानन्द देव जी के प्रधान शिष्य थे। इनका जन्म ब्रज के पैगाँव नामक स्थान के एक गौड़ ब्राह्मण कुल में हुआ था। ये बाल्यावस्था में ही विरक्त होकर अपने गाँव के समीप की 'कदम खण्डी' में भगवान् श्रीकृष्ण का भजन-ध्यान किया करते थे। अवधूत-वृत्ति के कारण बाल्यकाल में ही इनका नाम 'नागा' जी पड़ गया था। अपनी भक्ति-भावना द्वारा इन्होंने ब्रज में निम्बार्क-सम्प्रदाय का व्यापक प्रचार किया था। इनके उपास्य ठाकुर 'श्री बिहारी जी' भरतपुर किले के मन्दिर में और 'श्री अटल बिहारी जी' वृन्दावन के बिहार-घाट स्थित देवस्थान में विराजमान हैं। इनकी गुदड़ी, माला तथा चित्र भरतपुर के मन्दिर में सुरक्षित हैं, जिनका दर्शन-पूजन इनकी जयन्ती के अवसर पर होता है। अपने अन्तिम काल में ये वृन्दावन के बिहार-घाट पर 'कुंज' बनवाकर वहाँ निवास करने लगे थे। इनका देहावसान उसी स्थान पर मिती आश्विन कृ० ७ को हुआ था। वहाँ इनकी समाधि और चरण-चिह्न हैं। इनकी स्मृति में इनके जन्म-स्थान पैगाँव में आश्विन कृ० ७ को ब्रज-यात्रा के अवसर पर एक बड़ा उत्सव किया जाता है। ये अपने समय में ब्रज-मण्डल के विख्यात महात्मा माने जाते थे और ब्रजवासी गण इनके प्रति बड़ी श्रद्धा रखते थे। ये ब्रज-परिक्रमा के बड़े प्रेमी थे और नियमित रूप से ब्रज चौरासी कोस की परिक्रमा किया करते थे। अपनी इस अपूर्व ब्रज-निष्ठा के कारण ये 'ब्रज दूलह' कहलाते थे। इनकी भरतपुर गद्दी के महन्तों की पदवी 'ब्रज दूलह' रही है; और ब्रज की गद्दी के परिक्रमा-प्रेमी महन्त 'ब्रज विदेही' कहलाते हैं। ब्रज के कई स्थानों में नागाजी के स्मारक स्वरूप देव-स्थान बने हुए हैं।

चतुर चिन्तामणि विषयक उपर्युक्त ऐतिह्य साम्प्रदायिक विचारानुसार है। डा० नारायणदत्त शर्मा तथा अन्य एक-दो लेखकों ने भी इसी इतिवृत्त को मान्यता दी है, किन्तु यह मान्यता विचारणीय है।

नाभाजी ने 'भक्तमाल' में एक 'चतुरोनगन' का परिचय इस प्रकार दिया है –

''नग्न रूप श्री स्वामी चतुरी जी दिन-रात भजन में मग्न रहते थे। सदा भगवत् अनुराग युक्त भक्त-मण्डल को भी अनुराग से पुष्ट करते, मथुरा पुरी तथा ब्रजभूमि रमते हुए सबको सुख-सन्तोष देते थे। परम धर्म दृढ़ करने के लिए श्री गुरुदेव की अति अलौकिक सेवा की : आपने अति मधुर वचन सुनाके ठौर-ठौर में हरि-भक्तों को सुख दिया। सब सन्त-महन्त और समस्त सज्जन लोग श्री नागा जी का यश नित्य ही विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं।''

(छप्पय सं० १४८ का वार्तिक तिलक। भक्तमाल: भक्ति सुधास्वाद तिलक, तृ०सं० पृ० ८२५)

नाभा जी के छप्पय पर टीका के रूप में तीन कवित्त प्रियादास जी ने लिखे हैं। उनमें उन्हीं बातों को विस्तारपूर्वक लिखा है, जिन्हें संक्षेप में नाभा जी ने दिया है।

पूर्वोल्लिखित चतुर चिन्तामणि विषयक साम्प्रदायिक ऐतिह्य वास्तव में भक्तमाल और उसकी टीका पर आधारित है। इससे प्रकट है कि साम्प्रदायिक विद्वान् तथा डा० नारायणदत्त शर्मा 'आचार्य चतुर चिन्तामणि देव' तथा भक्तमाल और उसकी टीका में उल्लिखित 'चतुरोनगन' इन दोनों को अभिन्न मानते हैं, किन्तु ऐसा समझना यथार्थ के विपरीत है।

श्री भट्ट जी की परम्परा में होने वाले चतुर चिन्तामणि देव निम्नलिखित शिष्य-परम्परा के अन्तर्गत आते हैं। श्री भट्ट जी के शिष्य हरिव्यास देव जी हुए। श्री हरिव्यास देव के १२ प्रमुख शिष्य हुए। बारह शिष्यों की बारह गद्दियाँ चलीं। इनमें से स्वभू देव की गद्दी पंजाब (अब हरियाणा) जगाधरी के पास यमुना-तट पर स्थित बूड़िया ग्राम में स्थापित हुई। स्वभूदेव या सोभूराम की परम्परा यह है – स्वभूदेव-कर्णहर देव -परमानन्द देव - चतुर चिन्तामणि देव।[१] यही चतुर चिन्तामणि देव, श्री भट्ट जी के बाद पाँचवीं पीढ़ी में हुए हैं। भक्तमाल में श्री भट्ट जी का (छप्पय ७६), श्री भट्ट के शिष्य हरिव्यास देव का (छ० ७७), हरिव्यास देव के शिष्य सोभूराम (स्वभूदेवाचार्य) का (छ० ९६) और उनके भाई सन्तदास एवं माधवदास का (छ० १९०) सोभूराम के शिष्य कन्हर दास (कर्णहर देवाचार्य) का वर्णन (छ० १९१) है। कान्हरदास के शिष्य परमानन्द देव तथा परमानन्द देव के शिष्य चिन्तामणि देव का वर्णन भक्तमाल में नहीं है और न हो सकता था।

'चतुरोनगन' मथुरा पुरी तथा ब्रजभूमि में रहने वाले भक्त थे। इन्हें बूड़िया में रहने वाले और वहाँ की गद्दी के आचार्य 'चतुर चिन्तामणि देव' नहीं कहा जा सकता।

वल्लभ-सम्प्रदाय के वार्ता-साहित्य में भी इन 'चतुरा नागा' का प्रसंगानुसार उल्लेख हुआ है।[२] ऐसा प्रतीत होता है कि वल्लभ-सम्प्रदाय के विकास-काल में ही ये मथुरा जनपद के आसपास अर्थात् ब्रज-मण्डल में अच्छी ख्याति प्राप्त कर चुके थे। इस कारण इस सम्प्रदाय के लेखकों ने इनका सम्मानपूर्वक उल्लेख किया है। श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता[३] में लिखा गया है कि 'टोड़ का घना' में तपस्या करने वाले 'चतुरा' नामक भक्त को सं० १५५२ को श्रावण शु० ३, बुधवार को श्रीनाथ जी ने वहाँ पधारकर दर्शन दिया था। उक्त तिथि ज्योतिष गणना से अप्रामाणिक ठहरती है[४] और उक्त उल्लेख में श्रीनाथ जी को टोड़ के घने में ले जाने के वास्तविक कारण की भी उपेक्षा की गयी है। वैसे 'वल्लभ-सम्प्रदाय' में चतुरा नागा की अनुश्रुति बहुत प्रसिद्ध है। उन्हें निम्बार्क-सम्प्रदाय का अनुयायी बतलाया है और टोड़ के घने तथा गोविन्द कुण्ड पर उनके स्मृति-स्थल भी विद्यमान हैं। वार्ता में उल्लिखित चतुरा जी श्री वल्लभाचार्य जी के समकालीन थे। उनके अनुसार जब चतुरा जी ४० वर्ष की आयु के थे, तब उनकी श्री

---

१. निम्बार्क-माधुरी, पृ० ७५०, ७६७।

२. चौरासी बैठकन के चरित्र, कोकिलावन की बैठक, पृ० १६३-६५।

३. पृ० १६-१७।

४. वार्ता-साहित्य : एक बृहत् अध्ययन, पृ० ५४२।

वल्लभाचार्य जी से भेंट हुई थी। इसी प्रकार वार्ता में वे जमनावतौ गाँव के किसी धर्मदास के गुरु कहे गये हैं और यह धर्मदास अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि कुम्भनदास के काका थे।[1] इन सब तथ्यों पर विचार कर यही प्रतीत होता है कि भक्तमाल, इसकी टीका तथा वार्ता के चतुरा नागा निम्बार्क सम्प्रदायाचार्य श्री चतुर चिन्तामणि देव के पूर्ववर्ती अन्य महात्मा थे। समय-संगति भी इन दोनों को अभिन्न मानने के पक्ष में नहीं है।

नाभादास जी ने नारायणदास जी की भक्तमाल को १७०० के पश्चात् अथवा आसपास परिवर्धित किया था और वर्तमान रूप दिया था। वस्तुतः नारायणदास और नाभादास दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं, एक ही व्यक्ति के दो नाम नहीं हैं। अतः छप्पय १९० (सन्तराम और माधवदास सोभूराम जी के भाई), १९१ (कन्हरदास, सोभूराम के शिष्य, बूड़िया गद्दी के दूसरे आचार्य) निश्चय ही बाद में नाभादास जी द्वारा सं० १७०० के आस-पास जोड़े गये हैं। सोभूराम उनके भाई तथा उनके शिष्य कन्हर देव आदि सं० १७०० के आस-पास के प्रसिद्ध भक्त के रूप में अवश्य रहे होंगे। तभी नाभादास जी ने उन्हें अपने परिवर्द्धित भक्तमाल में स्थान दिया है। कन्हर देव के शिष्य परमानन्द देव एवं प्रशिष्य चतुर चिन्तामणि देव निश्चय ही सं० १७०० के बाद के हैं और इनका उल्लेख भक्तमाल में कथमपि सम्भव नहीं है।[2]

बूड़िया गद्दी की आज तक की पूरी आचार्य-परम्परा प्राप्य है। उसमें सोभूराम जी से लेकर किशोर दास जी तक १३ आचार्य हुए।[3] हरिव्यास देव जी के शिष्य परशुराम देव जी सं० १६५६ में विद्यमान थे। अतः डा० किशोरी लाल गुप्त का मत है कि सोभूराम जी की विद्यमानता का समय भी यही माना जा सकता है। यदि उन्होंने सं० १६५० के आस-पास बूड़िया गद्दी की स्थापना की हो तो सं० १६५० से सं० २००० तक कुल ३५० वर्ष होते हैं। इन वर्षों में कुल १३ आचार्य हुए। अतः प्रत्येक आचार्य का औसत काल २७ वर्ष के लगभग पड़ता है। इस गणना के अनुसार चतुर चिन्तामणि देव का आचार्य-काल सं० १७३१-५८ वि० होता है। डा० नारायणदत्त शर्मा द्वारा स्वीकार किये हुए पीढ़ी-गणना के आधार पर[4] भी चतुर चिन्तामणि देव का समय उक्त पूर्व निर्धारित समय के निकट ही ठहरता है, जो सब बातों को देखते हुए उपयुक्त है। अतः चतुर चिन्तामणि देव एवं चतुरोनगन अथवा चतुरानागा में अभेद समझना समीचीन नहीं है।

यदि दोनों को अभिन्न मानने का हठ हो तो फिर एक तथ्य और भी विचारणीय है। प्रियादास जी द्वारा उल्लिखित उस तथ्य की बराबर उपेक्षा की गयी है। वह तथ्य है – चतुर चिन्तामणि देव की गुरु-निष्ठा तथा उनके गुरु के चरित्र से सम्बन्धित। प्रियादास जी ने चतुरोनगन विषयक छप्पय की अपनी टीका के प्रथम कवित्त में उस तथ्य का उल्लेख किया है। वह कवित्त इस प्रकार है –

---

१. श्री गोवर्धन नाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, पृ० ८।
२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ७७, अंक १-४, पृ० ८४।
३. दे० निम्बार्क-माधुरी, पृ० ७५०।
४. निम्बार्क-सम्प्रदाय एवं उसके कृष्णभक्त हिन्दी कवि, पृ० १६।

**आयौ गुरु गेह यों स्नेह सों लै सेवा करैं, धरै सांचो भाव हिये अति मति भीजियै।
टहल लगाय दई नइ रूपवती तिया, दियौ वासौ कहि 'स्वामी कहै सोई कीजिये'॥
देख्यो उरझाव अंग संग को लखाव भयौ दयौ घर घन वधू 'कृपा कर लीजियै।'
धाम पधराय, सुख पायकै, प्रनाम करी, धरी ब्रज भूमि उर बसे, रस पीजियै॥५६॥**

उक्त कवित्त का वार्तिक तिलक इस प्रकार है –

"आपके श्री गुरुजी घर में आये, अति सच्चे स्नेह-भाव से मति को भिगोकर सेवा करने लगे और नवीन अवस्था वाली अति रूपवती अपनी धर्मपत्नी को गुरुजी की टहल में लगाकर कह दिया कि जो स्वामी जी की आज्ञा हो, सोई करना। सब काल इकट्ठे रहने से अंग संग का उरझाव हो जाना जान लिया। तब घर और धन तथा अपनी स्त्री श्री गुरु महाराज को सब देकर विनय किया कि ये सब कृपा करके लीजिए। अति आनन्दित हो उन्हें गृह में पधरा, साष्टांग प्रणाम कर आज्ञा माँग आकर ब्रज-भूमि में बस श्री भगवत् प्रेमरस का पान किया करते।"

तो क्या डा० शर्मा तथा निम्बार्क-सम्प्रदायानुयायी, चतुर चिन्तामणि देव के गुरु परमानन्द देव जी के सम्बन्ध में इस बात को स्वीकार करेंगे ? इस अभिन्नता के मानने पर तो परमानन्द देव जी अत्यन्त भ्रष्ट सिद्ध होंगे। फिर हमने तो अभी तक यही सुना था कि निम्बार्क आचार्य नैष्ठिक ब्रह्मचारी होते आये हैं, गृहस्थ नहीं। इस अभिन्नता तथा इस कवित्त के आधार पर तो चतुर चिन्तामणिदेव को गृहस्थ भी स्वीकार करना होगा, किन्तु सम्प्रदाय की परम्परा को देखते हुए, इस तथ्य को ग्रहण नहीं किया जा सकता। चतुर चिन्तामणि देव नैष्ठिक ब्रह्मचारी और बूढ़िया गद्दी के आचार्य थे। भक्तमाल, उसकी टीका और वल्लभ-सम्प्रदाय में उल्लिखित चतुरोनगन अथवा चतुरा नागा से उनकी कोई अभिन्नता नहीं है। चतुरानागा १६वीं शती के भक्त हैं और चतुर चिन्तामणि देव १८वीं शती के आचार्य हैं।

२.७ साहित्य-लहरी और सूर नवीन का अस्तित्व

डा० किशोरीलाल जी गुप्त ने 'साहित्य-लहरी' को अष्टछापी सूरदास की रचना न मानते हुए उक्त ग्रन्थ के रचना-काल-सम्बन्धी पद की इस पंक्ति – 'त्रितिय रिच्छ, सुकर्म जोग, विचारि सूर नवीन' में आए हुए 'सूर नवीन' से एक नये 'सूर' कवि की उद्भावना कर 'साहित्य-लहरी' को इस 'सूर नवीन' की रचना सिद्ध किया है।

डा० गुप्त ने अपनी इस नयी उद्भावना की पुष्टि हेतु साहित्य-लहरी के वंश-परिचय वाले पद को प्रामाणिक मानते हुए इस 'सूर नवीन' नामक कवि को चन्द बरदाई का वंशज माना है तथा साथ ही 'साहित्य-लहरी' का रचना-काल सं० १६७७ वैशाख अक्षय तृतीया, सोमवार सिद्ध किया है।

डा० साहब ने अपने इस स्वत: स्फूर्त शोध-कार्य को 'सूर और सूर नवीन' नामक एक शोध-ग्रन्थ के रूप में हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद से प्रकाशित कराया है। इस ग्रन्थ के अनुसार यह 'सूर नवीन' जाति से ब्रह्म भट्ट थे, इनका नाम सूरज चन्द था और

ये रामदास ग्वालियरी के पुत्र थे। रामदास और इनका यह पुत्र सूर दोनों अकबरी-दरबार के गवैये थे। इस सूर ने विरक्त होकर सं० १६६७ में गो० गोकुलनाथ 'वल्लभ' से वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षा ली थी। डा० गुप्त के अनुसार इस 'सूर नवीन' कवि की 'साहित्य-लहरी', 'सूरसागर' (स्कन्धात्मक) तथा 'सूर सारावली' नामक रचनाएँ हैं। ये अष्टछापी सूरदास की रचनाएँ नहीं हैं। इस प्रकार उनके विचार में यह विवाद एक प्रकार से अब सदा के लिए समाप्त हो गया है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि डा० साहब ने अपने इस शोध-कार्य में आने वाले प्रायः सभी विरोधात्मक तथ्यों को परिश्रमपूर्वक सप्रमाण दूर करते हुए अपनी स्थापना को पुष्ट किया है, किन्तु फिर भी कुछ विचारणीय शेष है, जिसके सम्बन्ध में मैं डा० साहब के श्रम का आदर करते हुए निम्न रूप में निवेदन कर रहा हूँ। आशा है, गुप्त जी इस ओर ध्यान देंगे –

१. इस 'सूर नवीन' की दीक्षा, जैसा कि उन्होंने माना है, गो० गोकुलनाथ 'वल्लभ' द्वारा वल्लभ-सम्प्रदाय में हुई थी। ऐसी स्थिति में यह अनुमान स्वाभाविक है कि वल्लभ-सम्प्रदाय के ग्रन्थों में इस कवि के सम्बन्ध में कहीं कुछ लिखा भी गया होगा। क्या डा० गुप्त ने ऐसा कोई प्रमाण वल्लभ-सम्प्रदाय के साम्प्रदायिक ग्रन्थों से दिया है, जिससे इस कवि के अस्तित्व की पुष्टि हो सके ?

२. 'साहित्य-लहरी' के वंश-परिचय वाले पद को, जिसे प्रायः सभी विद्वानों ने प्रक्षिप्त माना है, डा० गुप्त ने प्रामाणिक माना है। उनके विचार में उक्त पद में उस व्यक्ति का वंश-परिचय है, जिसने साहित्य-लहरी की रचना की। इसीलिए उन्होंने इस सूर को इस वंशावली में स्थापित कर या उक्त वंश-वृक्ष में आए हुए 'सूरज चन्द' को 'सूर नवीन' के रूप में मानकर अपनी वैचारिक शोध को आगे बढ़ाया है, किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि इस वंशावली में सूरज चन्द के पिता का नाम नहीं दिया गया है और जिसकी पूर्ति गुप्त जी ने अबुल फजल के 'आईने अकबरी' ग्रन्थ में अकबरी दरबार के गवैयों की दी हुई सूची से की है, जिसमें रामदास ग्वालियरी और उसके पुत्र सूर के नाम दिये हुए हैं। यह कैसी विचित्र बात है कि कवि इतनी लम्बी-चौड़ी अपनी वंशावली का बखान करे और उसमें अपने पिता का नाम न दे और केवल इतना लिखे – 'जिसका वीर पुत्र आगरा में रहकर (फिर) गोपाचल में रहा था' तो इसे क्या कहा जाए ?

अन्य ध्यान देने की विशेष बात यह है कि सूरज चन्द (कवि सूर नवीन) ने इस वंश-वर्णन विषयक पद में अपने को नेत्रहीन (रहौ सूरज चन्द दृग तें हीन भर वर् सोक) लिखा है, तो क्या गुप्त जी इस बात को मानते हैं कि 'सूर नवीन' भी अन्धा था ? इसके आधार पर तो अकबरी दरबार का गवैया 'सूर' (रामदास का पुत्र) भी अन्धा ही ठहरता है, क्योंकि गुप्त जी ने उसे साहित्य-लहरी का कर्ता सूरज चन्द माना है। क्या इसकी पुष्टि में अन्य कोई प्रमाण मिलता है, जिससे यह पता चले कि रामदास का पुत्र सूर गवैया भी अन्धा था ? सम्भवतः ऐसा कोई प्रमाण प्राप्त नहीं है और न ही गुप्त जी भी इस सूर नवीन के अन्धत्व को मानते हैं, क्योंकि ऐसा कोई उल्लेख उन्होंने अपने ग्रन्थ में

नहीं किया, जिससे यह बात सिद्ध हो।

वास्तविकता यह है कि सूरज चन्द के इस 'नेत्रहीनता' के उल्लेख से इस वंशावली-पद की पोल स्वत: ही खुलकर सामने आ जाती है कि यह तथा कथित ब्रह्म भट्ट कवि अपने को 'अष्टछापी सूरदास' के रूप में ही प्रकट कर रहा है। गुसाईं जी द्वारा 'अष्टछाप' में स्थापित किये जाने के उल्लेख से भी इस बात की पुष्टि होती है। यह भी कैसी आश्चर्य की बात है कि जो नाम-छाप अष्टछापी सूरदास की हैं, 'वही इस कवि सूर नवीन की हैं।' इससे स्पष्ट है कि सूरज चन्द अपने को प्रयत्नपूर्वक 'अष्टछापी सूरदास' बताना चाहता है।

अत: इस समस्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'साहित्य-लहरी' की रचना के बहुत समय बाद किसी ब्रह्म भट्ट जाति के कवि ने अपनी जाति की गौरव-वृद्धि हेतु इस पद की रचना कर 'साहित्य लहरी' की किसी प्रति अथवा टीका में शामिल कर दिया होगा। इसलिए यह वंश-परिचय वाला पद प्रक्षिप्त ही ठहरता है। डा० गुप्त इसी अप्रामाणिक पद को प्रामाणिक मानकर 'सूर नवीन' के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का लेखा-जोखा प्रस्तुत कर अपनी इस विचित्र शोध को प्रामाणिक सिद्ध करना चाहते हैं। इस सम्बन्ध में डा० ब्रजेश्वर वर्मा के लेखानुसार यही कहा जा सकता है कि 'वह कवि चन्द वरदाई और सूरदास से अपने व्यक्तित्व को सम्बन्धित करने की साहित्यिक प्रवंचना का अपराधी है।' अत: डा० गुप्त की इस शोध को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

३. डा० साहब ने 'साहित्य-लहरी' का जो रचना-काल 'सं० १६७७, वैशाख अक्षय तृतीया, सोमवार' माना है, वह भी सही नहीं है, क्योंकि इसमें दिया विस्तार भी गणना की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। सं० १६७७ अक्षय तृतीया का मेल न तो 'वार' से होता है और न 'नक्षत्र' से। गुप्त जी ने इसमें दिन 'सोमवार' माना है, वह भी सही नहीं है, क्योंकि श्री कृष्ण-जन्मदिवस बुधवार से पाँचवा दिन 'रविवार' ही होता है, सोमवार नहीं।

रचना-काल विषयक पद का सामान्य अर्थ इस प्रकार है – ''सं० १६१७ सुबल (विक्रम) सम्वत् के वैशाख मास की अक्षय तृतीया, सुखदायी रविवार, कृत्तिका नक्षत्र, सुकर्म योग में सूरदास ने नये विचार (के रूप में) 'साहित्य-लहरी' की (रचना) कृष्ण-भक्तों के लिए की।'' यह पद भी दृष्टि कूटात्मक है।

वस्तुत: इसमें आया 'नवीन' शब्द 'विचारि' का विशेषण है, न कि 'सूर' का। अत: इसे सूर के साथ जोड़कर किसी 'सूर नवीन' नामक कवि की उद्‌भावना नहीं की जा सकती। कारण यह है कि 'साहित्य-लहरी' शृंगार के साथ ही अलंकार, नायिका-भेद और भाव-भेदादि का सम्मिलित रूप से क्रमबद्ध कथन करने वाला पहला ग्रन्थ है और यह कथन भी दृष्टि कूट पदों में हुआ है। अत: इस ग्रन्थ की रचना में कवि की यही नवीनता अर्थात् 'नवीन विचार' था, क्योंकि इस प्रकार की रचना हिन्दी-साहित्य में इस रचना से पूर्व नहीं हुई थी। ध्यातव्य है कि दृष्टिकूट की रचना वैसे ही बहुत कठिन होती है और फिर इसके तो एक ही दृष्टिकूट पद में दो-दो काव्यांगों का क्रम से वर्णन और पद के अन्त में उक्त काव्यांगों के नाम का उल्लेख भी करना कवि की अद्‌भुत प्रतिभा का

द्योतक है। इस प्रकार इस ग्रन्थ की रचना द्वारा सूरदास जी ने निश्चय ही कवियों के समक्ष एक 'नवीन विचार' प्रस्तुत किया था।

डा० साहब से विनम्र निवेदन है कि इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए पुनर्विचार करने की कृपा करें।

२.८ 'भक्तमाल' के अष्टछापी नन्ददास विषयक छप्पय पर विचार

नाभादास ने अपनी 'भक्तमाल' में अष्टछापी नन्ददास के विषय में निम्नलिखित छप्पय दिया है –

लीला पद रस रीति ग्रन्थ-रचना में नागर।
सरस उक्ति जुत जुक्ति भक्ति रस गान उजागर।
प्रचुर पयध लौं सुजस 'रामपुर ग्राम-निवासी।'
सकल 'सुकुल' संबलित भक्त-पद-रेनु उपासी।
'चन्द्रहास-अग्रज-सुहृद', परम प्रेममय में पगे।
(श्री) नन्ददास आनन्दनिधि, रसिक सु प्रभुहित रँगमगे।[1]

उपर्युक्त पद की प्रथम पंक्ति से स्पष्ट होता है कि नन्ददास ने दो प्रकार की रचनाएँ की थीं – भगवत्-लीला के पदों तथा रस-रीति के ग्रन्थों की। नन्ददास ने भगवान् की लीला के बहुत-से पद लिखे हैं। 'रस-रीति-ग्रन्थ-रचना में नागर' से दो अर्थ लिये जा सकते हैं – भक्ति-रस-रीति-ग्रन्थों की रचना में कुशल एवं काव्य-रस-रीति-ग्रन्थ-रचना में चतुर। नन्ददास के ग्रन्थों को देखने से ज्ञात होता है कि उन्होंने काव्य-लक्षण-ग्रन्थों की परिपाटी पर भी रचना की है – 'रस मंजरी' ऐसा ही ग्रन्थ है। यह नायक-नायिका भेद पर लिखा गया है। 'रूपमंजरी' में यद्यपि प्रत्यक्ष लक्षण-निरूपण नहीं है, तथापि उसमें हाव-भाव, हेला आदि का तथा बारहमासा का वर्णन रीति-पद्धति पर हुआ है। इस प्रकार नाभा जी का नन्ददास के विषय में 'रस रीति-ग्रन्थ-रचना में नागर' लिखना दोनों प्रकार से ठीक उतरता है। 'उनकी उक्तियाँ सरस हैं' तथा वे 'भक्ति-रस गान और कथन में प्रसिद्ध हैं।' 'उक्तियों' का चमत्कारक निबन्धन 'भँवरगीत' में दर्शनीय है । सूर, तुलसी आदि की भाँति नन्ददास का काव्य भी भक्ति-रस का काव्य है। इस कथन से स्पष्ट है कि नन्ददास उच्च कोटि के कवि और अच्छे गवैये थे। इसमें उनकी रचना के गुणों की प्रशंसा की गयी है। यहाँ तक तो नाभा जी ने उनकी काव्य-रचना का परिचय दिया है। आगे की पंक्तियाँ उनकी जीवन-सम्बन्धी कुछ बातों पर प्रकाश डालती हैं। 'उनका यश समुद्र पर्यन्त व्याप्त है और वे रामपुर के रहने वाले हैं'। जीवनी की दृष्टि से इस पद की यह तृतीय पंक्ति महत्त्वपूर्ण है। इसमें नन्ददास को 'रामपुर' ग्राम का निवासी बताया गया है। 'सकल सुकुल संबलित भक्त पद-रेनु उपासी' – पंक्ति से ज्ञात होता है कि नन्ददास 'सुकुल' में उत्पन्न हुए थे और वे भक्तों की पद-रज के, चाहे वे भक्त किसी भी जाति

---

१. भक्तमाल, रूपकला-संस्करण, पृ० ६६६ (तृतीयावृत्ति)।

के क्यों न हों, उपासक थे। 'सुकुल-संबलित' के दो अर्थ हो सकते हैं – उच्च कुल में उत्पन्न और शुक्ल आस्पद वाले ब्राह्मणकुल में उत्पन्न। यहाँ 'शुक्ल आस्पद वाले ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न' यही अर्थ ग्राह्य प्रतीत होता है, क्योंकि भक्त के लिए अच्छे कुल का होना-न-होना महत्त्वपूर्ण नहीं है। फिर निवास-स्थान का वर्णन करते हुए जाति का उल्लेख कर देना ही अधिक स्वाभाविक है। 'शुक्ल आस्पद', सरयूपारी, कान्यकुब्ज तथा सनाढ्य आदि सभी ब्राह्मणों में पाया जाता है – नाभाजी ने यह स्पष्ट नहीं किया कि नन्ददास उक्त जातियों में से किस जाति के ब्राह्मण थे।

'चन्द्रहास-अग्रज-सुहृद' के कई अर्थ हो सकते हैं – चन्द्रहास के बड़े भाई के मित्र, चन्द्रहास के प्रिय बड़े भाई तथा चन्द्रहास जिसके प्रिय बड़े भाई थे। अन्तिम दो अर्थ लेने पर चन्द्रहास-नन्ददास भाई-भाई ठहरते हैं। प्रथम अर्थ को श्री वियोगी हरि जी ने ग्रहण किया है।[1] इस अर्थ के अनुसार चन्द्रहास उस समय के कोई प्रसिद्ध व्यक्ति होने चाहिए, क्योंकि नाभाजी ने सीधे ही नन्ददास के मित्र का नाम न लेकर, उसके छोटे भाई का नाम दिया है। किन्तु डा० दीनदयालु गुप्त के अन्वेषण से यह सिद्ध हो गया है कि इस नाम का कोई प्रसिद्ध भक्त उस काल में न था और इतिहास में भी इस नाम का कोई प्रसिद्ध व्यक्ति सुनने में नहीं आता।[2] अत: यह अर्थ उपयुक्त नहीं है। आचार्य शुक्ल ने इस पंक्ति के आधार पर चन्द्रहास को नन्ददास का भाई लिखा है।[3] डा० दीनदयालु गुप्त ने इस पंक्ति का सीधा अर्थ करते हुए नन्ददास को चन्द्रहास का बड़ा भाई माना है।[4]

इस प्रकार नाभाजी के छप्पय से नन्ददास जी की जीवन-विषयक तीन बातें ज्ञात होती हैं –

१. नन्ददास 'रामपुर' ग्राम के निवासी थे।
२. 'शुक्ल आस्पद' वाले किसी ब्राह्मण-कुल में उनका जन्म हुआ था।
३. नन्ददास, चन्द्रहास नामक व्यक्ति के बड़े भाई थे।

अब क्रमश: इन तीनों के सम्बन्ध में विचार किया जाता है। भक्तमाल में वर्णित नन्ददास के निवास-स्थान 'रामपुर' की स्थिति का निश्चय अभी तक नहीं हो सका है। सोरों (जिला एटा) वाली सामग्री की प्रामाणिकता संदिग्ध है, तब तक सोरों के निकट का रामपुर नन्ददास की जन्मभूमि नहीं स्वीकार की जा सकती। नन्ददास ने स्वयं अपनी रचनाओं में इस प्रकार का कहीं कोई उल्लेख नहीं किया है। भक्तमाल की टीकाएँ तथा

---

१. ब्रजमाधुरी-सार, पृ० ४४ (नवम संस्करण)।
२. अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय, भाग १, पृ० ११८ (प्र०सं०)।
३. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १६० (बारहवाँ सं०)।
४. अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय, भाग १, पृ० ११८ (प्र०सं०)।
डा० रामकुमार वर्मा का झुकाव भी इसी ओर है। वे लिखते हैं – "सन्दर्भ को देखते हुए नन्ददास को चन्द्रहास का बड़ा भाई मानना ही युक्तिसंगत है।" दे० हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ७८३ (द्वि०सं०)।

भक्तनामावली भी इस प्रकार के किसी स्थान के उल्लेख करने में पूर्णतया मौन हैं। 'वार्ता-साहित्य' में इन्हें पूर्व देशस्थ रामपुर निवासी लिखा है।[1] अतः 'वार्ता' तथा 'भक्तमाल' के आधार पर यह कहा जा सकता है कि नन्ददास गोकुल-मथुरा से पूर्व की ओर स्थित रामपुर ग्राम के रहने वाले थे, जहाँ से गोकुल-मथुरा आने में 'कछुक दिन' का समय लगता था।

'भक्तमाल' में नन्ददास को 'सुकुल' में उत्पन्न व्यक्ति बताया है। 'वार्ता-साहित्य' में उन्हें 'सनौढिया' लिखा है।[2] 'मूल गुसाईं चरित' में इन्हें कान्यकुब्ज ब्राह्मण बताया है।[3] लेकिन 'मूल गुसाईं चरित' का कथन ग्राह्य नहीं है, क्योंकि यह ग्रन्थ अप्रामाणिक सिद्ध हो चुका है। अतः 'वार्ता' तथा 'भक्तमाल' के आधार पर कहा जा सकता है कि नन्ददास का जन्म शुक्ल आस्पद वाले सनाढ्य ब्राह्मण-कुल में हुआ था। 'वार्ता' में नन्ददास के माता-पिता, वंश आदि के विषय में कुछ नहीं बताया गया।

'चन्द्रहास अग्रज सुहृद' से चन्द्रहास के प्रिय बड़े भाई – यह अर्थ लिया गया है। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि इस नाम के किसी प्रसिद्ध व्यक्ति का पता नहीं लगता है। यहाँ तक कि 'वार्ता-साहित्य' में भी किसी चन्द्रहास नामक व्यक्ति की कोई चर्चा नहीं है। हाँ, 'वार्ता' में रामचरितमानस के रचयिता तुलसीदास को नन्ददास का बड़ा भाई कहा गया है।[4] तुलसीदास उनके सगे भाई थे अथवा चचेरे या ममेरे, यह बात 'वार्ता' में स्पष्ट नहीं की गयी। 'वार्ताओं' के उल्लेखों को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि नन्ददास और तुलसीदास का कुछ-न-कुछ सम्बन्ध अवश्य था।[5] हो सकता है कि वे आपस में गुरु-भाई ही हों, जैसा कि स्वयं नन्ददास

---

१. दे० प्राचीन वार्ता-रहस्य (अष्टछाप वार्ता), द्वितीय भाग, पृ० ३२६।

२. उपरिवत्। मिश्रबन्धुओं ने अपने विनोद (प्रथम भाग, पृ० २४८, द्वि०सं०) में राधाकृष्णदास जी के कथन पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि "पर वार्ता देखने से प्रकट हुआ कि उसमें नन्ददास जी को केवल ब्राह्मण कहा गया है।" इसमें आये केवल शब्द से वियोगी हरि जी को 'केवत' शब्द का भ्रम हो गया है और इसका अर्थ 'कान्यकुब्ज' लगाया है। दे० ब्रजमाधुरी सार, पृ० ४४। केवल 'सिर्फ' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, 'केवत' के रूप में नहीं, जिसको कि 'कान्यकुब्ज' के अर्थ में लिया जा सके। वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से छपी २५२ वार्ता में नन्ददास ज़ी को केवल (सिर्फ) ब्राह्मण लिखा है, सनौढिया या कान्यकुब्ज आदि कुछ नहीं। सम्भव है, 'विनोद' के प्रथम संस्करण में ऐसा ही उल्लेख हो, जिसको आधार बनाकर वियोगी हरि जी ने ऐसा लिख दिया हो। 'विनोद' के दूसरे संस्करण में ऐसा कुछ उल्लेख नहीं है, जिससे भ्रम की सम्भावना हो।

३. मूल गोसाईं चरित के ७५ दोहे की चौपाई।

४. अष्टछाप, काँकरौली, पृ० ३२६ तथा अष्टछाप, डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० ६४।

५. इस प्रकार के किसी सम्बन्ध की पुष्टि नन्ददास जी की रचनाओं के अध्ययन से भी होती है। उनकी रामावतार तथा हनुमान विषयक रचनाओं से यह प्रकट होता है कि उनके भक्त-हृदय पर किसी समय राम-भक्ति की छाप पड़ी थी। तुलसी को साथ रखकर उनकी कृतियों के अध्ययन से यह तथ्य स्वतः सिद्ध होता है। 'वार्ता' में उन्हें प्रारम्भ में 'रामानन्द' होना लिखा भी है। (दे० अष्टछाप, काँकरौली, पृ० ३२६)। अतः इस धारणा को बल मिलता है कि ये रामानन्दीय संस्कार उन्हें अपने गुरु-भाई तुलसी के दीर्घ सहवास से प्राप्त हुए होंगे।

द्वारा रचित एक विनय के पद से ज्ञात होता है।[1] इन तुलसीदास के जीवन की एक चमत्कारिक घटना बहुत प्रसिद्ध है। यह चमत्कारपूर्ण घटना है – तुलसीदास की ब्रज-यात्रा के समय उनकी अनन्यता की टेक रखने के लिए कृष्ण-मूर्ति का धनुष-बाण धारण करना। तुलसीदास के समकालीन 'भक्त कवि व्यास जी' के एक पद में भी इस घटना की ओर संकेत है।[2] इस घटना-विषयक वर्णन-बाहुल्य को देखते हुए प्रतीत होता है कि उनके जीवन-काल में ऐसी किसी घटना ने अवश्य प्रसिद्धि प्राप्त की थी। अत: उपर्युक्त दोनों तथ्यों (गुरु-भ्रातृत्व एवं स्वरूप-परिवर्तन विषयक) के सामूहिक रूप पर एक दूसरी दृष्टि से भी विचार किया जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वार्ता-साहित्य के लेखकों ने उपर्युक्त इन दोनों क्षीण तथ्य-सूत्रों को आधार बनाकर नन्ददास तथा तुलसीदास विषयक विवरणों (प्रसंगों) को साम्प्रदायिक दृष्टि से प्रस्तुत किया है और उनमें सम्प्रदाय की महत्ता-वृद्धि के निमित्त नन्ददास की उत्कर्षता को दिखाया है।[3] नन्ददास एवं तुलसीदास विषयक जो भी उल्लेख वल्लभ-सम्प्रदायी-साहित्य में प्राप्त होते हैं, उनसे तो निश्चय ही साम्प्रदायिक गन्ध आती है। अस्तु !

'चन्द्रहास अग्रज सुहृद' भक्तमालकार के इस कथन का स्पष्टीकरण वल्लभ-सम्प्रदायी साहित्य अथवा अन्य किसी प्रकार से भी नहीं होता है। ऐसी स्थिति में इस पंक्ति-अंश का पाठ भी विचारणीय है। जब इस दृष्टि से विचार करते हैं, तो इस विषय में निराश नहीं रहना पड़ता। रूपकला जी ने भक्तमाल के अपने 'भक्ति-सुधा-स्वाद तिलक' में नन्ददास विषयक छप्पय की टीका करते हुए पाद-टिप्पणी में 'अग्रज' शब्द का पाठान्तर 'अंगज' शब्द का उल्लेख किया है।[4] 'अंगज' का अर्थ होता है – 'पुत्र'। तब भक्तमालकार के उक्त कथन का पाठ 'चन्द्रहास अंगज सुहृद' हो जाएगा और इसका अर्थ होगा – 'चन्द्रहास के प्रिय पुत्र।' राजा प्रताप सिंह ने भी अपने 'भक्त कल्पद्रुम' में उक्त पंक्ति के आधार पर नन्ददास को 'चन्द्रहास का पुत्र' लिखा है।[5] मेरे पास सम्वत् १६८० वि० की बम्बई में

१. श्रीमत्तुलसीदास स्वगुरु-भ्राता पद बंदे।
सेष सनातन विपुल ज्ञान जिन पाइ अनंदे॥
राम चरित जिन कीन्ह ताप त्रय कलिमल हारी।
करि पोथी पर सही आदरेउ आप पुरारी॥
राखी जिनकी टेक मदन मोहन धनुधारी।
बालमीकि अवतार कहत जेहि संत प्रचारी॥
नन्ददास के हृदय-नयन को खोलेउ सोई।
उज्ज्वल रस टपकाय दियो जानत सब कोई॥

२. दे० भक्त कवि व्यास जी, ले० वासुदेव गोस्वामी, पृ० १८७-१८८ (प्र०सं०)।

३. दे० अष्टछाप काँकरौली, दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, गोकुलनाथ जी के वचनामृत तथा सम्प्रदाय कल्पद्रुम आदि ग्रन्थ। वल्लभ-सम्प्रदायी साहित्य में भी नन्ददास एवं तुलसीदास विषयक प्रसंगों (विवरणों) में एकरूपता नहीं है। यह तथ्य विचारणीय है।

४. भक्तमाल, रूपकला संस्करण, पृ० ६६६ (तृतीय सं०)।

५. वही, पृ० ११४।

छपी हुई भक्तमाल का एक संस्करण है। उसमें भी नन्ददास विषयक छप्पय में 'चन्द्रहास अंगज सुहृद' पाठ ही है।[1] भक्तमालकार ने अन्यत्र भी एक और छप्पय में 'अंगज' शब्द का प्रयोग किया है।[2]

अत: 'अग्रज' के स्थान पर 'अंगज' पाठ ग्रहण कर लेने से अर्थ की अस्पष्टता स्वत: दूर हो जाती है और उसके ऐतिहासिक अथवा अन्य किसी प्रकार के स्पष्टीकरण की भी आवश्यकता नहीं रह जाती; क्योंकि पिता का स्वयं में प्रसिद्ध होना या न होना अपने में महत्त्वपूर्ण नहीं है और फिर नाभाजी की वर्णन करने की अपनी एक शैली है। 'अंगज' पाठ ग्रहणोपरान्त नन्ददास विषयक छप्पय भी नाभाजी की वर्णन-शैली के अनुरूप हो जाता है। नाभाजी ने अपनी भक्तमाल में कितने ही भक्तों के छप्पयों में (जहाँ भी आवश्यक समझा हो या जिस-जिस भक्त के पिता के नाम की जानकारी उनको हो) पिता का नामोल्लेख किया है।[3] भाई के नामोल्लेख वाले छप्पय भक्तमाल में अपवाद रूप में ही हैं। किसी भी रूप में प्रसिद्ध होने के कारण ही उनके नामोल्लेख के साथ भक्त का परिचय दिया गया है, अन्यथा नहीं। आश्चर्य है कि किसी ने भी इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर अभी तक ध्यान नहीं दिया। इस लेख द्वारा सर्वप्रथम विद्वानों का ध्यान इस

---

१. दे० ब्रजवल्लभ, हरिप्रसाद द्वारा प्रकाशित संस्करण, पृ० १२५। राधाकृष्ण दास जी ने स्वसंपादित 'भक्तनामावली' में नन्ददास जी पर टिप्पणी देते हुए लिखा है –
"भक्तमाल में इन्हें रामपुर वाले चन्द्रहास का पुत्र लिखा है।" इससे भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है कि भक्तमाल में 'अंगज' ही पाठ था, 'अग्रज' नहीं। उन्हें भक्तमाल की ऐसी प्रति प्राप्त थी, जिसमें 'अंगज' था। यदि 'अग्रज' पाठ होता तो उसी के अनुसार अर्थ करके लिखते। दे० भक्तनामावली, ना०प्र० सभा, काशी (प्रथम सं०), पृ० ६१।

२. दे० भक्तमाल, रूपकला-संस्करण, पृ० ५८० (तृ०सं०)। श्री वर्धमान एवं श्री गंगल जी विषयक छप्पय के अन्तर्गत – "भीषम भट्ट अंगज उदार, कलियुगदाता सुगति के। 'वर्धमान', 'गंगल', गंभीर, उभै थंम हरि भक्ति के।।' इस 'अंगज' शब्द-प्रयोग से भी यही सिद्ध होता है कि नन्ददास विषयक छप्पय में भी 'अंगज' शब्द का ही प्रयोग किया गया होगा, किन्तु किसी लिपिकर्ता के प्रमाद से 'अंगज' के स्थान पर 'अग्रज' पाठ लिखे जाने के पश्चात् वही पाठ अधिकांश प्रतियों में चल निकला, किन्तु कुछ प्रतियों में 'अंगज' पाठ ही परम्परागत रूप में लिखा चला आता रहा। मेरे विचारानुसार स्यात् भक्तमाल में 'अग्रज' शब्द का प्रयोग भी नहीं हुआ है।

३. दे० कील्ह जी विषयक छप्पय में – 'सुमेरदेव-सुत जगविदित' छप्पय सं० ४०। विट्ठलनाथ विषयक छप्पय में – 'वल्लभ-सुत बल भजन के' छ० सं० ७६।
नाथ भट्ट विषयक छप्पय में – 'फनीवंश गोपाल-सुव' छ०सं० १५६।
हित हरिवंश विषयक छप्पय में – 'व्यास-सुवन पथ अनुसरै' छ०सं० ६०।
स्वामी हरिदास विषयक छप्पय में – 'आसुधीर उद्योत कर रसिक छाप हरिदास की।' छ०सं० ६१।
हरिराम व्यास विषयक छप्पय में – 'सुकुल सुमोखत सुवन' छ०सं० ६२।
गिरिधर जी के छप्पय में – 'विट्ठलेस नंदन सुभाव' छ०सं० १३१।
भगवन्त जी के छप्पय में – 'माधव-सुत संमत रसिक' छ०सं० १६८।
इन उल्लेखों के अतिरिक्त अन्य कई छप्पयों में भी पिता के नाम का उल्लेख हुआ है। इन छप्पयों में उल्लिखित सभी पिता प्रसिद्ध व्यक्ति नहीं थे। पिता के नामोल्लेख से भक्त का परिचय देने की यह तो नाभाजी की अपनी वर्णन-शैली की विशेषता है।

ओर आकृष्ट किया जा रहा है। विद्वानों को इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए।

'अंगज' पाठ के साथ नाभाजी के छप्पय से 'वार्ता-साहित्य' की सहायता लेते हुए नन्ददास जी के जीवन-विषयक निम्नलिखित तथ्य निष्कर्ष-रूप में ज्ञात होते हैं –

१. नन्ददास 'रामपुर' ग्राम के निवासी थे। यह ग्राम गोकुल-मथुरा से पूर्व की ओर स्थित था, जहाँ से गोकुल-मथुरा आने में 'कछुक दिन' का समय लगता था।
२. शुक्ल आस्पद वाले सनाढ्य ब्राह्मण-कुल में उनका जन्म हुआ था।
३. नन्ददास, चन्द्रहास नामक व्यक्ति के पुत्र थे अर्थात् चन्द्रहास नन्ददास के पिता थे, भाई नहीं।

२.६ वाचक कुशल लाभ और उनकी रचनाएँ

वाचक[१] कुशल लाभ के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में अत्यल्प सूचनाएँ उपलब्ध हैं। ये जैन मुनि थे और खरतर गच्छीय जैनाचार्य अभयधर्म उपाध्याय के शिष्य थे।[२] इनके जन्म एवं मृत्यु-काल के सम्बन्ध में पुष्ट सूचनाओं का अभाव है। इसीलिए विद्वानों ने इस सम्बन्ध में विभिन्न अनुमान किये हैं। श्री अगरचन्द नाहटा एवं डा० मोतीलाल मेनारिया ने सं० १५८० के आसपास इनका जन्म होना माना है।[३] कवि की प्राप्त रचनाओं पर विचार कर डा० केदार मिश्र ने इनका जन्म सं० १५७५ वि० के लगभग और अवसान-काल सं० १६६० के आसपास निर्धारित किया है।[४] रचनाओं के परिप्रेक्ष्य में इन तिथियों को स्वीकार किया जा सकता है। ये राजस्थान (मारवाड) निवासी थे, ऐसा भाषा के आधार पर अनुमान होता है, किन्तु जन्म-स्थान के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

कविकृत 'पिंगल शिरोमणि' आदि ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि कुशल लाभ जैसलमेर के रावल मालदेव भाटी के कुँअर हरराज के काव्य-गुरु थे। इससे ज्ञात होता है कि कुशल लाभ कुं० हरराज के सिंहासन पर बैठने के पूर्व ही आचार्य-रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। 'पिंगल शिरोमणि' ग्रन्थ एवं 'माधवानल कामकंदला चौपई' की रचना उन्होंने कुं० हरराज को काव्य-शिक्षा देने हेतु की थी और रावल हरराज के आग्रह पर ढोला मारवणी चौपाई' की रचना की थी।

१. इस उपाधि से प्रतीत होता है कि कवि कथावाचक तथा धार्मिक प्रवचनकर्ता भी था।
२. श्री खरतरगच्छि सहिगुरुराय, गुरु श्री अभय धर्म उवझाय।' – (तेजसार रास)। साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि 'खतरगच्छ' जैन धर्म के श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अन्तर्गत ही है। ये अलग-अलग नहीं हैं। अत: सन्देह व्यर्थ है। दे० हिन्दी जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-२, पृ० ११२।
३. दे० राजस्थानी भाषा और साहित्य (प्र०सं०), पृ० १४१। डा० मनमोहन स्वरूप माथुर ने सं० १५६० से १५६५ के लगभग कवि का जन्म होना माना है। दे० हिन्दुस्तानी, भाग ५४, अंक ३, पृ० २४।
४. दे० वही, पृ० २५। कविकृत ग्रन्थों के अनुसार कवि सं० १६०० वि० में अलवर में (वहाँ हंसदूत काव्य की प्रतिलिपि की थी), सं० १६१२ से १६२० के आसपास तक जैसलमेर में तथा १६२४-२५ में वीरमपुर (तेजसार रास) में रहे थे। 'शत्रुंजय यात्रा स्तवन' (सं० १६४४) रचना से ज्ञात होता है कि कवि का अन्तिम काल सम्भवत: गुजरात में व्यतीत हुआ था।

डा० केदार मिश्र के उल्लेखानुसार आचार्य कुशल लाभ कृत निम्नलिखित १८ ग्रन्थ उपलब्ध हैं [१] –

१. पिंगल शिरोमणि (सं० १६१२-१५), २. माधवानल कामकंदला चौपई (सं० १६१६), ३. ढोला मारवणी चौपई (सं० १६१७), ४. जिनपालित जिनरक्षित संधि गाथा (सं० १६२१), ५. पार्श्वनाथदशभव स्तवन (सं० १६२१), ६. तेजसार रास (सं० १६२४), ७. अगडदत्त रास (सं० १६२५), ८. स्तंभन पार्श्वनाथ स्तवन (सं० १६३८), ९. भीमसेन हंसराज चौपई (सं० १६४३), १०. शत्रुंजय यात्रा स्तवन (सं० १६४४), ११. श्री पूज्यवाहन गीत, १२. गौडी पार्श्वनाथ छंद, १३. नवकार छंद, १४. स्थूलिभद्र छतीसी, १५. महामाईदुर्गा सातसी, १६. जगदम्बा छंद, १७. ज्ञानदीप और १८. कवित्त-सवैया।

कुशल लाभ एक अच्छे पंडित एवं सुकवि थे। उपर्युक्त प्रथम तीन कृतियों के आधार पर कुशल लाभ का आचार्य व कवि-नायक रूप सिद्ध होता है। 'माधवानल कामकंदला' तथा 'ढोला मारवणी चौपई' कुशल लाभ को रससिद्ध कवि एवं आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित करती हैं। अन्य रचनाओं से उनका एक जैन धर्मज्ञ कवि रूप प्रकट होता है।

अब कुछ मुख्य कृतियों का परिचय विस्तार से दिया जा रहा है –

१. पिंगल शिरोमणि –

इस ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि आचार्य कुशल लाभ जैसलमेर के युवराज कुं० हरराज भाटी के श्रद्धास्पद काव्य-गुरु थे। उन्होंने युवराज को काव्य की शिक्षा देने के लिए इस ग्रन्थ की रचना की थी –

राउल माल सुपाट पति, तासकुंवर हरिराज।
कुशल लाभ कवि वरण्या, जास कुतूहल राज॥

कुछ विद्वानों ने 'हरराज' को ही इस ग्रन्थ का रचनाकार होना माना है, जो भ्रान्तिमूलक है। ग्रन्थ की पुष्पिका में प्रयुक्त 'हरराज कृत' वाक्य मात्र आश्रयदाता के प्रति कृतज्ञता का सूचक है, रचयिता का नहीं। ऐसे और भी उदाहरण देखने में आते हैं।[२]

इस कृति के रचना-काल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। इस रचना के अन्त में एक छन्द इस रूप में मिलता है –

पाण्डव[५] मुनि[७] सर[५] मेदनी[१], सुकुल पख्य नभमास।
तिथि नवमी रविवार तिम जैसल हरीयन्द वास॥

ग्रन्थ-सम्पादक डा० नारायण सिंह भाटी ने इस छन्द को अशुद्ध एवं लिपिकार की त्रुटि मानते हुए कृति का रचना-काल सं० १६१८ वि० के आस-पास निर्धारित किया है।[३]

---

१. 'दे० हिन्दुस्तानी', भाग ५४, अंक ३, पृ० २६।

२. दे० महाकवि केशवदास कृत 'रामचन्द्रिका' की पुष्पिका – 'इति श्री इन्द्रजीत विरचितायां....... श्रीरामचन्द्रचंद्रिकायां......।' इन्द्रजीत कवि के आश्रयदाता थे।

३. दे० 'परम्परा', भाग १३, पृ० १३।

डा० ब्रजमोहन जावलिया ने 'पांडव मुनि सर मेदिनी' में लिपि-दोष मानते हुए 'पांडव[५] मुनि[३] रस[६] मेदिनी[१]' के संशोधन के साथ कृति का रचना-काल सं० १६३५ माना है[१], जिसे कुं० हरराज के सन्दर्भ में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

डा० केदार मिश्र के अनुसार यह 'पिंगल शिरोमणि' का रचनाकाल नहीं, अपितु कवि का जन्म-सम्वत् सिद्ध होता है।[२] मिश्र जी के इस विचार में यह तो सही है कि उक्त सम्वत् १५७५ रचना-काल नहीं हो सकता और यह भी सम्भव है कि कवि का जन्म इस सम्वत् में हुआ हो, जैसा कि डा० साहब ने कवि का जन्म इस सम्वत् में (या इसके लगभग) निश्चित किया भी है, किन्तु कवि ने स्वयं अपने जन्म-सम्वत् के रूप में इसका उल्लेख ग्रन्थ-पुष्पिका के छन्दों में किया होगा, सम्भव नहीं है। अत: मिश्र जी का ऐसा सोचना कि पुष्पिका में इसका उल्लेख जन्म-सम्वत् के रूप में हुआ है, सही नहीं है।

इस दोहे की संख्यात्मक स्थिति के सम्बन्ध में मेरा भी एक सुझाव है। मेरे विचार से सही पाठ 'पांडव[५] भुवि[१] रस[६] मेदिनी[१]'(१६१५) था, जो लिपि-दोष से विकृत होकर उक्त रूप में हमारे सामने है।[३] यदि मेरे इस संशोधन को स्वीकार कर लिया जाए तो रचना-काल-सम्बन्धी उलझन का निराकरण स्वत: हो जाएगा। फिर इसमें ज्योतिषीय विस्तार विद्यमान है। अत: ज्योतिष-गणना के आधार पर इसकी सही वास्तविकता को परखा जा सकता है। मेरी राय में 'पिंगल शिरोमणि' की रचना-तिथि सं० १६१५ श्रावण शुक्ल ६, रविवार है, जो कुंवर हरराज के सन्दर्भ में पूर्णतया सही है।

'पिंगल शिरोमणि' मुख्यत: छन्द-विषयक ग्रन्थ है, किन्तु इसमें छन्दों के अतिरिक्त कोश और अलंकारों आदि का भी वर्णन हुआ है। आठ अध्यायों में विभक्त इस ग्रन्थ में निम्नलिखित विषय वर्गीकृत हैं :

१. वर्णावर्ण छन्द-संज्ञा कथन, २-३. छन्दों का निरूपण, ४. मात्रा प्रकरण, ५. वर्ण प्रस्तार-उद्दिष्ट-नष्ट-निरूपताका-मर्कटी आदि षोडश लक्षण, ६. अलंकार वर्णन, ७. डिंगल नाममाला और ८. गीत प्रकरण।

ग्रन्थ में विषय का विवेचन सोदाहरण है। उदाहरणों में शंकर-कथा, राम-कथा एवं अन्य देवी-देवताओं के अतिरिक्त कुं० हरराज का यश-निरूपण है। यह मात्र छन्दशास्त्रीय ग्रन्थ नहीं है, अपितु इसमें काव्य के विविध अंगों का विवेचन हुआ है। 'डिंगल नाममाला' से स्पष्ट होता है कि कवि का डिंगल भाषा पर पूर्ण अधिकार था। पं० अंबालाल प्रे० शाह ने 'पिंगल शिरोमणि' को संस्कृत भाषा की रचना होना लिखा है[४], जो भ्रमात्मक एवं अशुद्ध है।

'पिंगल शिरोमणि' काव्यांग-विवेचन का विशिष्ट ग्रन्थ है, जिसमें 'पिंगल' को

---

१. दे० 'हिन्दुस्तानी', भाग ५४, अंक ३, पृ० २७।

२. दे० वही, पृ० २५ व २७।

३. इसमें पहले भ्रम से 'भुवि' से 'मुवि' हुआ और फिर 'मुवि' को निरर्थक जानकर 'मुनि' किया गया।

४. दे० 'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास', भाग ५ (लाक्षणिक साहित्य), पृ० १३८।

काव्यात्मा के रूप में स्थापित किया गया है। अतः यह 'पिंगल-सम्प्रदाय' का आद्य स्थापक ग्रन्थ है। इसमें स्थान-स्थान पर प्रश्नोत्तर-शैली का उपयोग हुआ है।[१] साथ ही इसमें विषय-विवेचन की स्पष्टता-हेतु वार्ता आदि के रूप में गद्य का भी प्रचुर उपयोग किया गया है। इस महत्त्वशाली ग्रन्थ का प्रकाशन 'परम्परा' (जोधपुर) भाग १३ के विशेषांक के रूप में हुआ है। इस ग्रन्थ का महत्त्व इस दृष्टि से भी विशेष है कि इसी ग्रन्थ में सर्वप्रथम 'चन्द वरदाई रासा रौ कर्ता' का उल्लेख मिलता है,[२] जिससे चन्द वरदाई एवं रासो की प्राचीनता एवं विश्वसनीयता पर प्रकाश पड़ता है। इस सन्दर्भ का ऐतिहासिक मूल्य है।

२. माधवानल कामकंदला चौपई

प्रचलित लोककथा के आधार पर कवि ने इस ग्रन्थ की रचना जैसलमेर के कुँवर हरराज के आग्रह पर ही की थी।[३] यह ग्रन्थ भारतीय प्रेमाख्यान-परम्परा का प्रबन्ध चरित है। इसमें माधवानल और कामकंदला की शृंगार-कथा (प्रेमकथा) का वर्णन है। इसे 'माधवानल-कामकंदला रास' भी कहते हैं। यह रचना गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज में प्रकाशित है। इसकी रचना सं० १६१६ फागुन शुक्ल १३, रविवार को जैसलमेर में हुई थीं–

संवत सोल सोलोतरइं, जेसल मेरु मझारि,
फागुण सुदि तेरसि दिवसे विरची आदितिवार।

डा० हरिकान्त श्रीवास्तव ने अपने शोध-प्रबन्ध में इस कृति का रचना-काल सं० १६१३ और श्री अगरचन्द नाहटा ने अपने एक लेख में सं० १६१७ लिखा है,[४] जो सही नहीं हैं। इस रचना की सं० १६३८ की एक प्राचीन प्रति उपलब्ध है।[५]

३. ढोला मारवणी चौपई

इस रचना में राजस्थान के सुप्रख्यात ग्रन्थ 'ढोला मारू रा दूहा' को चौपई-बंध किया गया है अर्थात् कवि ने 'दूहो' में चौपाइयाँ मिलाकर इसमें प्रबन्धात्मकता उत्पन्न कर दी है। इसमें राजस्थान की प्रसिद्ध प्रेमकथा का, जो ढोला और मारू के प्रेम पर आधारित है, वर्णन किया गया है। इस प्रकार यह एक प्रबन्धकाव्य ही है। इसे 'रास' और

---

१. इस ग्रन्थ से कवि आचार्य की काव्य-शिक्षा-पद्धति एवं काव्य-सिद्धान्त सम्बन्धी मान्यताएँ स्पष्ट होती हैं।

२. दे० 'परम्परा', भाग १३, पृ० १६३।

३. राउल माल सुपाट धर कुँव्रर श्री हरराज।
विरची जै सिणगार रस, तास कतूहल काज।।६६५।।

४. दे० (अ) भारतीय प्रेमाख्यान काव्य, पृ० ४४७। (आ) राजस्थान भारती, जनवरी १६४७, पृ० २२। इसके रचना-काल के रूप में सं० १६७७ का उल्लेख भी मिलता है, जो अशुद्ध है। दे० हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची, भाग १, पृ० २१३ (जोधपुर संस्करण)।

५. दे० राजस्थानी हस्तलिखित ग्रन्थ-सूची, भाग १, पृ० ६५।

'वार्ता' आदि नामों से भी पुकारा जाता है। इसमें ७०० कड़ी हैं और इसकी रचना जैसलमेर के रावल हरराज के लिए सं० १६१७ वैशाख सुदि ३, गुरुवार को हुई थी –

गाथा सातसइ अेह प्रमाण, दूहा नइ चउपइ बषाण।
यादव राउल श्री हरिराज, जोड़ी तास कुतूहल काजि।
संवत सोल सय सत्तरोत्तरइ, अषा त्रीजि वार सुर गुरुइ,
जोड़ी जैसलमेर मझारि, सुणतां सुख पामइ संसार।

इसके रचना-काल के रूप में सं० १६१८, सं० १६१६, सं० १६०७ व सं० १६७३ के अन्य प्राप्त उल्लेख[1] अशुद्ध हैं। यह ग्रन्थ काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हो चुका है। इसका एक अन्य संस्करण श्री महावीर सिंह गहलौत ने भी प्रकाशित कराया था। इस रचना की प्राचीन हस्तलिखित प्रति सं० १६५१ वि० की प्राप्त है।[2] ढोला मारू काव्य के चार रूपान्तर मिलते हैं, जिनमें कुशल लाभ वाला संस्करण (जिसमें दूहे और चौपाइयाँ हैं) प्राचीनता की दृष्टि से इसका दूसरा रूपान्तर है।

प्राय: सभी लेखकों ने इस ग्रन्थ को युवराज (कुँ०) हरराज के निमित्त लिखे जाने का उल्लेख किया है, जो सही नहीं है। वस्तुत: इसकी रचना कुँवर हरराज के लिए न होकर, रावल हरराज के लिए हुई थी अर्थात् जब इस ग्रन्थ की रचना हुई, तब कुँवर हरराज अपने पिता के स्थान पर जैसलमेर के 'रावल' बन चुके थे। कवि ने स्पष्ट रूप से 'रावल हरराज' का उल्लेख किया है, कुँ० हरराज का नहीं। अत: माल देव का शासन सं० १६१६ तक ठहरता है, सं० १६१८ तक नहीं।

ढोला-मारवणी विषयक यह काव्य-भाषा एवं भाव, दोनों ही दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है और जनमानस का प्रतिनिधित्व करता है। यह राजस्थानी लोकभाषा का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ है। लोककथात्मक उक्त दोनों रचनाएँ कुशल लाभ की अत्यन्त प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय कृतियाँ हैं, जो हिन्दी-पाठकों के लिए सुपरिचित हैं। ये दोनों रचनाएँ 'काव्य आनन्द महोदधि' में भी प्रकाशित हैं।

उपर्युक्त इन तीन रचनाओं के अतिरिक्त कवि की अन्य रचनाएँ शान्त रसप्रधान धार्मिक कृतियाँ हैं। 'श्री पूज्य वाहण गीत' ६७ छन्दों की रचना है, जिसमें अनेक सरस काव्यात्मक स्थल हैं। इसमें गुरुवाणी का माहात्म्य दर्शाया गया है और यह 'ऐतिहासिक जैन काव्य-संग्रह' में प्रकाशित है।[3] 'जिन पालित जिन रक्षित संधिगाथा' में ८९ गाथा हैं और इसकी रचना सं० १६२१ श्रावण सुदी ५ को हुई थी। 'तेजसार रास' या 'चौपई' की

---

१. दे० (अ) ढोला-मारू-रा दूहा, भूमिका, पृ० १ (काशी ना० प्र० सभा संस्करण); (आ) हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण, प्रथम भाग, पृ० ३८२ (सभा संस्करण); (इ) डा० शकुन्तला दुबे : काव्य-रूपों के मूल स्रोत और उनका विकास, पृ० १०६-१०; (ई) राजस्थानी हस्तलिखित ग्रन्थ-सूची, भाग १, पृ० ३६। इस ग्रन्थ को खोज विवरणों में भूल से किलोल कृत, गादव राय कृत और हरराज कृत माना गया है। उक्त उल्लेख भ्रमात्मक हैं।

२. दे० ढोला-मारू-रा दूहा, प्रस्तावना, पृ० १३, २१० (सभा सं०)।

३. ऐतिहासिक जैन काव्य-संग्रह, २६वाँ गीत, पृ० १९७।

रचना सं० १६२४ में वीरमपुर में हुई थी। इसमें तेजसार के दृष्टान्त से पूजा-पाठ का प्रभाव दर्शाया गया है। इस पर गुजराती भाषा का प्रभाव अधिक है। 'अगड़दत्त चौपई' या 'रास' में २८ कड़ी हैं और वीरमपुर में ही सं० १६२५ कार्तिक सुदी ५, गुरुवार को इसकी रचना हुई थी। 'स्तम्भन पार्श्वनाथ स्तवन' की रचना खंभात में हुई थी और यह प्रकाशित है। 'गौड़ी पार्श्वनाथ स्तवन' पार्श्वनाथ जी की स्तुति में लिखी गयी २३ कड़ी की रचना है। 'नवकार छन्द' में नवकार मन्त्र का माहात्म्य १७ कड़ी में वर्णित है। यह 'जैन काव्य प्रकाश' भाग १ में प्रकाशित है। 'स्थूलिभद्र छत्तीसी' में स्थूलिभद्र की भक्ति के माध्यम से गुरु-भक्ति का उपदेश दिया गया है। अपराध हो जाने पर शिष्य उदार गुरु से क्षमा की आशा करता है। 'शत्रुंजय यात्रा स्तवन' में शत्रुंजय-तीर्थ-यात्रा का माहात्म्य एवं स्तुति वर्णित है। इसका रचना-काल सं० १६४४ वि० है। कवि की एक अन्य रचना 'गुणसुन्दरी चौपई' की सं० १६४८ की प्रति दिगम्बर जैन तेरहपंथी मन्दिर नैणवा में सुरक्षित है।[1]

कुशल लाभ कृत रचनाओं की भाषा गुजराती मिश्रित राजस्थानी है। रचना-शैली सहज और चित्ताकर्षक है। वे वर्णन-वैचित्र्य के द्वारा पाठक के ध्यान को बाँधे रखने में सक्षम हैं। रचनाओं में काव्य की सरसता और भाषा की प्रौढ़ता दर्शनीय है। भाषा भावानुकूल एवं प्रभावशाली है। अलंकारों और छन्दों का यथावसर उत्तम प्रयोग कवि ने अपनी रचनाओं में किया है। उनके ग्रन्थों के अध्ययन से वे श्रृंगार एवं शान्त, दोनों ही रसों के श्रेष्ठ कवि सिद्ध होते हैं।

वाचक कुशल लाभ राजस्थान के प्रख्यात कवियों में अग्रगण्य हैं। गुजराती, राजस्थानी और हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों ने आदरपूर्वक इनका उल्लेख अपने ग्रन्थों में किया है। आचार्य कुशल लाभ के उपलब्ध ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन अपेक्षित है।

२.१० भगवान् हितु रामराय (भगवानदास)

श्रीरामराय प्रभु के अनेक शिष्य थे, जिनमें बारह मुख्य बतलाये जाते हैं। ये सबके सब भक्त कवि थे। वैष्णवददास जी ने अपनी 'भक्तमाल टिप्पणी' के एक कवित्त में रामराय जी के १२ मुख्य शिष्यों के नाम इस प्रकार दिये हैं –

भक्ति भगवान् दास[1] ज्ञान को गरीब दास[2],
बाँकी बैराग विष्णुदास[3] को दिखानो है।
जोग को जुगलदास[4] अन्तर गति राधानाथ[5],
काम कौ किशोर[6] क्रोध केशव[7] को मानो है।
मद को मनोहर[8] लोभ लाखादास[9] मोह मधु[10],
मत्सर हरिदास[11] त्याग तीरथ[12] पिछानो है।
कथा तत्त्व भागवत कीर्तन सुख रामराय,
या विधि सौं बारह गुरु संग लपटानो है।

---

१. दे० राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रन्थ सूची, ५ वाँ भाग, पृ० ४३६।

चैतन्य-सम्प्रदायी ब्रह्मगोपाल जी कृत ब्रजभाषा गद्यरचना 'बारह वैष्णवन की वार्ता'[1] में उक्त कवित्त में उल्लिखित भक्त शिष्यों की वार्ताएँ विस्तार से वर्णित हैं।

इन बारह शिष्यों में भगवानदास रामराय जी के प्रमुख शिष्य थे। ये भगवानदास कौन थे, इस विषय में निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। चैतन्य-सम्प्रदाय की सामग्री के अनुसार वे आमेर के राजा भगवानदास थे, जिन्होंने गोवर्धन में श्रीहरिदेव जी का मन्दिर बनवाया था।[2] वल्लभ सम्प्रदायी 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में भी 'भगवानदास की वार्ता' दी हुई है। उसमें उन्हें आगरा के सूबेदार का दीवान बतलाया गया है।[3] नाभा जी ने अपनी 'भक्तमाल' (छप्पय संख्या १८८) में मथुरा-निवासी एक भगवानदास का उल्लेख किया है, जो श्रीखोजी जी एवं श्याम जी के धाम के अनुचर, भजनानन्दी, भागवत-ज्ञाता भक्तज़न थे। प्रियादास जी ने 'भक्तमाल-टीका' (कवित्त सं० ६२०) में उन्हें तिलक-माला के प्रति निष्ठावान् तथा मथुरा का स्थायी निवासी बतलाया है। उनके आमेर-नरेश होने का उल्लेख न तो नाभादास जी ने किया है और न प्रियादास जी ने। प्रियादास जी ने उनके द्वारा हरिदेव जी के मन्दिर बनवाने की बात अवश्य लिखी है।

आमेर के राजा भगवानदास[4] (शासन-काल सं० १६३० से १६४६) स्थायी रूप से मथुरा, वृन्दावन या गोवर्धन में कभी नहीं रहे। उनका अधिकांश जीवन कश्मीर, गुजरात और पंजाब में सम्राट् अकबर के लिए युद्ध करते हुए बीता था। ये लाहौर के सूबेदार रहे थे। वे राजनीतिज्ञ और वीर पुरुष अवश्य थे; किन्तु रामराय जी के शिष्य भगवानदास की तरह उच्चकोटि के भक्त-कवि नहीं थे। उन्हें राजनीतिक झंझटों से इतना अवकाश कहाँ था कि वे रामराय जी के पास रहकर उनकी वाणी लिखते और स्वयं भी रचना करते ? ऐसा प्रतीत होता है कि ये भगवानदास आमेर-नरेश के समकालीन कोई भक्तजन थे, जिनको नाम-साम्य के कारण भ्रम से आमेर-नरेश लिख दिया गया है।

प्रो० नरेश बंसल का यह अनुमान – "सम्भव है कि जीवन के अन्तिम भाग में सारी सुख-सम्पत्ति त्याग कर वे ब्रज में आ बसे हों और तभी रामराय की प्रेरणा से हरिदेव

१. श्री नरेश बंसल ने अपने लेख 'श्रीरामरायप्रभु और उनके द्वादश शिष्य' (सम्मेलन-पत्रिका, भाग ४७, अंक ३, पृ० ५१) में उक्त वार्ता का रचना-काल सं० १८७७ लिखा है। श्री प्रभुदयाल मीतल ने अपनी पुस्तक 'चैतन्य मत और ब्रज-साहित्य' में एक स्थान पर (पृ० १६७) र० काल सं० १८०७ तथा दूसरे स्थान पर (पृ० ३०६) सं० १८२७ के लगभग लिखा है। ब्रह्मगोपाल जी का जन्म सं० १८०१ में माना गया है। (दे० पृ० ३०४ तथा ३३७) इस दृष्टि से उक्त वार्ता का रचना-काल सं० १८२७ के लगभग ही माना जा सकता है, सं० १८०७ नहीं।

२. 'बारह वैष्णवन की वार्ता' तथा 'आदि वाणी' और 'गीतगोविन्द पद भाषा' की भूमिकाएँ।

३. 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' तृतीय खण्ड, पृ० ३६६

४. भारमल का उत्तराधिकारी, आमेर का राजा, भगवानदास था या भगवन्तदास, यह इतिहास की एक समस्या है। भगवन्तदास तथा भगवानदास दोनों भारमल के पुत्र थे। राजा भारमल के पश्चात् आमेर के राजा भगवन्तदास हुए थे, न कि भगवानदास। मैंने अपने 'राजा भगवन्तदास और भगवानदास की समस्या' शीर्षक लेख में पुष्ट प्रमाणों से यह सिद्ध किया है। दे० 'शोध-पत्रिका', वर्ष १६, अंक १, पृ० ३२-३७। अतः भगवानदास को आमेर का राजा लिखना इतिहास-विरुद्ध है। फिर भी प्रचलित नाम को ही अपनाया गया है।

जी का मन्दिर निर्माण कराया हो।''[1] इतिहास-विरुद्ध है। इतिहास से सिद्ध है कि भगवानदास जी का अन्तिम समय पंजाब में ही बीता और लाहौर में ही उनका देहान्त हुआ।[2]

श्री मीतल जी[3] तथा श्री बंसल जी का यह कथन कि गोवर्धन में श्री हरिदेव जी के मन्दिर का निर्माण आमेर के राजा भगवानदास जी ने ही कराया था, प्रमाण-पुष्ट नहीं है। अभी तक कोई ऐसा प्रमाण प्रकाश में नहीं आया, जिससे उपर्युक्त कथन की पुष्टि हो सके। श्री बंसल जी को यह भी ज्ञात होना चाहिए कि ब्रज के अनेक विशाल मन्दिरों का निर्माण राजेतर व्यक्तियों ने कराया है। इसी प्रकार हरिदेव जी के मन्दिर को किसी धनाढ्य, भक्त भगवानदास ने बनवाया हो, तो इसमें सन्देह क्या है। यदि किसी प्रमाण से यह सिद्ध हो भी जाए कि हरिदेव जी का मन्दिर आमेराधिपति भगवानदास ने ही बनवाया था, तो उससे यह प्रमाणित नहीं होगा कि वे स्थायी रूप से ब्रज (मथुरा, वृन्दावन आदि) में रहा करते थे। अतः प्रमाणाभाव में यह स्वीकार कर लेना कि श्रीरामराय जी के शिष्य भगवानदास ही थे, उपयुक्त नहीं है।

मिश्रबन्धुओं ने मथुरा-निवासी एक भगवानदास का उल्लेख ११८ संख्या पर किया है, जिनका जन्म १५९० और रचना-काल सं० १६१५ वि० लिखा गया है। 'राग सागरोद्भव' (राग कल्पद्रुम) में उनके पदों का होना भी लिखा है। इन भगवानदास के विषय में यह अनुमान किया जा सकता है कि आमेर-नरेश भगवानदास के समकालीन होने से ये, रामराय जी के शिष्य भगवानदास भी हो सकते हैं।[4]

'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार भगवानदास जी गौड़ीय सम्प्रदायी और श्रीगोविन्ददेव जी के सेवक थे। साथ ही यह भी लिखा गया है कि वे बाद में रामराय जी की प्रेरणा से वल्लभ-सम्प्रदायी हो गये थे। वार्ता से यह भी ज्ञात होता है कि रामराय जी भगवानदास के पुरोहित थे, गुरु नहीं।[5] उनके आरम्भिक गुरु गोविन्ददेव जी के सेवक कोई गौड़ीय महात्मा थे। बाद में उन्होंने गो० विट्ठलनाथ जी से वल्लभ-सम्प्रदाय की दीक्षा ली थी।[6]

भगवानदास प्रणीत अनेक स्फुट पद मिलते हैं। प्रायः इन्होंने अपने पदों में अपने गुरुदेव रामराय जी का नाम स्मरण किया है। वल्लभ तथा गौड़ीय सम्प्रदाय की प्राचीन हस्तलिखित कीर्तन-पोथियों में 'भगवान् हितु रामराय' की छाप से इनके अनेक पद संगृहीत हैं। वार्ता के अनुसार इस छाप के समस्त पद भगवानदास कृत हैं।

---

१. सम्मेलन-पत्रिका, भाग ४७, अंक ३, पृ० ५२।
२. मआसिरुल् उमरा अर्थात् मुगल-दरबार, भाग १, पृ० २५३-२५६।
३. चैतन्य मत और ब्रज-साहित्य, पृ० १६८।
४. मिश्रबन्धु विनोद, प्रथम भाग, पृ० ३१८ (द्वि०सं०)।
५. श्री बंसल जी ने अपने लेख में वार्ता के आधार पर भगवानदास जी को रामराय सारस्वत का शिष्य होना लिखा है, जो अशुद्ध है। वार्ता में रामराय जी को भगवानदास का पुरोहित बतलाया गया है, गुरु नहीं। सम्मेलन-पत्रिका, भाग ४७, अंक ३, पृ० ५२।
६. दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, तृतीय खण्ड, पृ० ३६६-३७३।

वल्लभ-सम्प्रदायी कवि अपनी रचनाओं में अपने नाम के साथ अपने इष्टदेव अथवा गुरु के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति का नाम नहीं लगाते थे। यदि भगवानदास गो० विट्ठलनाथ जी के शिष्य होते, तो वे रामराय जी की अपेक्षा विट्ठलनाथ जी का नाम अपनी रचनाओं में रखते। ऐसा न होने से वार्ता का कथन मान्य नहीं हो सकता। केवल इस आधार पर कि उनके पद वल्लभ-सम्प्रदायी कीर्तन-पोथियों में संकलित हैं, उन्हें वल्लभ-सम्प्रदायी सिद्ध नहीं करता। उन वल्लभ-सम्प्रदायी कीर्तन-पोथियों में अनेक विभिन्न सम्प्रदायी भक्तों के पद बिना किसी साम्प्रदायिक आग्रह के संगृहीत हैं। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि भगवानदास सदैव चैतन्य-मत के ही अनुयायी रहे थे। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' का उल्लेख साम्प्रदायिक रंग में रँगा हुआ प्रतीत होता है।

श्रीरामराय जी अकबर के समकालीन थे। अत: यही समय इनके शिष्य इन भगवानदास का भी है। ये बड़े ही गुरु-भक्त थे। नागरीदास जी कृत 'पद प्रसंगमाला' में 'भगवान हित रामराय' और 'सखी भगवान्' नामक दो भक्तों के पृथक्-पृथक् प्रसंग लिखे गये हैं, किन्तु वे इन एक ही भगवानदास से सम्बन्धित ज्ञात होते हैं। 'राग कल्पद्रुम' की वर्णानुक्रमिक सूची में 'भगवान हित रामराय' और 'रामराय' के अलग-अलग उल्लेख हैं, किन्तु उसमें मुद्रित पद एक ही कवि की रचनाएँ हैं, जो 'वार्ता' के अनुसार इन भगवानदास के हो सकते हैं। इसकी पुष्टि में 'पद प्रसंगमाला' का वह पद दिया जा सकता है[१], जिसमें 'भगवान हित रामराय' की छाप है; किन्तु उसे 'भगवान सखी' नामक अन्य वैष्णव की रचना बतलया गया है। उनके विषय में लिखा गया है कि ये वृन्दावन में रहकर कीर्तन किया करते थे और किसी से धार्मिक विवाद नहीं करते थे।

नागरीदास जी के कथन से ज्ञात होता है कि भक्तवर भगवानदास ने तंबूरे पर पद का गायन करते हुए अपना शरीर त्यागा था। उक्त पद 'पद प्रसंगमाला' के अतिरिक्त 'रागकल्पद्रुम' में भी मिलता है[२], किन्तु दोनों के पाठ में साधारण-सा अन्तर है।

भगवानदास कृत अनेक स्फुट पद प्राप्त होते हैं, जिनमें इनकी 'भगवान हितु रामराय' और 'भगवानदास' दोनों छाप मिलती हैं। इनमें प्रथम छाप के पदों का आधिक्य है और वे सुन्दर भी अधिक हैं। कुछ लोगों ने भ्रमवश भगवानदास की रचनाओं को 'भगवान हितुरामराय' की छाप से रामराय का मान लिया है। 'आदि वाणी' तथा 'गीतगोविन्द भाषा' नामक रामराय जी की कृतियों में भी इसके कुछ पद उपलब्ध होते हैं, जिन्हें रामराय की कृति के रूप में छापा गया है, किन्तु जैसा पहले भी लिखा जा चुका है, ये पद भगवानदास जी के ही हैं। 'आदि वाणी' में उनके दस पद और 'गीत गोविन्द भाषा' में छह पद हैं। इनके अतिरिक्त 'वार्ता', 'पद प्रसंगमाला', 'राग कल्पद्रुम' और 'कीर्तन-संग्रहों' में भी

---

१. और कोऊ समझै सो समझौ, हमकों इतनी समझ भली।

....

कहै 'भगवान हित रामराय' प्रभु, सबतें इनकी कृपा भली।

नागर समुच्चय, पृ० २३२, (चैतन्य-मत और ब्रजसाहित्य, पृ० १६६ पर उद्धृत)।

२. नागर समुच्चय, पद प्रसंगमाला, पृ० २२६ तथा राग कल्पद्रुम, भाग २, पृ० १७०।

उनके पद प्राप्त होते हैं। इस प्रकार उनके उपलब्ध पदों की संख्या सौ के लगभग है। सभी पद भक्ति-भावना और माधुर्य-रस से ओत:प्रोत हैं। ये ब्रजभाषा के श्रेष्ठ पदकर्ता थे। उनके ब्रजभाषा पदों में कुछ पंजाबी भाषा के पद भी मिले हैं।

स्फुट पदों के अतिरिक्त खोज में इनके निम्नलिखित ग्रन्थ भी प्राप्त हुए हैं –

(१) प्रेम पदारथ[१] – इस ग्रन्थ के इस छन्द से कवि के नाम का रहस्य-भेद होता है–

जाको भावे यह कथा, सोई पुरुष पुरान।
रामराय के हेत जानि के, कहे दास भगवान॥

यह ग्रन्थ काशी नागरी प्रचारिणी सभा के आर्यभाषा पुस्तकालय में सुरक्षित है। प्रमाद से डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने 'योग प्रवाह' (पृ० ४६४) में तथा श्री परशुराम चतुर्वेदी ने 'उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा' (पृ० ४६८, प्र०सं०) में इसे भगवानदास निरंजनी की रचना समझ लिया है।

राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, प्रथम भाग में ६४ संख्या पर 'मनोरथ-वल्लरी' नामक एक रचना का विवरण मुद्रित है, जिसे रामराय की कृति लिखा गया है। इस रचना में भी 'भगवान हितु रामराय' की छाप है। इस छाप के कारण डा० मोतीलाल जी मेनारिया ने भी भ्रम से इसे रामराय कृत मान लिया है। वस्तुत: यह भगवानदास जी की कृति है। यह स्वतन्त्र रचना भी नहीं है। 'प्रेम पदारथ' के उद्धरणों से मिलाने पर यह भेद खुल जाता है। दोनों ग्रन्थ एक ही हैं। 'प्रेम पदारथ' को ही 'मनोरथ वल्लरी' नाम दे दिया गया है। उक्त खोज-रिपोर्ट में यह 'मनोरथ वल्लरी' नाम किस आधार पर दिया गया है, इस सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं जा सकता, क्योंकि उसमें पुष्पिका का अभाव है।

(२) रुक्मिणी मंगल[२] – इस ग्रन्थ में भी ऐसी दो पंक्तियाँ हैं, जिनसे पता चलता है कि यह इन्हीं भगवानदास की रचना है –

ते धन्य सब विधि रुकमनी (रुक्मिणी) मंगल तनमै गावहीं।
श्रीरामराय गिरिधरन भज भगवान प्रभु मन भावहीं॥

(३) प्रह्लाद चरित[३] – इसमें भी ऐसी दो पंक्तियाँ हैं –

भक्त बछल गुन रूप निधाना।
राम राइ हित कहे भगवाना॥

उपर्युक्त ग्रन्थों के प्राप्त होने से प्रो० नरेश बंसल का यह कथन कि इनका कोई ग्रन्थ विशेष नहीं मिलता[४], निरर्थक हो जाता है। अब भगवानदास जी कृत 'फुटकर पद तथा ग्रन्थ' दोनों प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं।

भगवानदास जी की उपलब्ध रचनाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि इनकी रचनाएँ भाषा और भाव दोनों ही दृष्टि से उच्चकोटि की हैं। उनमें परिमार्जित भाषा के

---

१. खोज-रिपोर्ट, सन् १९४१-४३ ई०सं० १६७।
२. खोज-रिपोर्ट, सन् १९४४-४६ ई०सं० २५२ (क)।
३. खोज-रिपोर्ट, सन् १९४४-४६ ई०सं० २५२ (ख)।
४. सम्मेलन-पत्रिका, भाग ४७, अंक ३, पृ० ५२।

दर्शन होते हैं। वे रामरायजी के समान ही उत्तम वाणीकार ठहरते हैं। उनकी रचनाएँ ब्रजभाषा-साहित्य की निधि कही जा सकती हैं।

भक्त प्रवर भगवानदास जी ने अत्यन्त गुरुनिष्ठ होने के कारण अपनी लगभग सभी रचनाएँ श्रद्धांजलि-स्वरूप अपने गुरु रामराय जी को अर्पित कर रखी हैं।

२.११ कवयित्री ताज की समस्या

हिन्दी-साहित्य के मध्यकाल में भक्ति की जो धारा प्रवाहित हुई, उसमें हिन्दू तो सराबोर हुए ही, साथ ही अनेक सहृदय मुसलमान भी उस धारा के प्रभाव से न बच सके। कितने ही ऐसे मुसलमान अपना सब कुछ त्याग कर केवल भगवान् की भक्ति में लीन रहे। ब्रजभाषा-साहित्य में श्रीकृष्ण की भक्ति से सराबोर जिन मुसलमान कवियों की प्रसिद्धि है, उनमें 'ताज' का स्थान अति उच्च है।

दुर्भाग्यवश अन्य कवियों के समान ही ताज का जीवनवृत्त भी अंधकारमय है। उनका जीवन-वृत्त इधर-उधर की अनेक जनश्रुतियों पर आधारित है। कोई भी प्रामाणिक सामग्री ऐसी उपलब्ध नहीं है, जिसके आधार पर उनका क्रमबद्ध जीवनवृत्त निश्चित किया जा सके।

इधर ताज से सम्बन्धित दो लेख मेरे अवलोकन में आए – प्रथम लेख १० जनवरी १९५४ के 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में प्रकाशित श्री रामनारायण अग्रवाल का 'ताज, उनका काव्य और व्यक्तित्व।' दूसरा ब्रजभारती, वर्ष १३, अंक २ में प्रकाशित श्री अगरचन्द जी नाहटा का 'कवयित्री ताजरचित एक महत्त्वपूर्ण अज्ञात ग्रन्थ'। (बाद में ताज-विषयक और भी कई लेख प्रकाश में आए हैं।)

दोनों महानुभावों ने अपने-अपने लेख में ताज की जीवनी पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है, जिसके द्वारा ताज की एक आनुमानिक जीवनी कुछ निश्चित-सी होती है।

श्री अग्रवाल ने श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी की प्रकाशित सूचनाओं के आधार पर प्रकाश डाला है, जिसमें 'भाव-सिन्धु'[1] नामक एक ग्रन्थ को आधार बनाया गया है। पुष्टि-सम्प्रदाय में ताज की साढ़े बारह धमार मान्य हैं, जो प्रायः उक्त सम्प्रदाय के मन्दिरों में गायी जाती हैं। ताज की ये धमार सम्प्रदाय में मान्य होने के कारण यह अवश्य निश्चित होता है कि वल्लभ-सम्प्रदाय से उसका कुछ-न-कुछ सम्बन्ध अवश्य था।

श्री नाहटा ने 'राजस्थानी' के १९४० अप्रैल मास के अंक (वर्ष ३, अंक ४) में पं० झाबरमल शर्मा के 'कायमखानी नवाब अलप खाँ और उसकी हिन्दी कविता' नामक प्रकाशित लेख के आधार पर प्रकाश डाला है। इसकी पुष्टि जान कवि द्वारा रचित 'क्याम खाँ रासा' से की गयी है।

---

१. 'भाव-सिन्धु' की अन्तिम वार्ता – 'ताज बीबी की वार्ता' में इनका विस्तृत उल्लेख है और इसके अलावा 'श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' में इनका संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

'भाव-सिन्धु' तथा 'श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' से हमें यह ज्ञात होता है कि ताज अकबर की पत्नी थी, अर्थात् दोनों ग्रन्थों में ताज को अकबर की बेगम लिखा गया है। 'श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' में ताज को अलीखान पठान की बेटी बतलाया गया है।[1] पं० झाबरमल शर्मा ने कायम खानी नवाब फंदन खाँ की पुत्री 'ताज' का उल्लेख किया है। नाहटा जी ने 'क्याम खाँ रासा' से उद्धरण देकर फंदन खाँ की एक पुत्री का अकबर से विवाह होने का उल्लेख किया है।[2] सम्भव है, यह ताज ही हो, क्योंकि 'रासा' में ताज का नामोल्लेख नहीं है। क्याम खाँ रासा से इस घटना का अकबर के शासन-काल के प्रारम्भ में ही होना प्रतीत होता है।

अकबर सं० १६१३ में गद्दी पर बैठा, जबकि उसकी आयु १४ वर्ष के लगभग थी। सं० १६१७ में उसने सब राजकाज अपने हाथ में ले लिया था। अत: इस घटना का सं० १६२० के आस-पास होना प्रतीत होता है। ताज के स्वयं के एक प्रसिद्ध पद से भी उसका मुगलानी होना प्रकट होता है।

'हौं तो मुगलानी, हिन्दुवानी ह्वै रहूँगी मैं।'

आगे 'भाव-सिन्धु' के उद्धरणों से हमें पता चलता है कि ताज की बीरबल की पुत्री शोभावती एवं राय वृन्दावनदास जी की पुत्री से बड़ी प्रीति थी। बीरबल के परिवार का गो० विट्ठलनाथ जी से निकट सम्पर्क था। अत: इन्हीं के संसर्ग में आकर वह कृष्ण के प्रति आकृष्ट हुई थी और सम्राट् को वश में करने के लिए उसने इन्हीं के द्वारा गो० विट्ठलनाथ जी से ताबीज मँगाकर गले में बाँधा था। सौतों के कहने-सुनने पर बादशाह ने स्वयं अपनी उपस्थिति में ताबीज को खुलवाया था और उसमें लिखे हुए दोहे से प्रभावित होकर ताज के प्रति उसका स्नेह और भी बढ़ गया था। साथ ही गो० विट्ठलनाथ जी के प्रति भी उसके हृदय में श्रद्धा एवं भक्ति का भाव उत्पन्न हो गया था।

इसके बाद ताज को अकबर की अनुमति मिल जाने पर गो० विट्ठलनाथ जी ने स्वयं जाकर दीक्षा दी थी। तत्पश्चात् एक बार अकबर के साथ ताज श्रीनाथ जी के दर्शनार्थ गोवर्धन गयी थी और वहीं उसकी मृत्यु हो गयी थी।[3]

अकबर के मथुरा-वृन्दावनादि जाने के समय में विद्वानों का मतभेद है। मथुरा गजेटियर में अकबर का सं० १६२७ में वृन्दावन के गोस्वामियों से भेंट करने का उल्लेख

---

१. अली खान अकबर के शासन में वन-विभाग का एक साधारण हाकिम था। अत: उसकी पुत्री का वैवाहिक संबंध सम्राट् से होने की बात असंगत ही लगती है। इस अली खान पठान की वार्ता 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में सं० ३७ पर दी गयी है। उसमें उसकी पुत्री का नाम 'पीरजादी' लिखा है, ताज बीबी नहीं और न अकबर से उसके विवाह होने की बात ही लिखी गयी है। अत: ये सब उल्लेख संदिग्ध ही हैं।

२. कायमखानी नवाब ताज खाँ की बहिन ताज को 'वार्ताओं' की 'ताज बीबी' से मिलाने की बात अनुमानजन्य ही है, तथापि उसका अकबर की बेगम होना 'श्री गो०ना० के प्रा० की वार्ता' वाले कथन से अधिक संगत है।

३. 'भावसिन्धु' तथा 'श्री गो०ना० के प्राकट्य की वार्ता' अर्थात् दोनों ग्रंन्थों में ताज के देहावसान का स्थान श्री गिरिराज की तलेहटी गोवर्धन लिखा है।

है।[1] अतः इसी समय उक्त घटना का होना प्रतीत होता है। यद्यपि इस प्रकार इन सूत्रों द्वारा ताज के जीवन की यह छोटी-सी रूपरेखा तैयार होती है, किन्तु तथ्यात्मक दृष्टि से यह विचारणीय है।

'भाव-सिन्धु' (पृ० ३०८) में लिखा है कि ताज ने आगरा में गोकुलपुरा मुहल्ला बसाया था। उक्त मुहल्ला अब भी आगरा में है, जहाँ गुजराती नागर ब्राह्मणों की पुरानी बस्ती है। मथुरा में गो० विट्ठलनाथ जी के निवास-स्थान के कारण जिस मुहल्ले का नाम 'सतघरा' पड़ा, उसी के पास का मुहल्ला 'ताजपुरा' कहलाता है। पता नहीं, यह नाम गुसाईं जी की सेविका 'ताज' के नाम पर पड़ा है अथवा किसी अन्य व्यक्ति के नाम से उसका सम्बन्ध है। (आगरा में भी 'ताज गंज' मुहल्ला है।) उक्त उल्लेख जान श्रुतिक ही प्रतीत होते हैं, क्योंकि इनकी पुष्टि में कोई प्रमाण नहीं मिलता।

गोकुल-महावन के मध्य रमणरेती में एक पुरानी कब्र है, जिसे ताज की कब्र कहा जाता है। उस कब्र के पत्थर पर फारसी लिपि में एक लेख है, जो घिस जाने के कारण ठीक से नहीं पढ़ा जाता है। वैसे उसका कुछ अंश इस प्रकार पढ़ा गया है – 'मरहूमी सैयद शाह ताज बातारीख शशम........शाह आजम.........१०६६ हिजरी।' इस प्रकार यह कब्र अकबर की बेगम भक्त कवयित्री ताज की न होकर किसी मुसलमान राज्याधिकारी सैयद शाह ताज की मालूम होती है। उसकी मृत्यु शाह आजम के काल में हि० सन् १०६६ (सं० १७१८) में हुई थी।

'वार्ता' के अनुसार ताज का देहान्त गिरिराज की तलहटी में हुआ था, अतः उसकी कब्र या समाधि गोपालपुर गोवर्धन में होनी चाहिए थी, किन्तु वहाँ पर ताज से सम्बन्धित कोई स्मृति-चिह्न नहीं है।

ताज के पदों पर विचार करने से एक पद से कई शंकाएँ होती हैं। उन्होंने स्वयं एक कवित्त में अपने कुछ पूर्ववर्ती तथा समकालीन भक्तकवियों का नामोल्लेख किया है। ताज का वह कवित्त इस प्रकार है –

दुख से प्रह्लाद गजग्राह से अहिल्या देखि,
स्योरी और गीध यौं विभीषन जिन तारे हैं।
पापी अजामिल, सूर, तुलसी, रैदास कहूँ,
नानक, मलूक, 'ताज' हरि ही के प्यारे हैं॥
धनी, नामदेव, दादू, सदना कसाई जानि,
गनिका, कबीर, मीरा, सैंन उर धारे हैं।
जगत को जीवन जहान बीच नाम सुन्यो,
राधा के वल्लभ कृष्ण वल्लभ हमारे हैं॥

इस कवित्त में ताज ने कुछ भक्तों का उल्लेख किया है, जिनमें 'मलूकदास' का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। यह प्रसिद्ध ही है कि मलूकदास जी का जन्म स० १६३१ में हुआ था।[2]

---

१. दे० मथुरा गजेटियर, पृ० १६१।

२. दे० हिन्दी साहित्य का इतिहास (पं० रामचन्द्र शुक्ल कृत), पृ० ६०।

२०-२२ वर्ष की आयु के पश्चात् एक भक्त के रूप में उनकी प्रसिद्धि फैलनी प्रारम्भ हुई होगी। कुछ लोगों के विचार में ये 'मलूक' मलूक-पंथ के प्रवर्तक न होकर सम्भवतः कबीर के शिष्य मलूकदास हैं, किन्तु उनका ऐसा विचार सही नहीं है, क्योंकि 'मलूक' नामधारी एक ही भक्त कवि हुए हैं, जो मलूक पंथ के प्रवर्तक थे, कई नहीं। कबीर के मलूक नामक कोई शिष्य नहीं हुए। अतः उनका विचार भ्रमात्मक है।[1] साथ ही इसमें सन्त 'दादू' का भी उल्लेख हुआ है। इनका जन्म सं० १६०१ में और देहान्त सं० १६६० में हुआ था। सन्त-रूप में इनकी प्रसिद्धि सं० १६४० के लगभग हुई थी, अतः इसके बाद ही इनका उल्लेख सम्भव है।[2]

'शिवसिंह सरोज' में ताज को सं० १६५२ में 'उ०' लिखा है।[3] यह 'उ०' उपस्थिति-काल है अर्थात् सं० १६५२ ताज का रचना-काल है। ताज गो० विट्ठलनाथ जी की शिष्या थीं। उसने यह शिष्यत्व सं० १६४२ के पूर्व लिया होगा, क्योंकि यही गोस्वामी जी का निधन-काल है।

ताज के कुछ पदों में 'कवि ताज' शब्द का प्रयोग हुआ है। यथा –

जो तुम सो 'कविताज' कहै तुक चारहि आदि के अच्छर दीजो।
कहै 'कविताज' मित्त मनिय हमारी किधौं,
नैननि ते देखूँ जब नैननि में चैन है।

इस प्रकार के प्रयोगों को देखने से सन्देह होता है कि 'ताज' स्त्री नहीं, प्रत्युत पुरुष थे। श्री नाहटा जी को भी पहले यह सन्देह हुआ था। 'सरोज' में इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया है। सम्भवतः सरोजकार इन्हें पुरुष ही समझते थे। 'हिन्दी के मुसलमान कवि' (पृ० १६१) नामक पुस्तक में श्री गंगाप्रसाद अखौरी ने कवि गोविन्द गिल्ला भाई को आगे रखकर इन्हें पुरुष लिखा है, किन्तु गोविन्द गिल्ला भाई ताज को स्त्री ही मानते थे। निर्मल जी को लिखे गये उनके एक पत्र से यह स्पष्ट है।[4] और फिर अब तो 'ताज' को अकबर की बेगम मान लिया गया है, अतः यह प्रश्न ही नहीं रह जाता।

उपर्युक्त समस्त बातों पर दृष्टिपात करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि 'ताज' का समय अकबर के शासन-काल (सं० १६१३-१६६२ वि०) में ही पड़ता है। सम्भव है, वह अकबर की पत्नी रही हो, जैसा 'वार्ता' ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है। उसी के आधार पर हम कह सकते हैं कि 'ताज' विट्ठलनाथ जी की शिष्या थी और उसने यह शिष्यत्व सं० १६४२ के पूर्व किसी समय स्वीकार किया होगा, क्योंकि उक्त सम्वत् गोस्वामी जी का देहावसान-काल है। सम्भव है, उसने यह शिष्यत्व २० वर्ष की उम्र में ग्रहण किया हो। इस दृष्टि से उसका जन्म-काल सं० १६१५ के लगभग माना जा सकता है

---

१. दे० हिन्दुस्तानी, भा० ३३, अंक १ में डा० किशोरीलाल गुप्त का लेख – 'मलूकदास : तीन नहीं एक'; पृ० १२६-१३६।

२. दे० उत्तर भारत के निर्गुण पंथ का इतिहास (डा० विष्णुदत्त राकेश), पृ० १६२।

३. दे० 'सरोज', क०सं० ३२५।२७०।

४. दे० मध्यकालीन हिन्दी-कवयित्रियाँ (डा० सावित्री सिन्हा), पृ० १८६-१८७।

और अकबर से विवाह का समय सं० १६३० के आस-पास अनुमान कर सकते हैं।

'ताज' का देहान्त न गो० जी के सामने हुआ और न अकबर के सामने। वह बाद तक जीवित रही। उसका रचना-काल सं० १६५० है, जैसा उसके एक पद में आए हुए 'दादू' एवं 'मलूकदास' के नामों से जान पड़ता है। 'सरोज' में दिया सं० १६५२ उसका उपस्थिति-काल है। मुंशी देवीप्रसाद जी ने उसका समय सं० १७०० का उल्लेख किया है, जो अधिक प्रतीत होता है। सम्भवत: उसका देहान्त सं० १६८५ के लगभग ७० वर्ष की अवस्था में हुआ हो; ऐसा माना जा सकता है, जो उपयुक्त ही है।

इस प्रकार एक ही ताज की स्थिति सम्भव है और वह स्त्री कवयित्री थी। ताज ने कवित्त, सवैया, दोहा, पद एवं धमार प्रचुर मात्रा में लिखे हैं। उनकी साढ़े बारह धमार वल्लभ-सम्प्रदाय में मान्य हैं और वे इस सम्प्रदाय के मन्दिरों में गायी जाती हैं। अब इनका 'बीबी-बांदी का झगरा' नामक एक ग्रन्थ भी उपलब्ध है, जिसमें लोकोक्तियों का प्रयोग प्रचुरता से हुआ है।

ताज की कविता सरस एवं मनोहर है। वे परम वैष्णव एवं श्रीकृष्ण-भक्त थीं। इनके प्रेमालम्बन 'श्रीकृष्ण' हैं और वे कृष्ण के भावात्मक प्रेम में विभोर हैं। उनकी प्रेमानुभूति में तीव्रता है। ताज अत्यन्त भावुक कवयित्री थीं, जैसा उनकी रचनाओं से स्वत: प्रकट है। कृष्णकाव्य-धारा की लोकप्रिय कवयित्रियों में 'मीराँ' के बाद 'ताज' कवयित्री का ही नाम आता है।

ताज की कविता की भाषा भी विचारणीय है। इनकी भाषा के दो रूप मिलते हैं – एक पंजाबी-मिश्रित ब्रजभाषा और दूसरी साधारण ब्रजभाषा। पंजाबी-मिश्रित ब्रजभाषा में पंजाबी शब्दों के प्राचुर्य के कारण मिश्रबन्धुओं के विचार में ये पंजाब के तरफ की थीं।[१]

आज तक इनकी केवल फुटकर रचनाएँ ही मिलती थीं, परन्तु अब श्री अगरचन्द जी नाहटा की कृपा से इनका एक ग्रन्थ 'बीबी-बांदी का झगरा' भी प्राप्त हो गया है, किन्तु इस पर यह आपत्ति की जाती है कि वह एक भक्त कवयित्री की रचना होना सम्भव नहीं मालूम होता। यह ताज नामक किसी अन्य कवयित्री की रचना प्रतीत होती है, किन्तु नाहटा जी के अनुसार यह भक्त-कवयित्री ताज के ही आरम्भिक जीवन की कृति है और कृष्ण-भक्ति वाली प्रौढ़ रचना उसके उत्तर जीवन की है। यह वय-भेद और रुचि-भेद है। लगता है, उसने भक्ति-सम्प्रदाय में आने से पूर्व इसे लिखा है। सम्भव है, राजमहल के जीवन से उसे ऐसी कृति रचने की प्रेरणा मिली हो। इस ग्रन्थ में लोकोक्तियों का प्रयोग-बाहुल्य है।[२]

श्री गोविन्द गिल्ला भाई को ताज की रचनाओं की एक पुस्तक मिली थी, जिसमें निम्नलिखित विषयों पर कविताएँ हैं – (१) गणेष-स्तुति, (२) सरस्वती-समाराधन, (३) भवानी-वन्दना, (४) हरदेव जी की प्रार्थना, (५) मुरलीधर के कवित्त, (६) दशावतार वर्णन, (७) निरोष्ठ कवित्त, (८) होरी-फाग, (६) बारहमासा छप्पय में (१०) बारहमासा

१. दे० मिश्रबंधुविनोद, भाग-२, पृ० ४१७, कवि सं० २६७।
२. दे० व्रजभारती, वर्ष १४, अंक २, पृ० ३३।

कवित्त में, (११) बारहमासा कुंडलियों में, (१२) भक्ति-पक्ष के कवित्त, (१३) फुटकर।

भाई जी ने लिखा है कि ताज की दो सौ कविता मेरे हाथ की लिखी हुई मेरे निजी संग्रह (पुस्तकालय) में हैं। ताज के नाम से उपलब्ध उक्त रचनाओं के सम्बन्ध में डा० प्रभुदयाल मीतल का विचार है कि ताज के नाम से उपलब्ध सभी रचनाओं को एक ही भक्त कवयित्री की रचना समझना उचित न होगा, क्योंकि इन सबके विषय और रचना-काल में इतनी भिन्नता है कि उन सबको एक ही ताज की रचना समझना सम्भव नहीं है। वास्तव में वल्लभ-सम्प्रदायी ताज की प्रामाणिक रचनाएँ वही हैं, जो इस सम्प्रदाय में प्रचलित हैं।[1]

मीतल जी की उक्त सम्भावना के सम्बन्ध में इतना ही निवेदन है कि उनके द्वारा इंगित धमार व कवित्त आदि गिल्ला भाई द्वारा संगृहीत ताज की रचनाओं में मिलते हैं। इससे अनुमान होता है कि वे सभी कविताएँ भी इन्हीं ताज की हैं। 'बीबी-बांदी का झगरा' को ताजकृत मानने में इसलिए कोई अड़चन नहीं है, क्योंकि वह उसके आरम्भिक जीवन की रचना है।

२.१२ कवि पुहकर-कृत 'रसरतन' का रचनाकाल

पुहकर कवि का 'रसरतन' प्रकाशित रूप में सर्वप्रथम हिन्दी-सेवियों के सम्मुख संवत् २०२० वि० में उपस्थित हुआ। डा० शिवप्रसाद सिंह द्वारा सम्पादित होकर, काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा से, नागरी-प्रचारिणी-ग्रन्थमाला के ५५वें पुष्प के रूप में, अद्यावधि अविज्ञप्त 'रसवेलि' के अंशों-सहित, इस अप्रकाशित कृति 'रसरतन' का प्रकाशन हुआ है। इस सम्पादित ग्रन्थ में पुहकर कवि के प्रेमाख्यानक काव्य 'रसरतन' का पूर्ण और रस-निरूपण तथा नायिका-भेद-विषयक 'रसवेलि' के कुछ अंशों का मूल पाठ तथा समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

'रसरतन' कवि की गौरवास्पद कृति है। हिन्दी-काव्य-परम्परा की एक विलुप्त कड़ी को प्रकाशित करने में यह रचना अपना मौलिक महत्त्व रखती है। हिन्दी-प्रेमाख्यानक-साहित्यान्तर्गत यह ग्रन्थ शुद्ध रूप से और पूर्णतः भारतीय (हिन्दू) प्रेमाख्यानक वर्ग में आता है। जहाँ यह ग्रन्थ एक ओर सूफी प्रेमाख्यानक के स्पष्ट प्रभाव को प्रकट करता है, वहीं यह भारतीय प्रेमाख्यानकों के वस्तु-गठन और रचना-कौशल पर नया प्रकाश भी डालता है। 'रसरतन' का महत्त्व केवल इसीलिए नहीं है कि वह एक शुद्ध प्रेमाख्यानक काव्य है, अपितु उसके वस्तुतत्त्व और काव्यरूप का अध्ययन मध्ययुगीन हिन्दी-काव्य की अनेक समस्याओं को सुलझाने में भी सहायक है। वस्तुतः यह रचना अपने युग के काव्य की प्रतिनिधि रचना है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में इस ग्रन्थ के विशेष महत्त्व की ओर संकेत करते हुए लिखा था कि "हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों में इसका विशिष्ट स्थान

१. दे० सरस्वती, जुलाई १९६५, पृ० ३८।

होना चाहिए।"[1] शुक्ल जी की तत्त्वदर्शी और सूक्ष्मालोक दृष्टि ने यद्यपि 'रसरतन' के साहित्यिक पक्ष के महत्त्व की ओर साहित्यिकों का ध्यान आकृष्ट किया था, किन्तु स्यात् ग्रन्थाभाव के कारण ही हिन्दी-साहित्य के विद्वान् इस ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दे पाये।

विलम्ब से ही सही, अब यह ग्रन्थ, जहाँ तक सामग्री उपलब्ध हो सकी, वहाँ तक वैज्ञानिक ढंग से सम्पादित होकर तथा समीक्षापूर्ण और शोधात्मक विस्तृत भूमिका से समन्वित होकर सभी विद्वानों के सामने उपस्थित है। अत:, अब विद्वानों का इस ग्रन्थ के समुचित अनुशीलन, विवेचन, पर्यालोचन और मूल्यांकन की ओर ध्यान अवश्य जाना चाहिए।

निश्चय ही 'रसरतन' अपनी विशिष्टताओं के कारण आगामी समय में हिन्दी-प्रेमाख्यानक काव्यों, चारण-शैली के शृंगारिक रासोकाव्यों और रीतिकाव्यों के बीच की सर्वनिष्ठ कड़ी सिद्ध होगा। मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य की इस अनमोल विस्मृत कड़ी को पुन: उसकी गौरवपूर्ण परम्परा से शृंखलित करने के इस महत्त्वपूर्ण प्रयास के लिए डा० शिवप्रसाद सिंह साधुवाद के पात्र हैं।

डा० सिंह ने इस ग्रन्थ की भूमिका के आरम्भिक पृष्ठों में – कवि, उसका जीवन-परिचय, रचना-काल, रचनाएँ, वैदुष्य, आचार्यत्व, काव्य-प्रतिभा के साथ ही आलोच्य कृति और उसके हस्तलेखों का सप्रमाण और परिचयात्मक विवरण उपस्थित किया है। इसी विवरण के अन्तर्गत 'रसरतन' की कथावस्तु और हिन्दी-प्रेमाख्यानक-परम्परा में इस कृति के वैशिष्ट्य का अभिज्ञान कराया गया है। इस कृति में उपलब्ध कथानक-रूढ़ियों, कथा के उद्देश्य तथा प्रतीक-संकेतों का भी उल्लेख किया गया है। इसके पश्चात् कवि की 'भाव-सम्पदा' का विश्लेषणात्मक पर्यवेक्षण करते हुए सम्पादक ने कवि और कृति की भावाभिव्यक्ति तथा अनुभूति-प्रकाशन के शिल्पप्रकारों को सोदाहरण प्रस्तुत किया है। 'रसरतन और अपभ्रंश छन्द-परम्परा', 'रसरतन की भाषा' तथा 'रासो और रसरतन' – इन तीन शीर्षकों के अन्तर्गत, भूमिका में डा० सिंह ने अत्यन्त शोधात्मक एवं अनुसंधान-पूर्ण विवरण दिया है। अस्तु ; मैं इस लेख में, कवि-परिचय तथा 'रसरतन' के रचना-काल आदि पर, भूमिकान्तर्गत डा० सिंह द्वारा व्यक्त विचारों की प्रतिक्रियास्वरूप अपने मन्तव्यों को प्रकट कर रहा हूँ।

रसरतन के सम्पादन-प्रकाशन से पूर्व डा० सिंह का 'रसरतन' विषयक एक परिचयात्मक विस्तृत लेख नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका के 'मालवीय-शती-विशेषांक' में प्रकाशित हुआ था।[2] उसी समय मैंने कवि पुहकर के 'कवि-परिचय' तथा ग्रन्थ के 'रचनाकाल' के सम्बन्ध में 'रसरतन : विमर्श' नाम से एक लेख लिखकर नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका को प्रकाशनार्थ भेजा था, जिसका स्वीकृति-पत्र मुझे पत्रिका-विभाग से यथासमय मिल गया था; किन्तु वह लेख आज तक भी प्रकाशित नहीं हो पाया। अनेक बार लिखने पर भी कोई समाधानात्मक उत्तर मुझे उक्त विभाग से प्राप्त नहीं हुआ। कह नहीं सकता कि उक्त लेख का क्या हुआ ? अब इस प्रकाशित ग्रन्थ के हाथ में आने पर पुन: अपने

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, छठा संस्करण, पृ० २२८।
२. वर्ष ६६, सन् १९६१ ई०, अंक २-३-४, पृ० ३६५-३८३।

विचारों को लेखबद्ध कर रहा हूँ।

कवि-परिचय : पुहकर के विषय में जो कुछ भी सूचना मिलती है, वह 'रसरतन' में दिये हुए उनके वंशवृत्त और आत्मपरिचय से ही प्राप्त होती है। कवि अपने वंश के बारे में कुछ बताने के पहले 'सोम' नामक तीर्थ की चर्चा करता है।

> **गंग जमुन अन्तर उभै रम्य देश पंचाल।**
> **सोम नाम तीरथ तहाँ ता मधि अमर मराल॥**
> **तीरथ गुप्त न जाने कोई। तिहि संयोग कथा कर होई।**
> (आदिखण्ड, ५६-५७)

इसके साथ ही कवि ने अपने परिचय में 'भूमिगाँव' और 'प्रतापपुर' नामक नगरों का भी उल्लेख किया है।

सोमतीर्थ पर विचार करते हुए, विभिन्न भ्रान्तियों का निवारण कर डा० सिंह ने लिखा है – "इस प्रकार इनके स्थान के विषय में तीन अनुमान मिलते हैं – सोमनाथ-गुजरात, सोमनाथ-गुजरात-पंजाब तथा सोमनाथ-मैनपुरी। गुजरात-प्रदेश में रहने की बात निश्चय ही 'सोम' शब्द की भ्रान्ति के कारण हुई, कवि जिस सोमतीर्थ का वर्णन कर रहा है, वह गुजरात-स्थित सोमनाथ के सुप्रसिद्ध तीर्थ से बिल्कुल भिन्न है।" कवि के कथन पर विचार कर उन्होंने आगे लिखा है – "कवि ने स्वयं बताया है कि यह तीर्थ पंचाल में पड़ता है, जो गंगा-यमुना के द्वाबे में स्थित है।" डा० सिंह इससे अधिक 'सोमतीर्थ' की स्थिति स्पष्ट नहीं कर पाये। वे 'भूमिगाँव' का भी निश्चित क्षेत्र-निर्धारण नहीं कर सके। इसीलिए, वे सोमतीर्थ की भी स्थिति स्पष्ट नहीं कर सके। यदि कवि के कथनों पर ध्यान दिया जाए, तो उसने स्पष्ट लिखा है –

"पश्चिम दिशा के राजा भुवपाल का शरीर रोग से विकृत हो गया और इन्होंने अपने पुत्र को कार्यभार सौंपकर काशी चले जाने का निश्चय किया। पंचाल देश-स्थित सोम नामक तीर्थ में आने पर सरोवर का जल स्पर्श करते ही तन का रोग दूर हो गया। राजा ने वहीं 'भूमिगाँव' नामक नगर बसाया : 'भूमिगाँव तहाँ नगर बसायौ।'[१] इससे 'भूमिगाँव' की स्थिति सोमतीर्थ सरोवर के निकट ही सिद्ध होती है। यह 'भूमिग्राम' जिला मैनपुरी का प्रसिद्ध 'भोगाँव' ही है, जो एक सरोवर के निकट बसा हुआ है। यह सरोवर जनसाधारण में 'सोमा' या 'सोमना' तालाब के नाम से मशहूर है। भोगाँव, संकिशा (संकाश्य) के निकट और कम्पिला तीर्थ के सन्निवेश में है। अतः, इसकी स्थिति दक्षिणी पांचाल में ठहरती है।

'भूमिगाँव' की 'भोगाँव' से एकता की पुष्टि 'प्रतापपुर' के उल्लेख से भी हो जाती है – "बाद में चहुँआण कुलोत्पन्न शाकम्भरि नरेश प्रतापरुद्र ने इस देश को जीत लिया और उसी के निकट 'प्रतापपुर' नामक नगर बसाया।" इसी प्रतापपुर में श्रीनिवास कायस्थ (पुहकर के पूर्वज) ने अपना घर बनाया – 'नगर निकट प्रतापपुर कीनै।'[२] यह प्रतापपुर

---

१. पृ० १२-१३, मूलपाठ, आदिखण्ड, अथ कविकुलवर्णन, ५६-६६।

२. वही, मूलपाठ, ६७-७०।

भोगाँव के बिल्कुल निकट बसा हुआ है, जो जनसामान्य द्वारा 'परताःपुर' के नाम से पुकारा जाता है। भोगाँव से प्राप्त एक मूर्तिलेख से यह पता चलता है कि किसी समय यहाँ चौहान राजाओं का राज्य था। भोगाँव के निकट ही 'उमरीहार खेड़ा' नामक एक गाँव है, जहाँ चौहान राजा रुद्रप्रताप देव के किले का भग्नावशेष बताया जाता है।

डा० सिंह का ऐसा लिखना कि भूमिगाँव कवि का जन्मस्थान था[1], ठीक नहीं है। कवि के कथनानुसार 'प्रतापपुर' ही उसका जन्मस्थान ज्ञात होता है, क्योंकि वहीं उसके पूर्वजों का निवासस्थान था।

रचनाकाल : कवि पुहकर ने 'अथ छत्र सिंहासन वर्णन' के अन्तर्गत 'रसरतन' का रचनाकाल बताते हुए यह चौपाई दी है –

एक सहस ऊपर पैंतीसा। सन रसूल सों तुरकन दीसा॥
अग्नि सिंधु रस इंदु प्रमाना। सो विक्रम संवत् ठहराना॥

(आदिखण्ड, २८)

यही पाठ सभी उपलब्ध प्रतियों में मिलता है। सभा की खोज-रिपोर्टों में भी यही पाठ मिलता है। इसमें विक्रम-संवत् के साथ ही कवि ने हिजरी-सन् भी दिया है, जो १०३५ है। 'अग्नि सिंधु रस इंदु' से विक्रम-संवत् की दो संख्याएँ निकलती हैं – एक १६७३ और दूसरी १६७५। सन् १९०६-८ ई० की खोज-रिपोर्ट में 'अग्नि' की संख्या ५ मानकर संवत् १६७५ वि० रचनाकाल कहा गया है[2], किन्तु सभी प्रकार की गणनाओं के आधार पर भी हिजरी और विक्रम-संवत् की कोई संगति नहीं लगती। १६७३ विक्रम-संवत्, सन् १६१६ ई० में पड़ता है और उस वर्ष हिजरी १०२५ होना चाहिए। इसी प्रकार, विक्रमी संवत् १६७५ सन् १६१८ ई० में पड़ता है और उसका समानान्तर हिजरी-सन् १०२७ होता है। अब या तो कवि द्वारा दिया हुआ विक्रम-संवत् गलत है या हिजरी-सन्। किन्तु, इतिहास की कसौटी पर देखने से ज्ञात होता है कि कवि द्वारा दिया हुआ १०३५ हिजरी-सन् गलत है। इतना निश्चय हो जाने पर भी समस्या ज्यों-की-त्यों बनी रहती है यानी विक्रम-संवत् १६७३ और १६७५ में से किसको उपयुक्त माना जाए ? इन सभी बातों पर विचार कर डा० सिंह ने इस समस्या का समाधान इस प्रकार किया है –

"१६७३ विक्रम-संवत् १०२५ हिजरी में पड़ता है। उस साल मंगलवार प्रथम जिल्क़दः के दिन १० नवम्बर, सन् १६१६ ई० था। इस प्रकार, ऐसा प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ १०२५ हिजरी में लिखा गया, जो जहाँगीर का ११वाँ जलूसी वर्ष था। उस साल १६७३ विक्रम-संवत् अथवा १६१६ ई० में इस ग्रन्थ की रचना हुई। लगता है, लिपिकर्ताओं ने 'पच्चीसा' के स्थान पर 'पैंतीसा' पाठ कर दिया। यह पाठ अब तक की प्राप्त सभी पाण्डुलिपियों में मिलता है, यह सही है, किन्तु ये सभी पाण्डुलिपियाँ एक परम्परा की हैं, इस कारण यह अशुद्धि सबमें दिखायी पड़ती है। मूलपाठ यों होना चाहिए – 'एक सहस

---

१. रसरतन, भूमिका, पृ० ६
२. सन् १९०६ – ८। २०८।

ऊपर पंचीसा.....।'[१] पुहकर ने एक पंक्ति में शाहजादा शाहजहाँ का नाम दिया है – 'जैसे साहिजादौ साहिजहाँ जँहगीर कै' (आदिखण्ड, ५४)। जहाँगीरनामे के उद्धरण के आधार पर विचारकर डा०सिंह ने निष्कर्ष निकालते हुए लिखा है –

''१२वें जलूसी वर्ष में गुरुवार मेह्र महीने की दसवीं को, जो हमारे १२वें जलूसी वर्ष में, ११ शुव्वाल, सन् १०२६ हि० होता है, तीन पहर एक घड़ी दिन व्यतीत होने पर शुभ मुहूर्त में खुर्रम ने प्रसन्नता के साथ माण्डूदुर्ग में प्रवेश किया और हम दोनों ग्यारह महीने ग्यारह दिन पर मिले। गुरुवार २७वीं को नूरजहाँ बेगम ने हमारे पुत्र शाहजहाँ के विजय के उपलक्ष्य में जलसा किया, जिसमें तीन लाख रुपये खर्च हुए। इसी के बाद शाहजहाँ विद्रोही हो गया और 'फर्जन्द' शाहजहाँ को जहाँगीर ने 'बेदौलत' कहे जाने का फरमान दिया। जाहिर है कि उसके विद्रोही होने से पहले यानी हिजरी १०२६ के पहले पुहकर ने उक्त पंक्ति लिखी थी।''[२] किन्तु डा० सिंह का यह निष्कर्ष युक्तियुक्त नहीं है।

डा० सिंह ने रचनाकाल १६७३ मानकर और इतिहास से उसकी पुष्टि करते हुए हिजरी सन् १०३५ के स्थान पर १०२५ होना माना है। वे 'पैंतीसा' के स्थान पर 'पंचीसा' पाठ होने का अनुमान करते हैं। किन्तु, इस निष्कर्ष पर अभी और विचार की आवश्यकता है। रचनाकालसूचक पंक्ति में पाठ-विकृति तो निश्चित है, यह डा० सिंह के विवेचन से सिद्ध ही है, किन्तु 'पैंतीसा' के स्थान पर 'पंचीसा' पाठ ही माना जाए और कोई पाठ न माना जाए, यह उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। जो, अधिकाधिक संगति में आ सके, किसी ऐसे और पाठ की भी सम्भावना की जा सकती है। वास्तविक शुद्ध मूलपाठ क्या है, उसका निर्णय तो भविष्य में प्राप्त होने वाली प्राचीनतम पाण्डुलिपियों पर ही आधृत है। जब अनुमान की ही स्थिति है, तो फिर अनुमान इस प्रकार का हो, जो अधिकाधिक संगत हो।

डा० सिंह ने कवि द्वारा किये हुए 'शाहजादा शाहजहाँ' नाम पर भी विचार किया है, किन्तु गम्भीरतापूर्वक नहीं। उन्होंने इतिहास-ग्रन्थ 'जहाँगीरनामा' का भी आलोडन किया है, किन्तु अनवधानपूर्वक। कवि का 'शाहजादा शाहजहाँ' उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। डा० सिंह को सोचना चाहिए था कि उक्त पंक्ति में शाहजादा शाहजहाँ का उल्लेख है, शाहजादा खुर्रम का नहीं। यद्यपि खुर्रम को ही 'शाहजहाँ' कहा गया है। खुर्रम को शाहजहाँ की उपाधि जहाँगीर ने प्रदान की थी। जहाँगीर ने खुर्रम को शाहजहाँ की उपाधि कब प्रदान की थी, इसी पर विचार की आवश्यकता है। डा० सिंह ने इस तथ्य पर ध्यान नहीं दिया। यदि वे ध्यानपूर्वक इस बात पर विचार करते, तो उन्हें हिजरी-सन् १०२५ (सं० १६७३) रचनाकाल मानने का साहस न होता।

जहाँगीर अपने आत्मचरित (जहाँगीरनामा) में लिखता है – ''गुरुवार मेह्र महीने की दसवीं को, हमारे बारहवें जलूसी वर्ष में, जो ११ शव्वाल, सन् १०२६ हिजरी होता है, तीन प्रहर एक घड़ी दिन व्यतीत होने पर शुभ मुहूर्त में खुर्रम ने प्रसन्नता के साथ माण्डूदुर्ग

१. रसरतन, भूमिका, पृ० ४३।
२. वही।

में प्रवेश किया और हमारी सेवा में उपस्थित होने का सौभाग्य प्राप्त किया।''[१]

''इसके पहले राणा की विजय के उपलक्ष्य में हमारे भाग्यशाली पुत्र को बीस हजारी १०,००० सवार का मंसब मिल चुका था। जब वह दक्षिण की चढ़ाई पर जा रहा था, तब उसे शाह की पदवी दी गयी और अब इस विख्यात सेवा के पुरस्कार में हमने उसका मंसब तीस हजारी २०, ००० सवार का कर दिया तथा उसे 'शाहजहाँ' की पदवी प्रदान की।''[२]

यह विख्यात सेवा खुर्रम द्वारा दक्षिण की विजय की थी, जिसके पुरस्कार में जहाँगीर ने सन् १०२६ हि० में खुर्रम को 'शाहजहाँ' की उपाधि प्रदान की थी। सन् १०२६ हिजरी का ईस्वी सन् १६१७ होता है और इनका समानान्तर विक्रमी-संवत् १६७४ होता है। अत:, वि०सं० १६७४ (१०२६ हि०) में प्राप्त पदवी का उल्लेख 'शाहजादा शाहजहाँ' के रूप में सन् १०२६ हिजरी के पहले, यानी हिजरी-सन् १०२५ (१६७३ वि०) में रचित ग्रन्थ में कवि कैसे कर सकता है ? अर्थात् यह सम्भव प्रतीत नहीं होता। ऐसी दशा में इस इतिहास-प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि वि०संवत् १६७३ (१०२५ हि०) 'रसरतन' की रचना-तिथि नहीं हो सकती। डा० साहब को यह भी मालूम होना चाहिए कि शाहजहाँ की पदवी मिलने के पाँच वर्ष बाद जहाँगीर के १७वें जलूसी वर्ष (सन् १६२२) में शाहजहाँ विद्रोही हुआ था, तत्काल ही नहीं।

कवि द्वारा 'रसरतन' में 'शाहजादा शाहजहाँ' का उल्लेख होने से यह निश्चित है कि इस ग्रन्थ की रचना सं० १६७४ (१०२६ हि०) के बाद हुई। रचनाकाल-मूलक पंक्ति 'अग्नि सिंधु रस इंदु प्रमाना' में विक्रम-संवत् की दूसरी संख्या १६७५ निकलती है। इस वि०सं० १६७५ का समानान्तर हिजरी-सन् १०२७ ई० होता है और ईसवी सन् १६१८। मेरे विचार से वि०सं० १६७५ की संगति में हिजरी-सन् को सूचित करनेवाली पंक्ति का मूलपाठ 'पैंतीसा' के स्थान पर 'सत्तीसा' मानकर इस प्रकार होगा –

एक सहस ऊपर सत्तीसा, सन रसूल सो तुरकन दीसा।

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है कि 'रसरतन' की रचना वि०सं० १६७५ (१०२७ हि०) में ही हुई। यह रचनाकाल 'शाहजादा शाहजहाँ' के उल्लेख के कारण पूरी तरह से ऐतिहासिक संगति में भी आता है। इसके अतिरिक्त, 'रसरतन' के रचनाकाल की और कोई संगति नहीं लगती।

डा० सिंह ने अपनी भूमिका में 'रसरतन' की एक टीका का भी परिचय दिया है।[३] जैसा कि डा० साहब का विचार है, वास्तव में यह पुहकर-कृत 'रसरतन' की टीका नहीं है। यह टीका सूरतिमिश्र-कृत है। सूरतिमिश्र ने सं० १७६८ वैशाख, रविवार को 'रसरतन' नामक ग्रन्थ की रचना की थी और उसकी टीका भी कवि ने स्वयं मेड़ता के ऋषभगोत्रीय ओसवाल सुलतानमल के लिए (मुलतानमल के लिए नहीं, जैसा कि डा० सिंह ने लिखा

१. जहाँगीरनामा, ना०प्र० सभा, काशी, प्र०सं०, पृ० ४५६ तथा भूमिका, पृ० ३१।

२. जहाँगीरनामा, ना०प्र० सभा, काशी, प्र०सं०, पृ० ४५७-५८।

३. रसरतन, भूमिका, पृ० १२१-१२७।

है) सं० १८००, श्रावण मास में की थी।[१] जहाँ तक पुहकर-कृत 'रसरतन' से कहीं-कहीं इस टीका की समता का प्रश्न है, उसके विषय में यह अनुमान उपयुक्त है कि हो सकता है, सूरतिमिश्र, पुहकर की रचना 'रसरतन' से परिचित हो और उसके अनुकरण पर ही उसने 'रसरत्न' की रचना की हो तथा अपनी रचना एवं इसकी टीका दोनों के निर्माण में उसने सहायता ली हो। विशेष ज्ञातव्य तो इनका तुलनात्मक अध्ययन करने पर ही प्रकाश में आएगा।

१. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, द्वितीय भाग, पृ० १६३।

३. रीतिकाल

३.१ कवि मतिराम-रचित 'छंदसार-संग्रह'

प्रसिद्ध कवि मतिराम-कृत 'छंदसार' का सर्वप्रथम उल्लेख शिवसिंह सेंगर के 'शिवसिंह सरोज' में हुआ है[1] – 'छंदसार पिंगल फतेसाहि बुंदेला श्रीनगर के नाम से रचा।' और 'सरोज' में इस ग्रंथ से दो छंद उदाहरण रूप में दिये गये हैं[2] –

(१) 'दाता एक जैसो शिवराज भयो' प्रतीक वाला और

(२) 'लखमन ही संग लिए, जो बनविहार किए' प्रतीक वाला।

डा० ग्रियर्सन ने अपने प्रसिद्ध इतिहास-ग्रंथ 'द माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान' में मतिराम त्रिपाठी के विवरण में इनके तीन ग्रन्थों का उल्लेख करते हुए 'छंदसार' के सम्बन्ध में 'सरोज' के आधार पर यह लिखा – "(२) छंदसार – श्रीनगर के फतेसाहि बुंदेला के नाम पर पिंगल ग्रंथ।"[3]

मिश्रबन्धुओं ने भी अपने 'हिन्दी नवरत्न' में मतिराम के विवरण में 'छंदसार' का उल्लेख किया।[4] यहाँ आश्रयदाता का नाम 'फतेसाहि बुंदेला' के स्थान पर 'शंभुनाथ सोलंकी' दिया गया है और साथ ही 'छंदसार पिंगल' के एक खंडित हस्तलेख का पं० युगलकिशोर मिश्र के पुस्तकालय में होना सूचित किया गया है।[5]

इसके बाद उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध इतिहास-ग्रन्थ 'मिश्रबन्धुविनोद' (कवि सं० ३५९) में भी इन्हीं बातों को दुहराया है।[6]

काशी नागरी प्रचारिणी सभा की सन् १९२०-२२ ई० की खोज-रिपोर्ट में संख्या १०५ ए पर वत्सगोत्रीय मतिराम-कृत 'वृत्त कौमुदी' नामक ग्रन्थ का विवरण दिया है[7], जिसका हस्तलेख असनी (जि० फतहपुर) निवासी नरहरिवंशीय पं० कन्हैयालाल भट्ट

---

१. दे० पृ० ७७५ (क०सं० ६६५।५४८।६८) सम्मेलन संस्करण, सं० डा० किशोरीलाल गुप्त।

२. वही, पृ० ४४१-४२ (छंद सं० १२४४-४५)।

३. हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास, पृ० १५८ (क०सं० १४६)।

४. पृ० ३६५ (द्वि०सं०)

५. वही, पृ० ३६८।

६. पृ० ४४३-४४७ (द्वि०सं०)

७. पृ० ८५ व ३०२-३०४।

के यहाँ मिला था। रिपोर्ट में 'वृत्तकौमुदी' को प्रसिद्ध मतिराम की रचना माना गया है। यह ग्रन्थ वीर सिंह बुंदेला के प्रपौत्र, चन्द्रभान के पौत्र और मित्र साहि के पुत्र स्वरूप सिंह के लिए रचा गया था। इसमें रचना-काल सं० १७५८ का उल्लेख हुआ है और कवि मतिराम ने अपनी वंशावली भी दी है, किन्तु यह वंशावली प्रसिद्ध भूषण के स्व 'वृत्त' तथा प्रसिद्ध मतिराम-विषयक तथ्यों से मेल नहीं खाती। इसी आधार पर पं० भगीरथप्रसाद दीक्षित ने 'वृत्तकौमुदी' के रचयिता मतिराम को रसराज आदि के रचयिता मतिराम से अभिन्न सिद्ध करने का प्रयत्न किया और कहा कि भूषण एवं मतिराम सगे भाई नहीं थे। इस प्रकार उन्होंने भूषण और मतिराम के भ्रातृत्व-सम्बन्ध पर कुठाराघात किया, जबकि इनका भ्रातृत्व-सम्बन्ध प्रसिद्ध है। बाद में दीक्षित जी ने यह भी प्रतिपादित किया कि भूषण का जन्म सं० १७३८ में हुआ था, वह न तो शिवाजी के समकालीन थे और न उनके आश्रित कवि ही। तथा शिवराज भूषण की रचना सं० १७३३ में हुई थी।

दीक्षित जी की इन विप्लवकारी स्थापनाओं से एक 'वितण्डा' हिन्दी-साहित्य-जगत् में खड़ा हुआ, जिसके पक्ष-विपक्ष में बहुत कुछ लिखा गया और इन अनर्गल भ्रान्तियों का निराकरण करने में विद्वानों को एड़ी-चोटी तक का जोर लगाना पड़ा। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र[१] और डा० किशोरीलाल गुप्त द्वारा यद्यपि दीक्षित जी के उठाये गये वितण्डावाद एवं उनकी भ्रान्त धारणाओं का निरसन एक प्रकार से हो चुका है, किन्तु फिर भी एक समस्या यदा-कदा अब भी उभरती रहती है, जिसका पूर्ण समाधान अभी नहीं हो पाया है। इस लेख में उसी समस्या के समुचित समाधान का प्रयास किया गया है।

तो अब समस्या यह है कि क्या 'छंदसार' और 'वृत्तकौमुदी' एक ही ग्रन्थ के दो नाम हैं ? अथवा क्या ये दोनों भिन्न-भिन्न ग्रन्थ हैं ? अथवा क्या इन दोनों की कोई तीसरी स्थिति भी है ? इन्हीं प्रश्नों पर विचार अपेक्षित है।

पं० भगीरथप्रसाद दीक्षित ने 'वृत्तकौमुदी' को आधार बनाकर अपनी नवीन स्थापना के प्रतिपादन हेतु दो-तीन लेख पत्रिकाओं में प्रकाशित कराये।[२] दीक्षित जी की स्थापना के विरोध में मिश्रबन्धुओं[३], याज्ञिक त्रय[४] और पं० कृष्णबिहारी मिश्र[५] ने अपने-अपने लेख लिखे। दीक्षित जी ने अपने उत्तर नागरी प्रचारिणी पत्रिका एवं माधुरी में दिये।[६] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि दीक्षित जी ने माधुरी वाले अपने इस लेख में दो मतिरामों की कल्पना कर ली है – एक को उन्होंने 'फूल मंजरी' का रचयिता अनुमान किया है और

१. दे० मिश्र जी का 'भूषण' नामक ग्रन्थ।

२. (अ) नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका (नवीन संस्करण, वर्ष ४, अंक ४, सं० १९८०), (आ) हस्तलिखित हिन्दी-पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण, भाग १ (सन् १९००-१९११ ई०) प्र०का०सं० १९८० वि० ; इसकी भूमिका में बा० श्यामसुन्दरदास जी ने दीक्षित जी के लेख को स्थान दिया है, पृ० १६ (यह संक्षिप्त विवरण अब 'सभा' के ५५ वर्षीय संक्षिप्त विवरण में समाहित हो चुका है।)

३. माधुरी, वर्ष २, खंड २, अंक ४।

४. वही, अंक ६।

५. समालोचक, भाग १, अंक ३।

६. (अ) ना०प्र० पत्रिका, वर्ष ६, अंक १ व २, सं० १९८२; (आ) माधुरी, वर्ष ३, खंड १, सं० १९८१।

दूसरे को अन्य ग्रन्थों का।

तत्पश्चात् पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने 'मतिराम-ग्रन्थावली'[1] की भूमिका में तब तक हुए वाद-विवाद का सर्व-संकलन एवं समाहार उपस्थित करते हुए पुनः इस सम्बन्ध में विचार किया और दीक्षित जी की स्थापना का प्रमाण एवं तर्क-सहित खण्डन किया। मिश्र जी का निष्कर्ष है कि 'वृत्तकौमुदी' के रचयिता – मतिराम, रसराज आदि के रचयिता प्रसिद्ध मतिराम से भिन्न हैं और 'वृत्तकौमुदी' एवं 'छंदसार' एक ही ग्रन्थ नहीं हैं।[2]

मतिराम ग्रन्थावली के प्रकाशन के काफी समय बाद दीक्षित जी की 'भूषण-विमर्श' नामक पुस्तक[3] के प्रकाशन से यह एक प्रकार से विस्मृत विवाद पुनः उठा। उन्होंने इस पुस्तक में अपने पूर्व विचारों में कुछ संशोधन किया। यों पहले भी उन्होंने दो मतिराम मान लिये थे – फूल मंजरी के कर्ता मतिराम और सुप्रसिद्ध मतिराम। अब भी उन्होंने दो मतिराम माने, पर इस बार की मान्यता में कुछ परिवर्तन आ गया। इस बार दीक्षित जी ने प्रथम मतिराम की कृतियों के रूप में फूलमंजरी, रसराज, ललित ललाम और सतसई को माना तथा दूसरे मतिराम को वृत्तकौमुदी और अलंकार पंचासिका का रचयिता माना।[4]

सुप्रसिद्ध कवि मतिराम को लेकर दो शोधप्रबन्ध भी प्रस्तुत और प्रकाशित हुए। एक डा० त्रिभुवन सिंह कृत 'महाकवि मतिराम और मध्यकालीन हिन्दी कविता में अलंकरण वृत्ति' और दूसरा डा० महेन्द्र कुमार कृत 'मतिराम-कवि और आचार्य' है। इन दोनों ग्रन्थों में यद्यपि लगभग समग्र उपलब्ध सामग्री का विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, किन्तु 'छन्दसार' के सम्बन्ध में दोनों विद्वानों के निष्कर्ष भिन्न-भिन्न हैं।

डा० त्रिभुवन सिंह ने 'छंदसार' और 'वृत्तकौमुदी' को दो भिन्न ग्रन्थ स्वीकार किया तथा वृत्तकौमुदी के रचयिता मतिराम को प्रसिद्ध मतिराम से भिन्न माना[5] और डा० महेन्द्र कुमार ने अपने शोधप्रबन्ध में 'छंदसार' और 'वृत्तकौमुदी' को एक ही ग्रन्थ के दो नाम माने और इसके रचयिता मतिराम को प्रसिद्ध मतिराम ही स्वीकार किया।[6]

डा० किशोरीलाल गुप्त ने 'भूषण मतिराम तथा उनके अन्य भाई' नामक अपने ग्रन्थ में इस विवाद के सभी पक्षों से सम्बन्धित समस्त सामग्री को परिश्रमपूर्वक एकत्र करते हुए उस पर गम्भीरता से विचार किया है और विश्लेषण-विवेचन के उपरान्त दीक्षित जी की भ्रान्त धारणाओं का निराकरण किया। उनका निष्कर्ष है – "हिन्दी में मतिराम

---

१. इसका प्रकाशन सं० १६८३ में गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ से प्रथम बार हुआ था।
२. वही, पृ० २३१-३४ (तृ०सं०)।
३. इसका प्रकाशन सं० २००७ में हुआ था।
४. दे० भूषण-विमर्श के अन्तर्गत 'मतिराम के आश्रयदाता और उनकी रचनाएँ' प्रकरण, पृ० १५-२१। साहित्यसार और लक्षण शृंगार किस मतिराम की रचना है, इस सम्बन्ध में दीक्षित जी ने कोई उल्लेख नहीं किया है।
५. दे० महाकवि मतिराम और मध्यकालीन हिन्दी-कविता में अलंकरण-वृत्ति। (प्र० हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी) में मतिराम के ग्रन्थों पर विवेचन।
६. दे० मतिराम कवि और आचार्य (प्र० भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली) में 'मतिराम के ग्रन्थ' अध्यायान्तर्गत पृ० ६३ -६७।

नाम के दो कवि हुए। पूर्ववर्ती मतिराम ने फूलमंजरी, रसराज, ललित ललाम और सतसई की रचना की। ये मतिराम ही प्रसिद्ध मतिराम हैं और कवि भूषण के सगे भाई भी। परवर्ती मतिराम ने अलंकार पंचासिका, वृत्तकौमुदी या छंदसार-संग्रह और भगवन्त सिंह वाला कवित्त रचा। सम्भवतः इन्हीं परवर्ती मतिराम ने ही 'साहित्यसार' एवं 'लक्षण-शृंगार' की भी रचना की।[१] अन्यत्र भी गुप्त जी ने लिखा है – ''मेरा यह स्पष्ट निष्कर्ष है कि छंदसार पिंगल और वृत्तकौमुदी एक ही ग्रन्थ के दो नाम हैं और इसके रचयिता मतिराम प्रसिद्ध मतिराम से भिन्न हैं।[२]

डा० भगीरथ मिश्र का 'सम्मेलन-पत्रिका' में 'मतिराम नामधारी दो कवि' नामक एक लेख प्रकाशित हुआ था। इसमें डा० मिश्र ने फूलमंजरी, रसराज, ललित ललाम और सतसई को तो प्रथम मतिराम का माना है और अलंकार पंचासिका, साहित्यसार, लक्षण शृंगार और छंदसारसंग्रह-वृत्तकौमुदी इन चार कृतियों का निर्माता द्वितीय मतिराम को माना है। मिश्र जी के विचार में भी छन्दसार और वृत्तकौमुदी एक ही रचना के दो नाम हैं।[३] पं० कृष्णबिहारी मिश्र द्वारा सम्पादित 'मतिराम ग्रन्थावली' का नया संस्करण नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से सं० २०२१ में प्रकाशित हुआ है। उसमें 'फूलमंजरी' को और स्थान देकर चार ग्रन्थों को प्रकाशित किया गया है।[४] शेष रचनाओं को छोड़ दिया है, जबकि उनको भी प्रकाशित किया जाना चाहिए था। इससे विचार करने में सुविधा होती, पर प्रतीत होता है कि सम्पादकों और सभा को कुछ के विषय में सन्देह रहा और कई रचनाओं की प्रतियाँ प्राप्त नहीं हो सकीं। सम्भवतः इसीलिए इस ग्रन्थावली में उनका समावेश नहीं किया जा सका। अप्रकाशित ग्रन्थों में 'छंदसार संग्रह – वृत्तकौमुदी' भी हैं।

ग्रन्थावली के इस नवीन संस्करण में पं० मिश्र की मूल भूमिका से पूर्व एक विस्तृत भूमिका और लगी हुई है। इसमें डा० भगीरथ मिश्र और दोनों शोधप्रबन्धों के मान्य लेखकों के विचारों के आधार पर चर्चा करते हुए 'छंदसारसंग्रह' और 'वृत्तकौमुदी' के विषय में काफी ऊहापोह किया गया है, किन्तु किसी निर्णयात्मक स्थिति में नहीं पहुँचा जा सका है, क्योंकि दोनों नामों से प्राप्त पूर्ण हस्तलेखों का तुलनात्मक अध्ययन नहीं किया जा सका। एक अर्थ में यह सम्भव भी न था, क्योंकि दोनों नामों से प्राप्त पूर्ण हस्तलेखों का अभाव रहा।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों के संक्षिप्त विवरण'[५] में इस ग्रन्थ का उल्लेख 'छंदसार पिंगल' के नाम से हुआ है और अन्य नाम 'वृत्तकौमुदी' बतलाया है। वहाँ पर इस रचना के चार हस्तलेखों का विवरण है और रचना-काल सं० १७५८ लिखा गया है। इन हस्तलिखित प्रतियों का विवरण निम्नलिखित

१. दे० डा० गुप्त की 'भूषण मतिराम' विषयक पुस्तक (प्र० विद्यामन्दिर, वाराणसी), पृ० १८०।

२. वही, पृ० ६६ व ७० परिशिष्टान्तर्गत।

३. दे० सम्मेलन-पत्रिका, भाग ४७, अंक २, पृ० ६-११।

४. ग्रन्थावली में पहले तीन ग्रन्थों – 'रसराज', 'ललित ललाम', 'मतिराम सतसई' का ही प्रकाशन हुआ था।

५. दे० प्रथम खण्ड, पृ० ३०७।

खोज-रिपोर्टों में दिया गया है – सन् १९१२-११२; २०-१०५ ए; पं० २२-६४ सी; ४१-१८२। इनमें से सन् १९१२ की खोज में विवृत्त प्रति पं० युगलकिशोर मिश्र, गंधौली वाली है, जो खंडित है। सन् १९२० की खोज में विवृत्त प्रति पं० कन्हैयालाल भट्ट, असनी की है, जो अब अप्राप्य है। सन् १९२२ की खोज में प्राप्त प्रति का विवरण पंजाब-खोजरिपोर्ट में है, जो पं० भवानीप्रसाद शर्मा, नारनौल (पटियाला) की है और अब यह भी प्राप्य नहीं है।[1] सन् १९४१ की खोज में विवृत्त प्रति सभा-पुस्तकालय (रत्नाकर-संग्रह) की है और यह भी खंडित है। इस प्रकार खोज में प्राप्त चारों हस्तलेखों में से दो अपूर्ण हैं और दो अब मिलते नहीं हैं। अत: केवल इनके आधार पर विचार-प्रक्रिया की अग्रसरता सम्भव नहीं थी, किन्तु अब सौभाग्य से इस ग्रन्थ के दोनों नामों से अलग-अलग दो पूर्ण हस्तलेख सुलभ हैं और उनकी तुलना से इस समस्या का समाधान निर्णयात्मक रूप में सम्भव है।

'वृत्तकौमुदी' नाम से एक हस्तलिखित प्रति की प्रतिलिपि डा० महेन्द्र कुमार को कैं० शूरवीर सिंह से प्राप्त हुई थी और जिसका उपयोग उन्होंने अपने शोधप्रबन्ध में किया है। यह प्रति फतहपुर के निकट किसी ग्राम-पुस्तकालय की है। पाठ की दृष्टि से यह अशुद्ध है। इस ग्रन्थ में पाँच प्रकाश हैं – (१) गण-वर्णन, (२) वर्णिक छन्दवर्णन, (३) मात्रिक छन्दवर्णन, (४) प्रत्यय-वर्णन, (५) दंडक वर्णन।

'छंदसार-संग्रह' नाम से एक पूर्ण हस्तलिखित प्रति सुप्रसिद्ध शोध-विद्वान् श्री अगरचन्द जी नाहटा के संग्रह में है[2], जिसे उन्होंने अपने संग्रह के लिए क्रय किया था। सन् १९२० की खोज-रिपोर्ट में विवृत्त 'वृत्तकौमुदी' के विवरण तथा डा० महेन्द्र कुमार की प्रति के विवरण से उक्त 'छन्दसार-संग्रह' से मिलान करने पर वास्तविकता सामने आ जाती है। वास्तविकता यह है कि 'छंदसार-संग्रह' को ही परिवर्द्धित करके 'वृत्तकौमुदी' के रूप में रचा गया है। 'वृत्तकौमुदी' में जो रचना-काल और कवि-वंशवर्णन मिलता है, वह 'छंदसार-संग्रह' में नहीं है। 'छंदसार-संग्रह' छोटा ग्रन्थ है। उसका परिमाण करीब ४५० श्लोकों (अनुष्टुप) का ही है, जबकि 'वृत्तकौमुदी' का परिमाण १४१८ श्लोकों के लगभग है। अत: प्रतीत होता है कि मूल ग्रन्थ को पीछे से परिवर्द्धित करके तिगुना बड़ा बना दिया गया है।

नाहटा जी के संग्रह की प्रति १४ पत्रों की है। यह सं० १८६३, पौष सुदि १०, सोमवार को नागपुर के पेठ मसान गंज में रामदीन वानी की लिखी हुई है।[3] इस प्रति के अनुसार, गण-पद्धति और वृत्ति (प्रत्यय) पद्धति – ये इस ग्रन्थ के दो खण्ड हैं, जिनमें क्रमशः ७५ तथा १६७ पद्य हैं अर्थात् २४२ पद्य हैं। इस ग्रन्थ का मूल आधार 'वृत्त रत्नाकर' नामक संस्कृत-ग्रन्थ है। कवि ने रचना के एक पद्य में 'रामचन्द्र' के संस्कृत-ग्रन्थ पर

१. पंजाब खोज-रिपोर्ट में विवृत्त ग्रन्थों के पूर्ण विवरण-पत्र 'सभा' के खोज-विभाग में सुरक्षित हैं या नहीं, इस बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता। रिपोर्ट तो अत्यन्त संक्षेप में छपी है और उसमें मूल विवरण-पत्र प्रकाशित नहीं किये गये।

२. नाहटा जी के संग्रह का नाम 'अभय जैन ग्रन्थालय' है, जो नाहटों की गुवाड, बीकानेर में अवस्थित है।

३. दे० परिषद्-पत्रिका, वर्ष १६, अंक १। इसमें नाहटा जी ने इस प्रति का संक्षिप्त परिचय प्रकाशित कराया है।

विचार करके यह भाषा-ग्रन्थ बनाया[1], ऐसा उल्लेख किया है। वहाँ रामचन्द्र के ग्रन्थ का नाम नहीं दिया है, किन्तु आगे चलकर ग्रन्थ के कई स्थानों में 'वृत्त रत्नाकर' के उल्लेख सहित संस्कृत-श्लोक उद्धृत किये हैं। 'छंदसार-संग्रह' ही इस ग्रंथ का वास्तविक नाम है और कवि मतिराम ने बुंदेलवंशीय 'सरूपसिंह' के यश एवं रूप के वर्णन के लिए इस छंदो ग्रन्थ को बनाया है।[2] सरूपसिंह के पूर्वज राजाधिराज वीरसिंह के बाद चन्द्रभान और उसके बाद मित्रसाहि थे, जिनके पुत्र सरूपसिंह कवि के आश्रयदाता थे।[3]

'छंदसार संग्रह' रच्यो सकल ग्रंथ मत देख।
बालक कविता सिद्धि को, भासा सरल विशेष॥
महाराज राजाधिराज 'वीरसिंघ' देव हुव।
'चंद्रभान' धरनीस, धीरता को प्रसिद्ध भुव॥
'मित्रसाहि' तिनको सपूत, विख्यात जगत सब।
तासु पुत्र अवतंस, अवनि पंचम 'सरूप' अब॥
जसु जासु जगत अवलंब लही, मतिराम सुकवि चित धरिय।
रचि 'छंदसार संग्रह' सरस, सू इमि प्रत्यय पद्धति करिय॥

ग्रन्थ की गण-पद्धति के प्रथम खण्ड का अंतिम पद्य भी यही है। केवल अन्त में 'प्रत्यय-पद्धति' की जगह उसमें 'गण-पद्धति' नाम है। 'वृत्तकौमुदी का अन्तिम पद्य भी यही है। पर, उसमें प्रत्यय-पद्धति की जगह 'दण्डक पद्धति' पाठ आता है। ग्रन्थ की पुष्पिका इस प्रकार है –

"इति श्री छंदसार संग्रहे मतिराम सुकवि विरचिते यथा वृत्तरत्नाकरे प्रत्यय पद्धति नृप सरूप सिंघ बुंदेले जस पूर्णप्रताप संपूर्णम॥ संवत् १८६३ मिति पुसस्त्र १० वार सोमवार लिखी नागपुर पेठ मसान गंज, रामदीन बानी की पोथी।"

---

१. प्रथमहि सुर वानी कर्यौ 'रामचन्द्र' परवीन। कवि 'मतिराम' विचार करी, ग्रंथ सो भाषा कीन॥

२. 'छंदसार-संग्रह' की रचना निर्भ्रान्त रूप से सरूप सिंह बुंदेला के लिए हुई थी, किसी अन्य के लिए नहीं – न फते साहि बुंदेला के लिए, न शंभुनाथ सोलंकी के लिए। जिन विद्वानों ने ऐसे उल्लेख किये हैं, वे अशुद्ध एवं भ्रामक हैं।

३. 'सरोज' में उद्धृत 'दाता एक जैसो शिवराज भयो' प्रतीकवाले छन्द में मात्र सरूप सिंह बुंदेला की ही प्रशस्ति है। इसमें जिन अन्य राजाओं के नाम आये हैं, वे सभी उपमान-रूप में आये हैं – 'अप्रस्तुत' हैं। ये सभी उस युग में कवियों के प्रसिद्ध आश्रयदाता थे, इसीलिए उनका नामोल्लेख उपमान-रूप में प्रयुक्त हुआ है। इसमें 'प्रस्तुत' सरूप सिंह बुंदेला ही हैं। उक्त छन्द 'वृत्तकौमुदी' के 'पंचम प्रकाश' में तो आया है, किन्तु 'छंदसार-संग्रह' में भी है या नहीं, इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता। 'सरोज' में ही उद्धृत 'लखमन ही संग लिए' प्रतीकवाले दूसरे छन्द का जहाँ तक सम्बन्ध है, वह 'वृत्तकौमुदी' एवं 'छंदसार-संग्रह' में है या नहीं, यह ज्ञात नहीं। पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने इसे मतिराम का न मानकर सेनापति-कृत 'कवित्तरत्नाकर' का माना है, किन्तु 'कवित्तरत्नाकर' में भी यह छन्द नहीं है। सम्भव है, सेंगर जी ने इन दो छन्दों को सुनकर ही 'छंदसार पिंगल' के नाम पर उद्धृत कर दिया हो, स्वयं ग्रन्थ देखकर नहीं। वैसे इस श्लेषपरक छन्द में मतिराम की छाप है और 'राम' का भी वर्णन हुआ है। छन्द के वैशिष्ट्य को देखते हुए तो यही प्रतीत होता है कि यह छन्द 'मतिराम' का ही है। 'राम' सम्बन्धी दो दोहे सतसई में भी मिलते हैं।

इसमें 'वृत्तकौमुदी' नाम कहीं नहीं आता। इससे ग्रन्थ का मूल नाम 'छंदसार-संग्रह' ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता। 'छंदसार-संग्रह' की इस प्रति में कवि-परिचय और रचना-काल के पद्य नहीं हैं, जो कि बाद में 'वृत्तकौमुदी' में बढ़ाये गये हैं। अत: 'वृत्तकौमुदी', 'छंदसार-संग्रह' का अनुवर्ती परिवर्द्धित संस्करण सिद्ध होता है।[1] इस प्रकार ये दोनों दो भिन्न ग्रन्थ हैं।

कवि ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में गणेश एवं सरस्वती की वन्दना करके बुंदेल वंश की विमल कीर्ति के गुणगान का उल्लेख किया है –

दोहा : **सुमिरन कै गजतुंड को, अंब चरण चित लाय।**
बरनो वंश 'बुंदेल' को, विमल कीर्ति गुण गाय॥

और इससे अगले छप्पय-छंद में वीरसिंघ के पूर्वजों का उल्लेख हुआ है। ग्रन्थ-रचना का मुख्य कारण बताते हुए कवि ने लिखा है –

दोहा : **निजकुल भान समान भो, नृपति 'सरूप' सुजान।**
बहु विधि जाके देखिये, बढ़त मान दिन मान॥
भिछुक आये भुवन ते, लहे सबल मान काम।
त्योंही नृप को सुजस ले, आयो कवि मतिराम॥
ताही वचन समानके, किन्हो हुक्म सुजान।
ग्रन्थ संस्कृत रीत सो, भाषा करो प्रमान॥

'छंदसार-संग्रह' प्रसिद्ध मतिराम की कृति है। इसमें भी उसी पद्धति का निर्वाह हुआ है, जिसका निर्वाह उनके अन्य ग्रन्थों में हुआ है। रसराज-प्रणेता मतिराम ने न कहीं किसी ग्रन्थ में अपना परिचय दिया है और न रचनाकाल ही। ऐसी ही स्थिति इसमें है। अत: परम्परा से जो यह प्रसिद्ध है कि मतिराम ने पिंगल विषयक ग्रन्थ की रचना की थी, इस बात की पुष्टि 'छंदसार-संग्रह' से हो जाती है। वृत्तकौमुदीकार की शैली इससे भिन्न है, उसमें वंश-परिचय और रचनाकाल दोनों हैं।

कवि मतिराम के पिंगल-विषयक उक्त ग्रन्थ की रचना कब हुई, इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक तो कुछ कहा नहीं जा सकता, केवल अनुमान ही किया जा सकता है। सम्भव है, इसकी रचना मतिराम ने अपनी युवावस्था में की हो, क्योंकि इस प्रकार की रचना का प्रणयन प्राय: इसी समय में अधिक बुद्धिसंगत एवं उपयुक्त है। सम्भवत: 'फूलमंजरी' के बाद ही इसकी रचना हुई हो। पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने सं० १७०० और १७१० के बीच में इसके बनने का अनुमान किया है,[2] जो सही भी हो सकता है। यदि

---

१. ऐसे उदाहरण और भी हैं, जहाँ अन्य की कृति में परिवर्द्धन आदि करके अपनी कृति के रूप में प्रसिद्ध किया गया। जैसे – महेश कृत 'हम्मीर रासो' का विशदीकरण करके जोधराज ने अपने हम्मीर रासो को प्रस्तुत किया। महेश कृत केवल ३२४ छन्दों की लघुकाय रचना की कुछ घटनाओं एवं छन्दों का परिवर्द्धन कर उसके कलेवर को ६७६ छन्दों का कर दिया है। यही स्थिति 'छन्दसार-संग्रह' और 'वृत्तकौमुदी' की है।

२. दे० मतिराम ग्रन्थावली की भूमिका, पृ० २२७ (तृ०सं०)

सरूप सिंह बुंदेला (जिनके लिए यह ग्रन्थ बना) के राज्यकाल का ज्ञान हो जाए, तो फिर इसके रचनाकाल के सम्बन्ध में अधिक निश्चय के साथ उल्लेख किया जा सकता है। सरूप सिंह बुंदेला, बुंदेलखण्ड में कहाँ का राजा था, कब गद्दी पर बैठा आदि तथ्य अभी शोध की अपेक्षा रखते हैं। हाँ, इतना अवश्य निश्चित है कि औरंगजेब के शासनकाल में यह बुंदेला राजा उसका मनसबदार (डेढ़हजारी, पाँच सौ सवार) था और उसकी ओर से रायचूर का फौजदार-किलेदार रहा था। इसके पिता मित्रसेन (साहि) बुंदेला भी औरंगजेब के मनसबदार थे। इनका नाम 'आलमगीर नामा' में आया है। पितामह चन्द्रभान[1] शाहजहाँ के समय शाही मनसबदार थे और प्रपितामह वीरसिंह देव तो जहाँगीर के कृपापात्र एवं इतिहास-प्रसिद्ध ओड़छा के राजा थे।

अत: मेरा यह निश्चित विचार है कि रसराज-प्रणेता प्रसिद्ध मतिराम कवि ने ही इस 'छंदसार-संग्रह' की रचना सरूप सिंह बुंदेला के लिए की थी और इसे आयत्त कर, इसका लाभ उठाते हुए किसी वनपुर-निवासी, वत्सगोत्रीय मतिराम नामधारी अन्य कवि ने अर्थ एवं यश-प्राप्ति की इच्छा या अन्य किसी कारण से इसका परिवर्द्धन किया तथा इसमें अपना वंश-परिचय एवं रचनाकाल-सूचक अंश जोड़कर 'वृत्तकौमुदी' के नाम से इसे स्वकृत घोषित किया। इस प्रकार इस दूसरे मतिराम ने अपने चातुर्य एवं कल्पना को साकार किया।

'छंदसार-संग्रह' के सम्पादन-प्रकाशन की नितान्त आवश्यकता है, जिससे विचारार्थ यह सबके सामने आ सके और सर्वसुलभ हो सके। अत: नाहटा जी की पूर्ण प्रति को आधार बनाकर काशी नागरी प्रचारिणी सभा एवं पं० युगलकिशोर मिश्र, गंधौली वाली अपूर्ण प्रतियों से सहायता लेते हुए इसका एक अच्छा सम्पादित संस्करण प्रकाश में लाया जाना चाहिए।

इसके साथ ही कवि मतिराम के जन्म एवं मृत्यु-काल पर भी विचार कर लेना उपयुक्त रहेगा। मतिराम के जन्म एवं मृत्यु-संवतों के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। उन्होंने अपने-अपने विचारानुसार इस सम्बन्ध में अलग-अलग संवत् निर्धारित किये हैं। कवि के जन्म-संवत् के सम्बन्ध में प्रमुख रूप से तीन संवत् सामने आते हैं – सं० १६६०; सं० १६६१ तथा सं० १६६५ के लगभग।[2] इनके निर्धारण में कवि की रचना 'फूलमंजरी' को आधार बनाया गया है। फूलमंजरी की रचना का समय भी निश्चित नहीं है। विद्वानों ने सं० १६७८ एवं सं० १६७६ में इसके बनाये जाने का अनुमान किया है और इसी आधार पर कवि के जन्म-संवत् का भी अनुमान किया है।

वस्तुत: फूलमंजरी का रचनाकाल विद्वानों ने पहले का बता दिया है, इसीलिए मतिराम के जन्मकाल आदि के बारे में गड़बड़ी हो गयी। 'फूलमंजरी' एक साधारण रचना है और जहाँगीर के हुक्म से आगरा में कवि ने इसकी रचना की है। पर, जैसा कि कुछ विद्वानों

१. वीर सिंह देव के पुत्र चन्द्रभान को जैतपुर और कोंच आदि के परगने जागीर में मिले थे।
२. दे० (अ) मतिराम ग्रन्थावली की भूमिका, (आ) डा० महेन्द्र कुमार का शोधप्रबन्ध, (इ) डा० त्रिभुवन सिंह का शोधप्रबन्ध। इस सम्बन्ध में अन्य मत विचारणीय नहीं हैं।

ने मान लिया है कि इसकी रचना किसी विशेष अवसर पर विशेषत: 'गुल-ए-आफशाँ' शाही बाग के फूलों के वर्णन-रूप में या जहाँगीर-राज्य के १६वें वर्ष में 'नौरोज' के उत्सव के समय की गयी, पर यह वास्तविक हो, यह मानना आवश्यक नहीं है। जहाँगीर-राज्य के अन्तिम समय में भी इसकी रचना हो सकती है, क्योंकि रचना में केवल 'जहाँगीर का हुक्म पाकर रचना की गयी', यही लिखा है। किसी प्रसंग-विशेष का उल्लेख नहीं है। अत: 'फूलमंजरी' का रचना-काल सं० १६७६ या १६७८ मानकर मतिराम का जन्म सं० १६६१ या १६६० निर्धारित करना सही नहीं है, सं० १६८४ में भी यह रची जा सकती है। इसके अनुसार मतिराम का जन्म सं० १६६५ में होना माना जा सकता है और सं० १७४५ के आसपास उनकी मृत्यु होने का अनुमान किया जा सकता है। इस प्रकार कवि मतिराम की कुल आयु ८० वर्ष की होती है।

३.२ राघोदास कृत 'भक्तमाल' का रचना-काल

सन्त दादूदयाल की शिष्य-परम्परा में राघोदास जी अपनी 'भक्तमाल' के लिए प्रसिद्ध हैं। ये बड़े सुन्दरदास के शिष्य प्रहलाददास के पौत्र शिष्य तथा हरिदास (हापोजी) के शिष्य थे। अपनी गुरु-परम्परा का उल्लेख इन्होंने स्वयं 'भक्तमाल' के एक छन्द में किया है, जो इस प्रकार है[1] –

मम गुरु मांथै परिस्वांमी जू है परम गुर स्वांमी प्रहलाद बड़ी निधि है।
स्वांमी प्रहलाद जू कै गुर बड़े सूरबीर, नांम स्वांमी सुन्दरदास जांणैं सारी बिधि है।।
तास गुरु दादू जी दयाल दिणियर सम, सो तो त्रियलोक मधि प्रगट प्रसिध्य हैं।
स्वांमी दादूजू के गर ब्रह्म है विचित्र विग, राघो रटि राति दिन नातो प्रनती वृध्य है।।

इसके अनुसार इनकी गुरु-परम्परा निम्नलिखित होती है – ब्रह्म, दादूदयाल, सुन्दरदास (बड़े), प्रहलाद, हरिदास (राघोदास के गुरु)। डा० मोतीलाल मेनारिया ने इन्हें प्रहलाददास का शिष्य लिखा है[2], जो स्वयं इनके कथनानुसार ठीक नहीं है वैसे ये प्रहलाददास की शिष्य-परम्परा में थे ही। ये पीपावंशी चाँगल गोत शाखा[3] के क्षत्रिय थे। इनके पिता का नाम हरिराज तथा माता का नाम रतनाई था। इन सब बातों का उल्लेख इन्होंने स्वयं किया है।[4]

राघोदास जी ने 'भक्तमाल' की समाप्ति पर उसका रचनाकाल इस प्रकार दिया है–

सम्वत् सत्रहै सै सत्रहोतरा, शुक्ल पक्ष शनिवार।
तिथि तृतीया आषाण की, राघो कियो विचार।।

राघोदास की भक्तमाल के सम्पादक श्री अगरचन्द नाहटा ने कालज्ञापक दोहे पर

१. दे० राघवदास कृत भक्तमाल, छन्द ५४८, पृ० २४५, रा० प्रा० वि० प्रतिष्ठान, जोधपुर का संस्करण।
२. राजस्थान का पिंगल-साहित्य, पृ० १६५, स० २३४।
३. खोज-विवरण सन् १६३८-४० में इन्हें 'चांडाल गोत्र' का लिख दिया है, जो अत्यन्त भ्रमात्मक है। चांगल को अशुद्ध रूप में पढ़ लिया गया प्रतीत होता है। दे० उक्त खोज-विवरण, पृ० १३, ३०३, ३०५।
४. दे० राघवदास कृत भक्तमाल, भूमिका, पृ० थ।

विचार करते हुए लिखा है[1] –

"सत्रह सै सत्रोहतरे से १७७७ स्पष्ट प्रतीत होता है.........मेरी समझ से १७१७ ही अधिक उपयुक्त है; क्योंकि भक्तमाल में प्रशिष्यों तक का ही उल्लेख है। १७७० ? (७७) सम्वत् यदि भक्तमाल की रचना का हो, तो तब तक तो प्रशिष्यों के भी प्रशिष्य हो गये। भक्तमाल का रचनाकाल अठारहवीं सदी का प्रथम चरण ही संगतिपरक है।"

नाहटा जी ने इस सम्बन्ध में जो विचारणा प्रस्तुत की है, वह विचारणीय है। 'सत्रहोतरा' शब्द से १७ की संख्या लेकर इसकी रचना १७१७ में मानी गयी है और अधिकांश विद्वानों ने इस संवत् का ही रचनाकाल के रूप में उल्लेख किया है, किन्तु मेरे विचार से इस ग्रन्थ का रचनाकाल सं० १७७७ मानना ही उपयुक्त है। कारण यह है कि भक्तमाल में दादू जी के प्रशिष्यों का भी वर्णन उसमें किया गया है।[2] राघोदास जी स्वयं दादू जी के प्रशिष्य प्रहलाददास जी के प्रशिष्य थे। उन्होंने अपने गुरु-भाइयों का भी उल्लेख इस कृति में किया है।[3] इसी प्रकार जब हम इस भक्तमाल के टीकाकार चतुरदास पर, उनके द्वारा दिये गये टीकाकाल के सन्दर्भ में विचार करते हैं तो हमें भक्तमाल का रचनाकाल सं० १७७७ ही मानने के लिए विवश होना पड़ता है। चतुरदास जी ने टीकाकाल का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार सं० १८५७ की भादों बदी १४ मंगलवार[4] को उन्होंने इस टीका की रचना की थी। टीकाकार चतुरदास भी दादू जी की शिष्य-परम्परा में सन्तोषदास जी के शिष्य थे। उन्होंने अपनी गुरु-परम्परा का उल्लेख टीका के एक छन्द में किया है।[5] तदनुसार उनकी गुरु-परम्परा इस प्रकार है – दादू जी, सुन्दरदास (छोटे), नारायणदास, रामदास, दयाराम, सुखराम, सन्तोषदास, चतुरदास (टीकाकार)। इस प्रकार ये दादू जी की आठवीं पीढ़ी में आते हैं। दादू जी के समय (जन्म सं० १६०१, मृत्यु सं० १६६०)[6] को ध्यान में रखते हुए, जब इन दोनों गुरु-परम्पराओं पर विचार करते हैं, तो ज्ञात होता है कि राघोदास जी, दादू जी से पाँचवी पीढ़ी में हैं और चतुरदास जी आठवीं पीढ़ी में। विचार-हेतु मान लीजिए, राघोदास जी ने भक्तमाल की रचना सं० १७१७ (?) में की थी तो दादू जी के मृत्युकाल (सं० १६६०) से उक्त रचनाकाल तक कुल ५७ वर्ष का समय होता है, जिसमें पाँच पीढ़ियाँ आती हैं। इसी प्रकार दादू जी के मृत्युकाल (सं० १६६०) से टीकाकाल तक १६७ वर्ष का समय होता है, जिसमें आठ पीढ़ियाँ हैं। दादू जी के मृत्युकाल सं० १६६० में दोनों सुन्दरदास की अवस्थिति मानकर जब पीढ़ी-परम्परा

---

१. वही, पृ० द। ऐसा ही विचार नाहटा जी ने पृ० श पर व्यक्त किया है।

२. भक्तमाल, रा०प्रा०वि० प्रतिष्ठान, जोधपुर का संस्करण, छन्द (मूल) सं० ५२८, ५२६ पृ० २४०, २४१।

३. वही, छन्द ५३०, ५३१, पृ० २४१।

४. खोज-विवरण (सन् १६३८-४०) में इस टीका का रचना-काल सं० १८१२ तथा सं० १८१८ मुद्रित हुआ है, जो अशुद्ध है। दे० पृ० १३ तथा ३०२। इसी प्रकार डा० प्रभात ने अपने शोधप्रबन्ध 'मीराँबाई' में इस टीका का सं० १८५१ में रचा जाना लिखा है। (दे० पृ० ५१) यह सं० भी अशुद्ध है। यह मुद्रण-दोष भी हो सकता है।

५. दे० भक्तमाल (जोधपुर संस्करण), छन्द-टीका ६३३।

६. राजस्थान का पिंगल-साहित्य, पृ० १८१ तथा १८४।

की गणना करते हैं, तो राघोदास की पीढ़ी का औसत-काल केवल १४ वर्ष आता है और चतुरदास की पीढ़ी का औसत-काल २८ वर्ष आता है। प्रथम औसत-काल १४ वर्ष दूसरे औसत-काल की तुलना में आधा ही है, जो सम्भव नहीं है। अत: इस दृष्टि से भी १७१७ रचना-काल नहीं माना जा सकता। सं० १७७७ रचना-काल मानने से राघोदास जी की पीढ़ी का औसत-काल, चतुरदास जी के पीढ़ी-औसत-काल के सन्तुलन में आता है। अत: भक्तमाल का रचना-काल सं० १७७७ ही मानना उपयुक्त है। डा० प्रभात ने अपने शोधप्रबन्ध 'मीराँबाई' में भक्तमाल की किसी हस्तलिखित प्रति से रचना-कालसूचक जो दोहा उद्धृत किया है, उसमें स्पष्ट – 'संवत् सत्रह सौ सतहतरा' है।[1] निर्णय-हेतु इस विषय पर ज्योतिष की दृष्टि से भी विचार किया जा सकता है, कारण यह है कि मूल और टीका दोनों के कालज्ञापक छन्दों में आवश्यक ज्योतिषीय विस्तार दिया हुआ है। अत: ज्योतिष-गणना की कसौटी पर कसकर इस समस्या का अन्तिम निर्णयात्मक समाधान प्राप्त किया जा सकता है। मेरे पास ऐसे साधनों का अभाव है, जिसके कारण मैं 'पंचाग-मिलान' की क्रिया को सम्पन्न करने में असमर्थ हूँ। विद्वानों से निवेदन है कि वे इस दृष्टि से विचारकर इस समस्या के समाधान को अन्तिम रूप दें।[2]

राघोदास कृत भक्तमाल, नाभादास जी की भक्तमाल के आधार से उसी शैली पर लिखी गयी है, किन्तु फिर भी इसमें अपनी अनेक विशेषताएँ हैं। नाभाजी की अपेक्षा इनका दृष्टिकोण कुछ अधिक व्यापक और उदार है। यह रचना सन्त-परम्परा के इतिहास के लिए बहुत उपयोगी है। राघोदास जी ने सन्त-सम्प्रदाय की सामग्री को विशेष स्थान दिया है, क्योंकि इनकी दृष्टि अनिवार्यत: सन्त-मत की थी। ये दादू-पंथ के अनुयायी थे। अत: उक्त पंथ के सन्त जनों का विवरण तो इसमें विशेष रूप से दिया गया है। भक्तमाल-परम्परा की यह प्रौढ़, विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण रचना है। नाभादास जी की भक्तमाल के बाद यही सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं उल्लेखनीय कृति है। अभी तक यह उपयोगी रचना अप्रकाशित ही थी, किन्तु अब यह श्री अगरचन्द नाहटा के प्रयत्न से, उन्हीं के द्वारा सम्पादित होकर राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर से प्रकाशित हो गयी है। श्री नाहटा जी एवं संचालक महोदय दोनों ही इस प्रयास के लिए बधाई के पात्र हैं।

पुनर्विचार :

मैंने अपने 'राघोदास कृत भक्तमाल का रचना-काल'[3] शीर्षक लेख में अपने विचारानुसार इस भक्तमाल का रचना-काल सं० १७१७ के स्थान पर सं० १७७७ माना था और इस मान्यता के कारण भी उक्त लेख में दिये थे।

मेरे इस विचार का प्रतिवाद करते हुए श्री गोविन्द अग्रवाल ने अपने 'राघोदास कृत भक्तमाल का समय'[4] नामक टिप्पणी में उक्त भक्तमाल के पुष्कर-संस्करण के आधार

१. पृ० ५० (प्र०सं०) प्र० हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई।
२. राघोदास जी के गुरु 'हरिदास जी' के आधार पर भी इस पर विचार किया जा सकता है।
३. दे० व्रजभारती, वर्ष २८, अंक ४ में प्रकाशित लेख।
४. दे० व्रजभारती, वर्ष २६, अंक २ में प्रकाशित टिप्पणी।

पर सं० १७१७ ही ठीक माना है; सं० १७७७ नहीं। अतः पुष्कर-संस्करण का अध्ययन कर इस समस्या पर मेरे द्वारा पुनर्विचार किया जाना आवश्यक हो गया। भक्तमाल के उक्त पुष्कर-संस्करण की प्रति प्राप्त कर अध्ययनोपरान्त श्री अग्रवाल जी के उल्लेखों के उत्तर उक्त संस्करण के आधार पर इस प्रकार हैं –

(१) राघोदास कृत भक्तमाल का श्री अगरचन्द जी नाहटा द्वारा सम्पादित तथा राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर द्वारा प्रकाशित संस्करण सं० २०२१ में प्रकाशित हुआ था, जबकि स्वामी नारायणदास जी वाला पुष्कर-संस्करण सं० २०२६ में प्रकाशित हुआ था। प्रतिष्ठावनवाले संस्करण का उपयोग स्वयं स्वामी नारायणदास जी ने किया है, ऐसा उल्लेख उन्होंने अपने संस्करण की भूमिका में किया है।[1]

(२) उक्त पुष्कर-संस्करण के सम्पादन में स्वामी जी द्वारा दस हस्तलिखित प्रतियों का उल्लेख किये जाने का उल्लेख श्री अग्रवाल जी ने किया है, किन्तु उनका यह उल्लेख गलत है। उक्त संस्करण के सम्पादन में नौ हस्तलिखित प्रतियों का ही उपयोग किया गया है। दसवीं प्रति मुद्रित प्रति प्रतिष्ठानवाली है।

(३) यद्यपि पुष्कर-संस्करण में सं० १८४० वाली प्राचीन प्रति के आधार पर इस भक्तमाल का रचना-काल सं० १७१७ ही स्वीकार किया गया है, किन्तु फिर भी कुछ ऐसे तथ्य मिलते हैं, जिनके आधार पर मेरे विचार से सं० १७७७ ही माना जाना चाहिए। यहाँ अब नवीन तथ्यों का उल्लेख किया जा रहा है।

राघोदास जी ने अपनी भक्तमालल में नानक-पंथ का उल्लेख जिस छप्पय में किया है, उनमें नानक जी से लेकर अष्टम गुरु हरिकृष्ण जी तक का उल्लेख है। हरिकृष्ण जी के जीवन-वृत्त से ज्ञात होता है कि उनका जन्म सं० १७१३ में हुआ था। सं० १७१८ में उन्हें गुरु-गद्दी मिली थी और सं० १७२१ में उनका स्वर्गवास हुआ था।[2] अब विचार कीजिए कि सं० १७१७ में रचित ग्रन्थ में सं० १७१८ में गद्दी पर बैठने का तथा सं० १७२१ में मृत्यु को प्राप्त हो जानेवाले गुरु का उल्लेख कैसे आ सकता है ? इससे प्रकट है कि भक्तमाल की रचना सं० १७१७ में न होकर सं० १७७७ में हुई, जो अन्य उल्लेखों की संगति में है।

'सत्रह सै सत्रहोतरा' से १७१७ का बोध होता है, मैं अर्थ करने की परिपाटी के अनुसार इससे इनकार नहीं करता हूँ। 'सत्रह उत्तर' अर्थ होना चाहिए, किन्तु सर्वत्र ऐसे पाठों का अर्थ इसी रूप में किया जाना अनिवार्य हो, ऐसी बात नहीं है। इसके अपवाद भी मिलते हैं। किसी पाठ का अर्थ प्रसंगानुकूल और अन्य तथ्यों की संगति में होना चाहिए। ऐसा ही एक उदहारण यहाँ दे रहा हूँ –

प्रणामी-सम्प्रदाय के आद्याचार्य सन्त प्राणनाथ की जन्मतिथि उनके प्रिय शिष्य स्वामी लालदास ने अपनी 'बीतक' में इस प्रकार दी है –

संवत सोल सो पंचोत्तरे, भादों बदी चोदस नाम

१. दे० भूमिका, पृ० ५।

२. दे० उक्त संस्करण में ही पृ० ६४८-४६।

इसमें आये 'सोल सो पंचोत्तरे' का अर्थ परम्परानुसार 'सोलह सौ पाँच' (पाँच उत्तर) होना चाहिए, किन्तु ऐसा अर्थ नहीं किया गया। यहाँ 'सोलह सौ पछहत्तर' (सं० १६७५) अर्थ लिया गया है, जो अन्य तथ्यों और प्रमाणों से पुष्ट है। इसी प्रकार 'सत्रह सौ सत्रहोत्तरा' से सं० १७७७ का आशय लिया जा सकता है।

पूर्व प्रकाशित अपने लेख में मैं यह उल्लेख कर चुका हूँ कि 'सत्रह सौ सत्रहोतरा' के स्थान पर 'सत्रह सौ सतहतरा' पाठ भी हस्तलिखित प्रतियों में मिलता है।[1] अब रही इंडियन एफ़ेमेरीज के अनुसार सं० १७१७ तिथि-वार मिलने की बात। इस सम्बन्ध में मेरा यह निवेदन है कि इंडियन एफेमेरीज भी कोई अन्तिम निर्णयात्मक स्थिति नहीं है। उसमें भी त्रुटि की सम्भावना हो सकती है। अत: पुनरावलोकन की आवश्यकता है। तिथि-वार का यह मिलन-संयोग भी अन्य संगतियों के अनुकूल होना चाहिए, तभी उसकी उपयोगिता है। सं० १७१७ के वार-तिथि मिलान के साथ सं० १७७७ के भी वार-तिथि मिलाने की आवश्यकता है।

यदि यह तिथि-मिलन-संयोग वास्तव में सही है, तो फिर इस रचना-काल पर दूसरी दृष्टि से विचार किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में सं० १७१७ को ग्रन्थ-समाप्ति का समय किसी भी दशा में नहीं माना जा सकता। तब उसे ग्रन्थ आरम्भ करने का समय माना जाना चाहिए। इस विचार के अनुसार राघोदास जी ने भक्तमाल का लिखना सं० १७१७ में आरम्भ किया होगा और फिर समय-समय पर जानकारी के अनुसार वे इसमें पद्य बढ़ाते रहे होंगे। साथ ही इस नानक-पंथ के छप्पय के आधार पर इस भक्तमाल की समाप्ति की तिथि का भी अनुमान किया जा सकता है। उक्त छप्पय में आठ ही गुरुओं का उल्लेख है। उसमें अन्त के दो महत्त्वपूर्ण गुरुओं – नवें गुरु तेगबहादुर तथा दसवें गुरु गोविन्द सिंह का उल्लेख नहीं है। इतिहास में इन दोनों गुरुओं का जो महिमामय स्थान है, वह किसी से छिपा नहीं है। इन दोनों गुरुओं के वर्णन का अभाव यह सूचित करता है कि उक्त भक्तमाल की रचना-समाप्ति गुरु तेगबहादुर के गद्दी पर बैठने के समय सं० १७२२ से पूर्व ही हो चुकी होगी। अन्यथा इन दोनों महिमामंडित एवं तेजस्वी गुरुओं का वर्णन भी इसमें आ जाता।

मुझे इस विषय में कोई दुराग्रह नहीं है। अनुसंधान द्वारा जो सत्य सिद्ध हो, वह मैं स्वीकार करने के लिए तैयार हूँ। अत: सभी इस पर और अधिक विचार कर अन्तिम निर्णय करने का प्रयास करें।

कविरत्न स्वामी नारायणदास जी द्वारा सम्पादित 'राघोदास कृत भक्तमाल' का पुष्कर-संस्करण निस्संदेह अत्यन्त उपादेय है। इसमें स्वामीजी की गद्य-टीका भी है। यह गद्य-टीका अत्यन्त विस्तार के साथ दी गयी है। यह नाभाजी कृत भक्तमाल के 'रूपकला-संस्करण' की कोटि का है। ऐसे उपयोगी संस्करण को सम्पादित करने तथा प्रकाशित करने के लिए श्री स्वामी जी बधाई के पात्र हैं। धार्मिक जगत् तथा हिन्दी-संसार दोनों ही उनके चिर ऋणी रहेंगे। वे मेरा श्रद्धामय प्रणाम स्वीकार करें।

१. दे० ब्रजभारती, वर्ष २८, अंक ४, पृ० ११।

३.३ शिवराजभूषण में 'गुसलखाना' प्रसंग

अनेक बार भारी हानि उठाकर और हार खाकर, अन्त में औरंगजेब ने बहुत सोच-विचार के नाद शिवाजी का दमन करने के लिए दिलेर खाँ आदि अनेक सेनापतियों तथा चौदह हजार फौज सहित आम्बेराधिपति मिर्जा राजा जयसिंह कछवाहा को नियुक्त किया।

मिर्जा राजा जयसिंह ने तेजी और फुर्ती से दक्षिण पहुँचकर अत्यन्त बुद्धिमानी और चालाकी से शिवाजी को सन्धि और अधीनता के लिए विवश किया। सन्धि के पश्चात् बादशाह ने भेंट करने के लिए शिवाजी को दरबार बुला भेजा। जयसिंह के आश्वासन पर शिवाजी ने भी औरंगजेब से भेंट करना स्वीकार कर लिया।

अपने राज्य का सब प्रबन्ध कर ५ मार्च १६६६ ई० को अपने पुत्र सम्भाजी तथा कुछ सैनिकों के साथ शिवाजी, बादशाह से भेंट करने के लिए उत्तर भारत को रवाना हुए। आगरा पहुँचकर वे दरबार में हाजिर हुए। शिवाजी ने अपने प्रति जैसे राजकीय व्यवहार की आशा की थी, वैसा व्यवहार या सत्कार उन्हें दरबार में नहीं मिला। उन्हें दरबार में पाँच हजारी मनसबदारों की पंक्ति में लाकर खड़ा कर दिया गया। वे उस अपमान को सहन न कर सके। क्रोध से उनका चेहरा तमतमा उठा और वे मूर्च्छित-से हो गये। इस घटना का महाकवि भूषण ने अपने 'शिवराजभूषण' नामक ग्रन्थ के कई छन्दों में वर्णन किया है और इस प्रसंग में 'गुसलखाना' शब्द का प्रयोग किया है। 'गुसलखाना' से भूषण का क्या अभिप्राय था, इस पर अब तक किसी विद्वान् ने सप्रमाण स्पष्ट प्रकाश नहीं डाला है। इतिहासकारों ने इस घटना का स्थल दरबार को ही बताया है, पर 'गुसलखाना' का नाम भूषण ने बार-बार लिया है और उनका कथन प्राणहीन या निराधार नहीं है। यद्यपि सामान्य रूप से 'गुसलखाना' का अर्थ स्नानागार है, तथापि इस शब्दार्थ की कोई संगति इस प्रसंग में नहीं है।

इस लेख द्वारा प्रामाणिक सामग्री के आधार पर इस प्रसंग का स्पष्टीकरण जिज्ञासु पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया जा रहा है।

आगरे में 'शिवाजी-औरंगजेब-भेंट' का सर्वाधिक प्रामाणिक वृत्तान्त जयपुर राज्य के पुराने दफ्तर से प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर, डा० यदुनाथ सरकार ने अपने 'शिवाजी' नामक ग्रन्थ में दिया है। उक्त ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि औरंगजेब की सालगिरह[1] के दिन (१२ मई १६६६) शिवाजी का दरबार में उपस्थित होना निश्चित हुआ था, किन्तु शिवाजी को आगरा पहुँचने में एक दिन की देरी हो गयी थी। ११ मई को शिवाजी आगरे से एक मंजिल की दूरी पर सराय-मलूकचन्द तक ही आ पाये थे और वहीं उन्होंने मुकाम किया था।[2] इस कारण १२ मई को शिवाजी दरबार में उपस्थित नहीं हो सके। शिवाजी आगरे में १३ मई की सुबह पहुँचे थे। इस दिन भी दरबार में उपस्थित होने में उन्हें काफी देर हो गयी थी। बादशाह दीवान आम का दरबार समाप्त कर किले में भीतरी दीवान खास

---

१. चाँद-तिथि के अनुसार बादशाह का ४६वाँ जन्मदिन, जो १२ मई १६६६ ई० को पड़ा था।

२. शिवाजी – ले० डा० सर यदुनाथ सरकार, द्वितीय हिन्दी-संस्करण, पृ० ७३।

में चले गये थे। कुमार राम सिंह शिवाजी को लेकर, भेंट के लिए वहीं उपस्थित हुए।[1]

सफेद पत्थर का बना हुआ यह दीवान खास भी जन्मदिन के उपलक्ष में अच्छी प्रकार सजाया गया था। यहाँ भी ऊँचे दर्जे के अमीर-उमरा और राजा लोग सज-धजकर अपने-अपने दर्जे के अनुसार खड़े थे। इसी दरबार में शिवाजी की भेंट औरंगजेब से हुई थी और यहीं अपमान की घटना से लेकर उसके बाद की घटनाएँ घटी थीं।

महाकवि भूषण ने इसी दीवान-खास के लिए अपने ग्रन्थ 'शिवराजभूषण' में बार-बार 'गुसलखाना' शब्द का प्रयोग किया है। प्रसिद्ध इतिहास-ग्रन्थ 'मआसिरुल् उमरा', जिसमें मुगल दरबार तथा उससे सम्बद्ध अमीरों, सरदारों और राजाओं की जीवनियाँ लेखबद्ध हैं, 'सादुल्ला खाँ अल्लामी' की जीवनी के अन्तर्गत इस 'गुसलखाने' का स्पष्टीकरण इस प्रकार दिया हुआ है[2] –

''यह जानना चाहिए कि दौलतखाना खास एक मकान है, जो बादशाही अन्तःपुर तथा दीवान खास व आम[3] के बीच में बना है और दरबार से उठने पर उसी मकान में कुछ वादों का निर्णय करने के लिए बादशाह बैठते हैं, जिसकी सूचना सिवा खास लोगों के किसी को नहीं मिलती। यह स्थान हम्माम के पास था, इसलिए यह अकबर के राज्यकाल से गुसलखाने के नाम से प्रसिद्ध है। शाहजहाँ ने इसे दौलतखाना खास नाम दिया था।''

जहाँगीर ने भी अपने आत्मचरित में इस 'गुसलखाने' का उल्लेख किया है। वह एक स्थान पर लिखता है कि – ''१६वीं आबाँ की रात्रि में प्रतिदिन के अनुसार हम गुसलखाने में थे। कुछ अमीरगण तथा सेवक और संयोग से फारस के शाह का राजदूत मुहम्मद रजा बेग उपस्थित थे।''[4] एक दूसरे स्थान पर वह फिर लिखता है – ''हलका भोजन कर नित्यप्रति हम नियमानुसार दीवानखानों में जाते और झरोखा तथा गुसलखाने में बैठते थे।''[5]

इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि 'गुसलखाना' एक भवन-विशेष था, जहाँ बादशाह का खास दरबार लगा करता था। यद्यपि शाहजहाँ ने इसका नाम 'दौलतखाना खास' कर दिया था, फिर भी यह अपने पूर्व प्रचलित 'गुसलखाने' के नाम से ही पुकारा जाता था। वास्तव में यह मुगल सम्राट् का मंत्रणा-गृह था। शासन की बारीक समस्याएँ यहीं हल होती थीं और विभिन्न सूत्रों के बारे में यहीं से आज्ञाएँ प्रचारित की जाती थीं। भूषण ने भी इस भवन के लिए इसके पूर्व प्रचलित नाम 'गुसलखाना' का ही उल्लेख किया है।

यहाँ यह बात विशेष रूप से ध्यान रखने की है कि इतिहासकारों का उक्त घटना-विषयक स्थान शब्द 'दरबार' सामान्य अर्थ का बोधक है। बादशाह का दरबार जहाँ भी लगता था, चाहे वह दीवान आम व खास (दरबार आम खास, पब्लिक एसेम्बली

---

१. वही, पृ० ७३

२. मआसिरुल उमरा अर्थात् मुगल दरबार (हिन्दी-संस्करण), पृ० ३३२, पाँचवाँ भाग, ना०प्र० सभा, काशी।

३..दरबार आम खास का स्थान – ले०

४. जहाँगीरनामा (हिन्दी, प्र० संस्करण), पृ० ४०१, ना०प्र० सभा, काशी।

५. वही, पृ० ३३५।

हाल) हो अथवा दीवान खास (दरबार खास, कौंसिल चैम्बर) हो, दरबार ही कहलाता था। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि भेंटवाले दिन का दौलतखाना खास (दीवान खास) का दरबार, प्रतिदिन का विशेष मंत्रणा-दरबार नहीं था, अपितु बादशाह के जन्मदिन के उत्सव में एक प्रकार से सामान्य दरबार खास था। यद्यपि सभी आम व्यक्तियों को वहाँ पहुँचने की आज्ञा नहीं थी।

इस घटना-प्रसंग के विषय में इतिहासकारों ने लिखा है कि "जब शिवाजी का अपमान दरबार में हुआ तो वे क्रोधाभिभूत दशा में निकट स्थित एक अन्य कमरे या स्थान पर चले गये। यह कमरा या स्थान दरबार से सटा हुआ था, पर दरबार से भिन्न था। यहाँ उन्हें बादशाह नहीं देख सकता था। दरबार में अपमानित होने की घटना के तुरन्त बाद की घटनाएँ यहीं घटित हुई थीं।"[१]

इतिहासकारों के उक्त उल्लेख के आधार पर हिन्दी के कुछ विद्वानों ने अनुमान किया है कि उक्त दूसरे कमरे या स्थान को ही भूषण ने बार-बार 'गुसलखाना' कहा है, किन्तु उपर्युक्त उल्लेखों के आधार पर प्रामाणिकता की दृष्टि से यह अनुमान सही नहीं है। साथ ही भूषण के कथन भी इस अनुमान से मेल नहीं खाते।

यह ध्यान रहे कि भूषण ने उस पूरे भवन को ही 'गुसलखाना' कहा है, जहाँ बादशाह का खास दरबार लगा करता था, किसी केवल कमरे-विशेष को नहीं। औरंगजेब द्वारा उपयुक्त आदर-सत्कार की प्राप्ति न होने पर शिवाजी का अपने को अपमानित अनुभव करना, ग्लानि और क्रोध से उनके तमतमा उठने पर दरबार में आतंक छा जाना, औरंगजेब के संकेत से रामसिंह द्वारा पूछे जाने पर, निडरतापूर्वक कटु वचनों को कहना – आदि घटनाएँ इस दरबार में घटित हुई थीं और भूषण ने शिवाजी की इसी क्रोधपूर्ण स्थिति का, जिससे दरबार में आतंक छा गया था, वर्णन 'शिवराजभूषण' में किया है, उनके दरबार से चले जाने के बाद की घटनाओं का नहीं।

महाकवि भूषण ने 'शिवराजभूषण' में गुसलखाने की घटना का वर्णन छंद सं० ३३, ७४, १६६, १८६, १६१, २४२ और २५१ में किया है।[२] वे कहते हैं कि औरंगजेब ने शिवाजी को पाँच हजारियों के बीच खड़ा किया, जिस पर शिवाजी अपने को अपमानित अनुभव कर बिगड़ उठे। उनकी कमर में कटारी न देकर इस्लाम ने गुसलखाने को बचा लिया। अच्छा हुआ कि शिवाजी के हाथ में हथियार नहीं था, नहीं तो वे उस समय अनर्थ कर बैठते –

पंच-हजारिन बीच खरा किया
मैं उसका कुछ भेद न पाया।
भूषण यौं कहि औरंगजेब
उजीरन सों बेहिसाब रिसाया।
कम्मर की न कटारी दई
इसलाम ने गोसलखाना बचाया।

---

१. शिवाजी दि ग्रेट, डा० बालकृष्ण, पृ० २५६।
२. दे० भूषण, सं० पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, प्र०सं०, वाणी-वितान, बनारस।

जोर सिवा करता अनरत्थ
भली हुई हत्थ हथ्यार न आया। (१६१)

गुसलखाने में आते ही उन्होंने कुछ ऐसा त्यौर ठाना कि जान पड़ा वे औरंग के प्राण ही लेना चाहते हों –

आवत गोसलखाने ऐसें कछू त्यौर ठाने,
जानौ अवरंगहूँ के प्रानन को लेवा है। (७४)

एक अन्य छन्द में शिवाजी की वीरता का वर्णन करते हुए उनका दिल्लीपति को जवाब देने, समस्त दरबारियों को आतंकित करने और बिना हाथ में हथियार या साथ में फौज लिये माथ न नवाने का उल्लेख इस प्रकार किया है –

दीनौ कुज्वाब दिलीस को यौं
जु डर्‌यौ सब गोसलखानो डरारौ।
नायौ न माथहिं दच्छिन नाथ
न साथ में सैन न हाथ हथ्यारौ। (१६६)

एक और छन्द में भूषण लिखते हैं कि औरंगजेब से मिलते ही शिवाजी क्रुद्ध हो उठे, जिस पर उमराव आदि उन्हें मनाकर गुसलखाने के बीच से ले चले –

मिलत ही कुरुख चिकत्ता कौं निरखि कीनौ
सरजा साहस जो उचित बृजराज कौं।
भूषण कै मिस गैर मिसल खरे किये कौं किये
म्लेच्छ मुरछित करिकै गराज कौं।
अरतैं गुसुलखान बीच ऐसे उमराव,
लै चले मनाय सिवराज महाराज कौं।
लखि दावेदार कौ रिसानौ देखि दुलराय
जैसे गड़दार अड़दार गजराज कौं। (३३)

छन्द सं० १८६ में पुनः गुसलखाने में ही दुख देने का प्रसंग है –

ह्याँ ते चल्यौ चकतैं सुख देन
कौं गोसलखाने गएँ दुख दीनौ।
जाय दिली-दरगाह सलाह कौं
साह कों बैर बिसाहिकै लीनौ। (१८६)

२४२वें छन्द में भी गुसलखाने में साहस के हथियार से, औरंग की साहिबी (प्रभुत्व) को हिला देने का उल्लेख है –

भूषण म्वैसिला तें गुसुलखाने पातसाही
अवरंग साही बिनु हथ्यर हलाई है।
ता कोऊ अचंभो महाराज सिवराज सदा,
बीरनके हिम्मतै हथ्यार होत आई है। (२४२)

शिवाजी की प्रशस्ति में लिखे हुए एक प्रकीर्णक छन्द में तो भूषण ने स्पष्ट उल्लेख

कर दिया है कि आतंकित औरंगजेब ने बड़ी तैयारी और सावधानी के साथ गुसलखाने में शिवाजी से भेंट की थी –

कैयक हजार किए गुर्ज-बरदार ठाढ़े,
करिकै हुस्यार नीति सिखई समाज की।
राजा जसवन्त कों बुलायकै निकट राखे,
जिनकों सदाई रही लाज स्वामि-काज की।
भूषन तबहुँ ठिठकत ही गुसुलखाने
सिंह-सी झपट मनमानी महाराज की।
हठ तें हथ्यार फेंट बाँधि उमराव राखे
लीनी तब नौरंग ने भेंट सिवराज की। (४४२)

उपर्युक्त उद्धरणों से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि भूषण ने जो इस भेंट का वर्णन किया है, वह इतिहास-सम्मत है और स्थान का निर्देश सही है। यह बात दूसरी है कि कवि के वर्णन में कुछ अतिशयोक्ति और चमत्कार आया हुआ प्रतीत होता है। ऐसा होना स्वाभाविक है क्योंकि कवि ने शिवाजी की वीरता के वर्णनों को अलंकारों के उदाहरण के रूप में उपस्थित किया है।

'शिवराजभूषण' के कुछ सम्पादकों ने प्रसंग के आधार पर यद्यपि 'गुसलखाना' शब्द का अर्थ दरबार खास किया भी है, किन्तु यह अर्थ अभी तक अनुमान पर ही आधारित था। इस स्पष्टीकरण से यह अनुमान अब वास्तविकता में परिणत हो गया है।

३.४ फतेप्रकाश के कर्ता रतन कवि

अठारहवीं शताब्दी विक्रमी के काव्य-ग्रन्थों में 'फतेप्रकाश' भाषा-साहित्य का एक प्रसिद्ध एवं प्रमुख ग्रन्थ माना जाता है। शिवसिंह सरोज तथा उसके पश्चात् के सभी प्रमुख हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में इस ग्रन्थ एवं इसके रचयिता सुकवि 'रतन' का उल्लेख किया गया है।

'रतन कवि' के जीवन-परिचय के सम्बन्ध में अभी तक कोई विशेष सामग्री प्राप्त नहीं हो सकी है। शिवसिंह सरोज में इनको बुंदेलखण्डवासी, सं० १७९८ में 'उ०' तथा राजा फतेशाह बुंदेला, श्रीनगर का आश्रित बतलाया गया है[१], किन्तु सरोजकार के ये कथन तथ्यपूर्ण नहीं हैं। रतन कवि श्रीनगर गढ़वाल-नरेश फतेशाह के यहाँ थे। 'फतेप्रकाश' ग्रन्थ के प्रथम उद्योत की समाप्ति पर यह लेखांश है –

'श्री नगर वासी राजा फतेसाहि मेदिनी साहि आत्मजेन आज्ञप्त'

मेदिनीशाह गढ़वाल-नरेश फतेशाह के पिता का नाम था। फतेप्रकाश के दूसरे उद्योत में अद्‌भुत रस के उदाहरण में जो छन्द है, उसका अन्तिम चरण इस प्रकार है –

---

१. शिवसिंह सरोज, पृ० ७८७, प्र० हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, प्रयाग तथा सरोज-सर्वेक्षण, डा० किशोरीलाल गुप्त, पृ० ६४७ (प्र०सं०)

गढ़वाल नाह फतेशाह शैलगाह तोहि,
जग माँहि जोहि ऐसे ज्ञान गुनियतु है॥४२॥

इस छन्द से भी स्पष्ट है कि फतेशाह गढ़वाल-नरेश थे। यह न तो बुन्देला थे, न बुन्देलखण्डी और न बुन्देलखण्ड के किसी भू-खण्ड के शासक ही। बुन्देलखण्ड के किसी श्रीनगर में किसी फतेशाह राजा का तो पता ही नहीं चलता। सेंगर जी ने भी अन्य किसी 'रतन कवि' का उल्लेख नहीं किया, जो फतेशाह का आश्रित तथा 'फतेप्रकाश' का रचयिता हो। अत: यह निश्चित है कि शिवसिंह सेंगर से अनजाने में यह भूल हो गयी। 'फतेप्रकाश' की प्रति शिवसिंह सेंगर के पुस्तकालय में वर्तमान है। घर में ग्रन्थ रहते हुए भी सेंगर जी ने इस कवि के सम्बन्ध में अशुद्ध सूचना क्यों दी, यह प्रश्न विचारणीय है। इस ग्रन्थ के प्रथम उद्योत के ४७वें छन्द में धुरमंगद बुन्देला की प्रशस्ति है। यह छन्द पंचम कवि का है और उद्धृत किया गया है। 'फतेप्रकाश' में केवल यही छन्द फतेशाह से भिन्न राजा की प्रशंसा में पाया जाता है। 'धुरमंगद' बुन्देला क्षत्रिय था, 'पंचम' यहाँ कवि का नाम है, यह बुन्देलों की उपाधि भी थी, सम्भवत: इस छन्द को फतेशाह के लिए समझकर ही सेंगर जी ने उन्हें बुन्देला लिख दिया है। वास्तव में वह बुन्देला न था।[1]

'फतेप्रकाश' का रचना-काल अथवा 'रतन कवि' का कविता-काल सं० १८३० होना, जो आचार्य शुक्ल जी ने इस आधार पर माना है कि सरोज में इसका जन्मकाल सं० १७९८ लिखा है, सही नहीं है। क्योंकि सरोज का 'उ०' उत्पत्ति का सूचक न होकर, उपस्थिति-काल का सूचक है, फिर सरोज के प्रथम तथा द्वितीय संस्करण में सं० १७९८ नहीं, अपितु सं० १७३८ है, जिसको बाद के संस्करणों में १७९८ कर दिया गया है। अत: सरोज के अनुसार रतन कवि का वास्तविक उपस्थिति-काल सं० १७३८ है।[2]

रतन कवि के आश्रयदाता श्री नगर-नरेश फतेशाह, गढ़वाल गजेटियर के अनुसार अपने पिता मेदिनी शाह की मृत्यु के पश्चात् सं० १७४१ वि० में गद्दी पर बैठे थे और सं० १७७३ वि० तक राज्य करते रहे थे।[3]

रतन कवि कृत 'फतेप्रकाश' कैप्टेन शूरवीर सिंह जी द्वारा सम्पादित होकर सन् १९६१ ई० में भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़ से प्रकाशित हो चुका है। सम्पादक की प्रस्तावना के अनुसार फतेशाह गढ़वाल के पँवार राजवंश के उनचासवें राजा थे और इनका शासन-काल सन् १६९९ से लेकर सन् १७४९ ई० (सं० १७५६-१८०६ वि०) तक है। पुस्तक में फतेशाह का जो चित्र छपा है, उसके नीचे भी उपर्युक्त समय ही मुद्रित है।[4] श्री शूरवीर सिंह जी गढ़वाल के उसी राजवंश से सम्बन्धित हैं, जिसमें महाराज फतेशाह हुए हैं। उनके द्वारा दी हुई सूचना प्रामाणिक होनी चाहिए, किन्तु जब हम फतेशाह

---

१. देखिए, भूषण-विमर्श, पं० भगीरथप्रसाद दीक्षित, पृ० ११८-१२१।

२. दे० सरोज-सर्वेक्षण, पृ० ६४८।

३. गढ़वाल गजेटियर, पृ० ११८।

४. देखिए फतेप्रकाश, प्रस्तावना।

के राज्यकाल को इतिहास की कसौटी पर कसते हैं तो कैप्टेन साहब का कथन सही नहीं उतरता। ऐटिकिंसन के द्वारा दी हुई अल्मोड़ा वाली गढ़राज वंशावली में पृथिवीपत शाह का उत्तराधिकारी बताकर मेदिनी शाह के पुत्र फतेशाह का समय सन् १६८४-१७१६ ई० दिया है। अल्मोड़ा की सूची के अनुसार मेदिनी शाह का राज्य-काल सन् १६६०-१६८४ ई० ठहरता है। 'गढ़वाल गजेटियर' में जो सूचनाएँ दी गयी हैं, वे प्रायः ऐटिकिंसन के आधार पर हैं। गजेटियर में फतेशाह का जो राज्यकाल (सन् १६८४-१७१६ ई०) दिया है, वास्तव में वही ऐतिहासिक संगति में आता है, शूरवीर सिंह वाला नहीं। कारण यह है कि फतेशाह के सन् १६८५, १७०६, १७१७ और १७१६ के दानपत्र प्राप्त हैं। यदि फतेशाह सन् १६९९ ई० में राज्य-गद्दी पर बैठते तो सन् १६८५ ई० में कैसे दानपत्र प्रदान कर सकते थे? अतः सन् १६८४ ई० में ही उनका गद्दी पर बैठना सिद्ध होता है। इसी प्रकार सन् १७१६ ई० तक ही उनका राज्य करना इतिहास से सिद्ध होता है। सन् १७१६ ई० में फतेशाह की मृत्यु होने पर उनके पुत्र दिलीप के हाथ राज्य-शासन आया, किन्तु नौ महीने राज्य करने के बाद राज्य-शासन न जाने किन कारणों से और कैसे उपेन्द्रशाह के हाथ आया। वह भी केवल नौ मास पर्यन्त ही शासन कर सका और उसके बाद दिलीपशाह का पुत्र प्रदीपशाह राज्यासीन हुआ। ऐटिकिंसन के अनुसार वह सन् १७१७ ई० में गद्दी पर बैठा और सन् १७७२ ई० तक उसने शासन किया। प्रदीपशाह के सन् १७२५, १७३४ और १७४५ ई० के भी दानपत्र मिलते हैं। यदि फतेशाह सन् १७४६ ई० तक शासन करते तो प्रदीपशाह के उपर्युक्त सनों के दानपत्र कैसे मिल सकते थे।[१] इससे सिद्ध होता है कि श्री शूरवीरसिंह जी का दिया हुआ समय अशुद्ध है।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हिन्दी-साहित्य के बृहत् इतिहास के षष्ठ भाग (रीतिकाल : रीतिबद्ध) में रतन कवि के सम्बन्ध में जो सूचनाएँ दी गयी हैं, वे प्रायः भ्रामक हैं। अशुद्ध आधार पर आधारित होने के कारण ये अशुद्ध सूचनाएँ दी गयी हैं। स्वतन्त्र शोध का उपयोग नहीं किया गया। उन सबका निराकरण इस लेख में प्रकट किये गये तथ्यों से हो जाता है।

जब रतन कवि के आश्रयदाता फतेशाह गढ़वाली थे तो कवि भी उधर ही का होगा, बुन्देलखण्डी नहीं होगा और इसका रचना-काल भी सं० १७४१-७३ वि० होगा। फतेप्रकाश की प्रतियाँ खोज में भी प्राप्त हुई हैं। खोज-रिपोर्टों में कवि के सम्बन्ध में जो सूचनाएँ दी गयी हैं, वे भी भ्रामक हैं। उनमें कवि को बुन्देलखण्डी मानकर पन्ना-नरेश का आश्रित बताया गया है[२], जो अशुद्ध है।

यह लिखा ही जा चुका है कि फतेप्रकाश का प्रकाशन कैप्टेन शूरवीर सिंह जी अलीगढ़ से करा चुके हैं। यद्यपि सम्पादन अत्यन्त भ्रष्ट है, किन्तु एक अप्रकाशित रचना को प्रकाश में लाने के कारण श्री शूरवीर सिंह जी धन्यवाद के पात्र हैं। प्रस्तावना में

१. देखिए – श्री मुकन्दीलाल बैरिस्टर-एट-ला की 'चित्रकार कवि मोलाराम की चित्रकला और कविता' नामक लेखमाला, हिन्दुस्तानी, भाग ४, अंक ४।

२. देखिए – खोज-रिपोर्ट, सन् १९०६/२६६; १९२३/३६० ए, बी; १९२६/४०६।

कैप्टेन साहब को रतन को भूषण आदि का भाई सिद्ध करने का मोह-सा हो गया है, जो तथ्यात्मक नहीं है। ग्रन्थ के अन्त में लगी पुष्पिका से ग्रन्थकार का नाम 'क्षेमराम' ज्ञात होता है, रतन कवि की छाप है।[१] ग्रन्थ में कवि ने अन्य कवियों के छन्द भी उदाहरण-रूप में दिये हैं। इस ग्रन्थ में काव्य-गुण, व्यंजना, लक्षणा, रस, ध्वनि-भेद, गुणीभूतादि अष्ट व्यंग्य, दोष और अन्त में विस्तारपूर्वक अलंकारों का वर्णन है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में छह उद्योत हैं। उदाहरणों में प्राय: राजा की प्रशंसा के छन्द लिखे गये हैं, जो उत्कृष्ट हैं। भाषा माधुर्ययुक्त शुद्ध ब्रजभाषा है। यह रीति-विषयक एक प्रशंसनीय ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में कुल ४६६ छन्द हैं। प्रत्येक उद्योतानुसार छन्दों की संख्या इस प्रकार है – प्रथम उद्योत ४८, द्वितीय उद्योत १३०, तृतीय तथा चतुर्थ उद्योतों की सम्मिलित संख्या ३३, इसमें एक छन्द की पुनरावृत्ति है, अत: वास्तविक संख्या ३२, पंचम उद्योत ३६ तथा षष्ठ उद्योत २२२, किन्तु इसमें २ छन्दों की पुनरावृत्ति है, अत: वास्तविक २२० हैं। प्राय: विद्वानों ने इस ग्रन्थ में केवल २२२ छन्द होने का ही उल्लेख किया है[२], जो भ्रान्त है। २२२ छन्द तो इसके अन्तिम उद्योत में हैं। 'मिश्रबन्धुविनोद' में इस ग्रन्थ में कुल ४६६ छन्द होना लिखा है[३], जो सही है। सरोज में 'फतेप्रकाश' से दो छन्द उद्धृत हैं, उनमें से एक छन्द तो फतेप्रकाश के प्रकाशित संस्करण में मिल जाता है, किन्तु 'सुन्दर पुरंदर-गयंद.........' से प्रारम्भ होनेवाला छन्द उक्त संस्करण में नहीं मिलता। छन्द स्पष्टत: फतेशाह से सम्बन्धित है। हो सकता है कि यह छन्द सेंगर जी वाली प्रति में हो। अत: कई हस्तलेखों के आधार पर फतेप्रकाश के सम्पादन की आवश्यकता है।

श्री सेंगर जी ने 'फतेप्रकाश' के अतिरिक्त रतन कवि कृत 'फतेभूषण' नामक अन्य ग्रन्थ का भी नामोल्लेख किया है और उससे एक छन्द उदाहरण-रूप में उद्धृत किया है।[४] हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में फतेभूषण के साथ-साथ 'अलंकार-दर्पण' नामक एक और अन्य ग्रन्थ का भी रतन कवि कृत होना लिखा है। 'फतेभूषण' वास्तव में कोई पृथक् ग्रन्थ नहीं है, वरन् फतेप्रकाश को ही अन्यत्र 'फतेभूषण' कहा गया है। हिन्दी-साहित्य के इतिहासों में फतेप्रकाश के छन्द ही 'फतेभूषण' के छन्दों के नाम से उद्धृत किये जाते रहे हैं।[५] कैप्टेन साहब की धारणा भी यही है और उनकी यह धारणा उचित है। मैंने इस बात की पुष्टि कर ली है। सरोज में फतेभूषण से उद्धृत छन्द फतेप्रकाश में मिल जाता है। यही स्थिति अन्यत्र है। डा० किशोरीलाल गुप्त ने अपने 'सरोज-सर्वेक्षण' में विनोद के आधार पर फतेभूषण में ४६६ छन्द होना लिखा है।[६] यह गुप्त जी का भ्रम

---

१. 'इति श्री बदरिकाश्रम विश्रान्त नारायण सान्निध्य संलभ्य संभार सौभाग्य मनोहारि गढ़वार तुरासाह श्री महाराजाधिराज फतेशाह प्रकाशित कविरत्न क्षेमराम कृते फतेप्रकाशे।'

२. देखिए – सरोज-सर्वेक्षण, पृ० ६४८, ६६५ तथा खोज-रिपोर्ट।

३. देखिए – मिश्रबन्धुविनोद, द्वितीय भाग, पृ० ७३२ (द्वि०सं०)।

४. शिवसिंह सरोज, पृ० ७८७ तथा ५०५, प्र० हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

५. देखिए – आचार्य शुक्ल का हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० २७२ तथा दिग्विजय भूषण, पृ० ८४, १२६, ४४७ और ५००।

६. सरोज-सर्वेक्षण, पृ० ६४७। देखिए – मिश्रबन्धुविनोद भी, कवि सं० ८७५।

मात्र है। विनोद में ४६९ छन्द होने का जो उल्लेख है, वह फतेभूषण से सम्बन्धित नहीं हैं, अपितु फतेप्रकाश से सम्बन्धित है। डा० गुप्त ने उसे भ्रम से फतेभूषण से सम्बन्धित समझ लिया है।

'अलंकार-दर्पण' के रचयिता 'रतन', 'फतेप्रकाश' के रचयिता रतन से भिन्न हैं। अलंकारदर्पण वाले रतन ने पन्ना-नरेश हिन्दू पति (शासन-काल सं० १८१५-३४) के लिए इस ग्रन्थ की रचना सं० १८२७ वि० में की थी –

संवत रिस[७] भुज[२] बसु[८] परमेश्वर[१] चरन चारु उर धारो।
फागुन सुदि राका गति भद्दन सुर गुरुवार निवारो॥

'फतेप्रकाश' और 'अलंकारदर्पण' के अध्ययन से भी यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि ये दोनों ग्रन्थ एक ही कवि की रचना नहीं हैं, बल्कि दो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की कृतियाँ हैं। श्री शूरवीर सिंह जी ने अपनी प्रस्तावना में इस बात का निर्णय पुष्ट प्रमाणों से कर दिया है। अतः 'अलंकारदर्पण' को 'फतेप्रकाश' के रचयिता रतन कवि (क्षेमराम) की कृति बताना नितान्त भ्रमात्मक है।

श्रीनगर गढ़वाल-नरेश फतेप्रकाश के आश्रित कवि रतन की एक ही कृति 'फतेप्रकाश' प्राप्त है, जो उत्कृष्ट काव्य-कृति है। हिन्दी-साहित्य की प्राचीन काव्य-कृतियों में 'फतेप्रकाश' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि यह श्री शूरवीर सिंह जी की कृपा से प्रकाशित हो चुकी है, किन्तु इसके एक सुसम्पादित संस्करण की नितान्त आवश्यकता है। आशा है, विद्वान् इस ओर ध्यान देंगे।

३.५ 'राधारमणरससागर' के कर्ता मनोहरदास

'राधारमणरससागर' के कर्ता मनोहरदास[१] 'चैतन्य' (गौडीय) सम्प्रदाय में दीक्षित भक्त थे। हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भिक प्रसिद्ध इतिहास-ग्रन्थ 'मिश्रबन्धु-विनोद', भाग २ के पृष्ठ ४६६ पर इनका परिचय इस प्रकार दिया है –

''नाम – (६११) मनोहर। कविता-काल – १७५७ (द्वि० त्रै० रि०), ग्रन्थ – (१)राधारमणरससागर; (२) नामलीला (पृष्ठ ३८), (३) धर्मपरीक्षा।''

'विनोद' में इनके नाम पर उपर्युक्त तीन ग्रन्थ दिये गये हैं। अब यह देखना है कि क्या सभी ग्रन्थ इन्हीं की कृतियाँ हैं अथवा अन्य किसी मनोहरदास की।

'राधारमणरससागर' निस्सन्देह इन्हीं की कृति है। अपनी इस प्रसिद्ध कृति की रचना इन्होंने संवत् १७५७ में की थी। ग्रन्थ में रचना-काल का स्पष्ट उल्लेख है –

संवत् सत्रै सै सतावन जानि कैं।
सावन बदी पंचमी महोत्सव मानि कैं॥
निरखि श्री राधारमण छवि लडैंतीलाल कौं॥
हरि हाँ मनोहर संपूरन बनराज विचारयौ ख्याल कौं॥

---

१. मनोहरदास रचित ग्रन्थों की पुष्पिकाओं में इनके नामाभिधान 'राय मनोहर' और 'स्वामी मनोहर राय' भी आए हैं।

यह ग्रन्थ बाबा कृष्णदास जी गौडीय (कुसुमसरोवर) की कृपा से संवत् २००८ में प्रकाशित हो चुका है। बाबा जी ने अपने परिश्रम से गौडीय सम्प्रदाय का बहुत-सा अज्ञात एवं अप्रकाशित साहित्य प्रकाश में ला दिया है। इन्होंने अकेलेही वह कार्य कर दिखा दिया है, जो बड़ी-बड़ी संस्थाओं से भी इतने थोड़े समय में नहीं हो सकता। अतः, बाबाजी धन्यवाद के पात्र हैं। अन्य सम्प्रदाय के महानुभावों को भी अपने-अपने सम्प्रदाय का साहित्य इसी प्रकार प्रकाश में लाने के लिए इनसे प्रेरणा लेनी चाहिए।

मनोहरदास जी चैतन्य-सम्प्रदाय के अनुयायी थे, यह पहले ही लिखा जा चुका है। श्रीचैतन्य महाप्रभु के कृपापात्र श्रीगोपाल भट्ट गोस्वामी जी के परिकर में ये श्रीराधारमण जी के सेवक हुए। श्रीगोपाल भट्ट जी के शिष्य श्रीनिवासाचार्य जी, उनके शिष्य श्रीरामचरण जी और उनके शिष्य श्रीरामशरण चट्टराज जी इनके गुरु थे। अपने गुरु तथा गुरु-परम्परा का उल्लेख इन्होंने इस प्रकार किया है –

छप्पय – **श्री चैतन्य कृपालु कृपा करि भट्ट गोपालै।**
तिन श्रीनिवासाचार्य वर्य करुणा कौ आलै॥
रामचरण तिन कृपा चक्रवर्ती विख्याता।
रामशरण चट्टराज कृपा तिन सारहि ज्ञाता।
शुद्ध भक्ति रस राग तिन करुणा करि दीक्षा दई।
दास मनोहर नित्य गुरु पद धूलि सिर पर लई।।२॥

(राधारमणरससागर, मु०प्र०)

प्रकाशित 'राधारमणरससागर' की भूमिका में इनके गुरु का नाम श्रीरामचरणचट्टराज लिखा है। डा० किशोरीलाल गुप्त ने भी 'सरोज-सर्वेक्षण' (पृ० ५७१) में मनोहरदास के गुरु का नाम रामचरणचट्टराज लिखा है, जो अशुद्ध है। बाबा कृष्णदास जी द्वारा प्रकाशित अन्य ग्रन्थ 'प्रियादासग्रन्थावली' तथा वैष्णवदास-कृत 'गीतगोविन्द' की भूमिकाओं में इन्हें श्रीनिवासाचार्य जी का शिष्य लिखा है, जो इनके स्वयं के उपर्युक्त उल्लेख को देखते हुए अशुद्ध है। वैसे ये श्रीनिवासाचार्य तथा श्रीरामचरण जी की शिष्य-परम्परा में आते ही हैं, किन्तु दीक्षा-गुरु इनके श्रीरामशरणचट्टराज थे। यथा, ग्रन्थ के मंगलाचरण में –

प्रथम प्रणाम गुरु श्रीरामशरण नाम, चट्टराज-चरण-सरोज मन भायौ है।
कृपाकरि दीनी दिक्षा, सिक्षा परिचर्या निजु, राधिकारमण वृन्दावन दरसायौ है॥

– आदि ।।१।।

'राधारमणरससागर' सरस रचना है। इसमें श्रीराधारमण जी के हर ऋतु में हर प्रकार के शृंगार, भोग, शयन, विलास, विहार आदि बड़े ही रोचक ढंग से वर्णित हैं। सारी-शुक का परस्पर प्रेम-कलह विशेष आस्वादनीय हैं। खेद है कि सन् १९१२-१४ ई० की 'खोज-रिपोर्ट'[१] में मनोहरदास जी 'साधारण योग्यता' के कवि माने गये हैं। यह ग्रन्थ सन् १९०६-११ ई०, सन् १९४१-४३ ई० की खोजों में भी प्राप्त हो चुका है।

---

१. खोज-रिपोर्ट, सन् १९१२-१४ ई०, पृ० १४१।

'भक्तमाल' की प्रसिद्ध टीका 'भक्तिरसबोधिनी' के टीकाकार प्रियादास जी इनके शिष्य थे। मनोहरदास जी अपने समय में वृन्दावन के प्रसिद्ध रसिक भक्तों में थे। 'हस्त० हिन्दी-पुस्तकों के संक्षिप्त विवरण'[1] (१९००-१९११), भाग १ का यह उल्लेख कि 'इनके विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं', ठीक नहीं जान पड़ता; क्योंकि 'राधारमणरससागर' से हमें इनके सम्प्रदाय, गुरु और रचना-काल का तो कम-से-कम बोध हो ही जाता है। (स्वरचित 'अनुरागवल्ली' में भी इन्होंने अपना परिचय दिया है।)

अब 'नामलीला' पर विचार कीजिए। 'विनोद' में इस ग्रन्थ का न तो कोई उद्धरण ही दिया गया है और न रचना-काल आदि का ही उल्लेख है। केवल कोष्ठ में ३८ पृष्ठों का संकेत है। 'खोज-रिपोर्टों' आदि से भी इस ग्रन्थ के निर्णय में कोई सहायता प्राप्त नहीं होती। एक बहुत ही क्षीण सूत्र मिलता है, जिसके आधार पर इसकी वास्तविकता जानने का प्रयत्न किया जाता है।

मनोहरदासजी-कृत 'राधारमणरससागर' की लगभग सभी प्रतियों के प्रारम्भ में ऐसा लिखा प्राप्त होता है –

अथ श्रीराधारमगरससागर नामलीला लिख्यते।

श्रीराधारमणे जयति अथ श्रीराधारमणरससागर नामलीला मनोहरदासकृत लिख्यते।

इससे ऐसा ज्ञात होता है कि 'राधारमणरससागर' के साथ 'नामलीला' का भी उल्लेख देखकर सम्भवतः मिश्रबन्धुओं ने भ्रम से 'राधारमणरससागर' ग्रन्थ के अतिरिक्त 'नामलीला' को भी स्वतन्त्र ग्रन्थ समझकर उसका उल्लेख कर दिया। गौडीय सम्प्रदाय में भी मनोहरदास जी-कृत 'नामलीला' नाम के किसी ग्रन्थ की प्रसिद्धि नहीं है। केवल 'राधारमणरससागर' ग्रन्थ के नाम के साथ ही 'नामलीला' का उल्लेख मिलता है। अतः 'नामलीला' नाम का कोई ग्रन्थ मनोहरदासजी-कृत नहीं है। वस्तुतः उक्त उल्लेख का अर्थ इतना ही है कि 'राधारमणरससागर' नामक लीला-ग्रन्थ पूर्ण हुआ। 'नाम' का अर्थ है – 'नाम्नी लीला' अर्थात नामक लीला।

अब 'धर्मपरीक्षा' को लीजिए। ग्रन्थ के अवलोकन से ज्ञात होता है कि 'धर्मपरीक्षा' भी वस्तुतः इनकी कृति नहीं है। यह जैनधर्मावलम्बी मनोहरदासजी की कृति है। यह 'अमितगति'-कृत इसी नाम के संस्कृत-ग्रन्थ का मनोहरदासजी-कृत पद्यानुवाद है। इसमें एक काल्पनिक कथा के द्वारा विभिन्न मत-मतान्तरों का विवेचन किया गया है। ग्रन्थ का आरम्भ श्रीअरिहन्तदेव जी के मंगलाचरण से होता है –

सोरठा – **प्रणमो अरिहंतदेव, गुरनि ग्रन्थ दया धर्म।**
भवदधि तारण एव, अवर सकल मिथ्यात् भणि ॥१॥

उक्त जैन मनोहरदास जी का उल्लेख 'मिश्रबन्धु-विनोद'[2] में इस प्रकार हुआ है–

"नाम – (३४६/२) मनोहरलाल जैन। ग्रन्थ – धर्मपरीक्षा। रचना-काल – १७०५।"

धर्मपरीक्षाकार के रूप में मनोहरदास का उल्लेख 'मिश्रबन्धु-विनोद', भाग ४ के

१. अब यह सं० वि० ५५ वर्षीय (१९००-१९५५ ई०) संक्षिप्त-विवरण में समाहित हो चुका है।
२. मिश्रबन्धु-विनोद, भाग २, पृ० ४३०।

पृष्ठ ८३ पर भी हुआ है –

"नाम – (३४६/१) मनोहरदास सोनी, सांगानेर। ग्रन्थ – धर्मपरीक्षा। रचना-काल– सं० १८६६। विवरण – ग्रन्थ का विषय धार्मिक है।

यथार्थतः धर्मपरीक्षाकार के उपर्युक्त 'विनोद' के दोनों विवरण एक ही हैं। प्रथम विवरण में 'धर्मपरीक्षा' का रचना-काल १७०५ और दूसरे विवरण में संवत् १८६६ दिया है। 'हस्तलिखित हिन्दी-पुस्तकों के संक्षिप्त विवरण' (१६००-१६११ ई०), प्रथम भाग (प्र०सं०) के पृष्ठ ७१ पर इसका रचना-काल संवत् १७७५ लिखा है।

'धर्मपरीक्षा' का वास्तविक रचना-काल संवत् १७०५ ही है। इस सम्बन्ध में शेष उल्लेख नितान्त अशुद्ध है। ग्रन्थ में संवत् १७०५ का स्पष्ट निर्देश है।

सत्रह सै पंचोत्तरै, पौष दसै गुरुवार,
शुभ बेला ग्रह शुभ लगत कियौ महूरत सार।

सम्भवतः मिश्रबन्धु अपने 'विनोद' के दूसरे उल्लेख में भूल से प्रतिलिपि-काल को ही रचना-काल लिख गये। जान पड़ता है, ऐसे ही 'खोज' के अन्वेषक महोदय ने 'सत्रह सै पंचोतरे' को संवत् १७७५ समझकर उसका उल्लेख कर दिया। वास्तव में 'पंचोतरै' का अर्थ राजस्थान में ५ (पाँच) ही होता है।

जैन मनोहरदास जी ने अपना परिचय ग्रन्थ में इस प्रकार दिया है –

कविता मनोहर, खंड़ेलवाल सोनी जाति,
मूल संघी मूल जाकौ सांगानेर वास है।
कर्म के उदय तैं धामपुर में बसन भयौ,
सब सौं मिलाप पुनि सज्जन को दास है।
व्याकरण छंद अलंकार कछु पढ़्यौ नाहिं,
भाषा मैं निपुन तुच्छ बुद्धि को प्रकास है।
बाईं दाहिनी न कछु समझै संतोष लियौं,
जिनकी दुहाई जाकैं, जिनही की आस है॥

जैन मनोहरदास जी सोनी गोत्रीय, खंड़ेलवाल जैन, मूलतः साँगानेर के निवासी थे। बाद में 'धामपुर' जाकर रहने लगे थे। वहाँ इन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की। इनका 'मनोहरदास' तथा 'मनोहरलाल' दोनों नामों से परिचय प्राप्त होता है।

आश्चर्य है कि जैन साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान्, लखनऊ-निवासी श्री ज्योतिप्रसाद जी जैन ने 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका'[1] में जैन मनोहरदासजी-कृत 'धर्मपरीक्षा' को संस्कृत-ग्रन्थ का हिन्दी 'गद्यानुवाद' लिखा है और मनोहरदास जी का बाद में 'धामपुर' के स्थान पर 'धानपुर' जाकर रहने का उल्लेख किया है।

मेरे विचार से स्यात् छापे की गड़बड़ी से ही 'पद्यानुवाद' के स्थान पर 'गद्यानुवाद' तथा 'धामपुर' के स्थान पर 'धानपुर' छप गया है।

---

१. नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, भाग ५६, अंक २, पृष्ठ १७८-१७६।

इस विवेचन से सिद्ध है कि 'धर्मपरीक्षा' नामक ग्रन्थ गौडीय मनोहरदासजी-कृत न होकर जैन मनोहरदासजी-कृत है।

चैतन्य-सम्प्रदायी मनोहरदासजी-कृत निम्नलिखित दस रचनाएँ प्राप्त हुई हैं, जो सम्प्रदाय में प्रसिद्ध हैं – १. अनुरागवल्ली, २. गौरगुणावली, ३. वैष्णव संकीर्तन, ४. प्रार्थना, ५. स्फुट पदावली और रेखता, ६. रसिक कर्णाभरण (लीला), ७. राधारमणरससागर, ८. सम्प्रदायबोधिनी, ९. क्षणदा गीत चिन्तामणि और १०. रसिक जीवनी या रसक्रम-पद्धति। अब सभी रचनाओं का संक्षेप में परिचय दिया जा रहा है –

१. अनुरागवल्ली – यह इनकी प्रथम ज्ञात रचना है और इसका प्रकाशन भी हो चुका है। मनोहरदास जी बंगाली थे। उनकी सं० १७५३ में रचित यह प्राथमिक रचना बंगला भाषा में है। इसमें उन्होंने अपने परात्पर गुरु श्री निवासाचार्य का चरित्रास्वादन कराया है। इसमें कवि ने अपना परिचय भी दिया है। ग्रन्थकार ने निजमत संस्थापन हेतु अनेक प्राचीन ग्रन्थों से संस्कृत-श्लोक भी उद्धृत किये हैं।

२. गौर गुणावली – यह रचना अपने नाम के अनुरूप महाप्रभु चैतन्य का अति संक्षिप्त चरित काव्य है। इसमें कुल २४ छन्द हैं। रचना की भाषा बड़ी प्रवाहमयी है।

३. वैष्णव संकीर्तन – यह छोटी-सी रचना राग रामकली में निबद्ध है और चैतन्य भक्तों का नाम स्मरण-भर करती है। इसे 'ब्रज बुलि' का पद कहना ठीक होगा।

४. प्रार्थना – यह लघु रचना पूर्णत: आर्त्त-पत्रिका है। इसमें उपासना-रहस्य का निदर्शन हुआ है। यह राग विहागड़ा में निबद्ध है। प्रियादास-कृत 'चाहवेली' पर इसका प्रत्यक्ष प्रभाव परिलक्षित होता है।

५. स्फुट पदावली और रेखता – मनोहरदास द्वारा रचित स्फुट छन्दों तथा रेखता (खड़ीबोली में फारसी-शब्दबहुल रचना) परक छन्दों का संकलन-ग्रन्थ है। अन्यत्र भी इनके स्फुट छन्द संग्रह-ग्रन्थों में मिलते हैं। इन सबको एक स्थान पर संकलित करने की आवश्यकता है।

६. रसिक कर्णाभरण (लीला) – यह मनोहरदास जी की नव प्राप्त रचना है, जिसको प्रकाश में लाने का श्रेय डा० नरेश बंसल को है और उन्हीं के द्वारा सम्पादित होकर वृन्दावन शोध-संस्थान, वृन्दावन से इसका प्रकाशन हो चुका है। इसका रचना-काल सं० १७५४ है। उनके द्वारा रचित यह ग्रन्थ एक सान्द्र लीलाकाव्य है। यह रसिक अर्थात् मधुरोपासकों के कानों का आभरण (आभूषण) है। यह लीला कानों को अपने ध्वनि और नाद-सौन्दर्य से भूषित रखती है। इसे सुनकर या पढ़कर रसिक चित्त चिन्मय रस से पुष्ट हो जाता है और कर्णेन्द्रिय के सन्निकर्ष से अन्तरतम रसप्लुत हो जाता है। इसीलिए कवि ने इसका अभिधान 'रसिक कर्णाभरण' रखा है। रचना सरस है और रीतिकालीन भक्ति-काव्य की एक अनूठी कृति है। इसमें कुल ३८६ छन्द हैं, जिनमें रोला ३७९, दोहा ४, सोरठा १, छप्पय १ और एक कवित्त है। रचना में सिद्धान्त, रस-दृष्टि और सौन्दर्य का गहन चित्रण हुआ है।

७. राधारमणरससागर – सं० १७५७ में रचित कवि की यह श्रेष्ठ एवं मनोहारी रचना

है। कवि की दृष्टि सौन्दर्याप्लावित है। उन्होंने इसमें अपने इष्टदेव की छिन-छिन नव-नवीन भाव-भक्ति महामाधुरी और लीला का कल गायन किया है। रचना में मुहावरों और लाक्षणिक प्रयोगों की सजीव छटा देखते ही बनती है। इसमें १०५ कवित्त, ६ छप्पय, १ तृपदी छन्द और एक अरिल्ल छन्द प्रयुक्त हुआ है।

८. **सम्प्रदाय-बोधिनी** – इसमें श्री, ब्रह्म, रुद्र और सनक – इन चारों सम्प्रदायों की गुरु-प्रणाली आकलित है। सम्प्रदाय-परम्परा-ज्ञान के लिए यह एक लघु, किन्तु संदर्भ-कृति है। इसमें रचना-काल का अभाव है, किन्तु सं० १७७६ में लिपिबद्ध इसकी एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त है। इसका प्रकाशन हो चुका है, किन्तु उसमें इसका लिपिकाल सं० १७०७ अशुद्ध छपा है। डा० प्रभुदयाल मीतल के विचार में यह रचना किसी अन्य मनोहरदास की है, किन्तु उनका यह विचार निराधार है। निर्विकल्प रूप से यह रचना चैतन्य-सम्प्रदायी मनोहरदास की ही कृति है। रचना के आदि में कवि ने अपने गुरुदेव रामशरण चट्टराज का स्पष्ट उल्लेख किया है।

९. **क्षणदा गीत चिन्तामणि** – यह रचना श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती के 'क्षणदागीत चिन्तामणि' की पद्धति पर विरचित है। इसमें ब्रजभाषा के पूर्ववर्ती और समकालीन विशिष्ट कवियों की रचनाएँ भी संकलित हैं। इस रचना में श्री राधागोविन्द की शृंगारिक ब्रजलीला का रस-सिद्ध वर्णन है। इस संग्रह में कृष्ण प्रतिपदा से लेकर पूर्णिमा-पर्यन्त तीस क्षणदाएँ हैं। ये सभी कृष्ण-लीलाओं पर आधृत हैं। इसके दो विभाग हैं – (क) कृष्ण क्षणदा और (ख) शुक्ल क्षणदा। 'रास' विषयक पदों की संख्या अधिक है। इसमें विभिन्न कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायों के ४४ प्रतिनिधि वाणीकारों के राग-रस-सन्निष्ठ पद संकलित हैं। यह एक प्रकार से नित्य-विहार का संग्रह-ग्रन्थ है। इसमें रचना-काल का अभाव है। इसका प्रकाशन हो चुका है। संकलन हृदयग्राही है।

१०. **रसिक जीवनी / रसक्रम पद्धति** – इसमें विविध कृष्ण-भक्ति सम्प्रदायभुक्त प्राय: ४० रसिक कवियों की वाणी आकलित है, जिनमें चैतन्य-सम्प्रदाय के कवियों की संख्या अधिक है। यह रचना पद, दोहा, कवित्त, सवैया आदि शैली में रची गयी है। इसमें शैया कुंज विहार के पद अधिक हैं। साथ ही मिलन, मान, अभिसार, प्रणय, विरह के पद भी इसमें संकलित हैं। इसमें रचना-काल नहीं दिया हुआ है और इसका प्रकाशन हो चुका है।

अत: निष्कर्ष यह है कि –

१. गौडीय मनोहरदासजी-कृत, 'मिश्रबन्धु-विनोद' में इनके नाम पर उल्लिखित तीनों ग्रन्थों में केवल एक ही ग्रन्थ 'राधारमणरससागर' है। सम्प्रदाय में इनके अन्य नौ ग्रन्थ और प्राप्त एवं प्रसिद्ध हैं।
२. 'नामलीला' नाम का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। यह 'राधारमणरससागर' नामक ग्रन्थ के नाम का केवल अल्पांश मात्र है।
३. 'धर्मपरीक्षा' नामक अन्य ग्रन्थ गौडीय मनोहरदास-कृत न होकर, जैन मनोहरदास-कृत है और इसका रचना-काल संवत् १७०५ वि० है।
४. चैतन्य-सम्प्रदायी मनोहरदास जी श्रीरामशरणचट्टराज जी के शिष्य थे।

५. इनका समय संवत् १७५७ के आस-पास था।

पुनश्च : यहाँ एक भ्रमात्मक विवरण का और निवारण कर दूँ, जिससे यह भ्रम-शृंखला आगे न बढ़े। इसी विचार से इसका उल्लेख कर रहा हूँ –

काशी ना०प्र० सभा द्वारा प्रकाशित 'हस्तलिखित हिन्दी-पुस्तकों के संक्षिप्त विवरण' (सन् १६००-१६५५ ई०) में मनोहरदास जी की रचनाओं का विवरण 'किशोरीदास' के नाम से दिया गया है (दे० भाग १, पृ० १६३ व भाग २, पृ० १३४), जो अशुद्ध है। यहाँ उल्लेख है – 'किशोरीदास – वास्तविक नाम मनोहरदास' और रचनाओं के नामों में दोनों की रचनाओं का घालमेल है, क्योंकि किशोरीदास और मनोहरदास एक ही व्यक्ति न होकर दो भिन्न व्यक्ति हैं और दोनों की रचनाएँ अलग-अलग हैं।

इस भ्रामक स्थिति पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि इस भ्रम का आरम्भ सन् १६१७-१६ की खोज-रिपोर्ट से हुआ है और फिर आगे तो इन दोनों को एक ही मान लिया गया है। उक्त खोज-रिपोर्ट में (दे० सं० ६८) मनोहरदासजी की सुप्रसिद्ध रचना 'राधारमणरससागर' को किशोरीदास की रचना के रूप में विवृत्त किया गया है। जिस हस्तलेख का विवरण दिया गया है, वस्तुतः उसमें एक ही रचना न होकर दो रचनाएँ हैं। प्रारम्भ में जो रचना लिपिबद्ध है, वह किशोरदास की बानी है और खंडित है। दूसरी रचना 'राधारमणरससागर' है, जो पूर्ण है, किन्तु अन्वेषक ने यदि थोड़ा भी ध्यान दिया होता, तो यह भ्रम की स्थिति पैदा न होती। 'राधारमृणरससागर' की जिस प्रति का विवरण इस खोज-रिपोर्ट में है, उसी प्रति का विवरण सन् १६१२-१४ (१०६) की खोज-रिपोर्ट में आ चुका है। दोनों प्रतियाँ एक ही स्थान की हैं और दोनों का लिपिकाल सं० १८८३ है। पता नहीं, किशोरीदास की बानी इसमें कैसे जुड़ गयी ? सम्भव है, ग्रन्थ-स्वामी ने ही इन दोनों को जोड़ दिया हो।

सं० १६०६-११ (१६१) की खोज में भी 'राधारमणरससागर' का विवरण है, जो मनोहरदास की रचना है और किशोरीदास की भी एक रचना का विवरण सं० १५२ पर दिया हुआ है। यहाँ दोनों का विवरण अलग-अलग संख्याओं पर दिया गया है। यदि दोनों एक ही होते तो एक ही संख्या पर विवरण दिया होता। इससे स्पष्ट है कि दोनों कवि भिन्न हैं।

'सं०वि०' में उल्लिखित पाँच रचनाओं में से केवल एक रचना 'राधारमणरससागर' मनोहरदासजी की है और शेष चार रचनाएँ – १. किशोरदास जी की बानी, २. नंद जी की वंशावली, ३. वंशावली बृषभानुराय की तथा ४. हरिकीर्तन – किशोरीदास की हैं। इनमें भी दो रचनाएँ – १. किशोरदास जी की वाणी तथा २. हरिकीर्तन चैतन्य संप्रदायी किशोरदास की हैं और अन्य दो रचनाएँ १. नंद जी की वंशावली एवं २. वंशावली बृषभानुराय की – राधावल्लभी किशोरीदास की हैं। इन चारों का मनोहरदास जी से कोई सम्बन्ध नहीं है और न मनोहरदास जी का अन्य नाम किशोरीदास था।

३.६ प्रियादास और उनकी रचनाएँ

नाभादास जी (नारायणदास)-कृत 'भक्तमाल' के प्रसिद्ध टीकाकार प्रियादास जी

का नाम भक्ति-जगत् के साथ-साथ साहित्य-संसार में भी प्रख्यात है। 'भक्तमाल' के टीका-टिप्पणीकारों में उनका स्थान सर्वोपरि है। भक्ति-साहित्य का अध्येता उनका परिचय पाने को उत्सुक रहता है, किन्तु यह आश्चर्य की बात है कि ऐसे सुविख्यात भक्त कवि के प्रामाणिक जीवन-वृत्तान्त का विशेष परिचय प्राप्त नहीं होता है। उन्होंने अपनी रचनाओं में अपने गुरु के नाम और रचनाकाल के अतिरिक्त अपने सम्बन्ध में और कोई बात नहीं बतलाई है।

गुजराती भक्तमाल के आधार पर उनके जीवन-परिचय से सम्बद्ध एक उल्लेख मिलता है, किन्तु वह कहाँ तक प्रामाणिक है, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। वह उल्लेख इस प्रकार है –

सूरत नगर परम सुहावन। रामपुरा इक ग्राम सुपावन।।
तामैं वामदेव अस नामा। रह्यौ एक द्विजवर मतिधामा।।
मति अति विमल अमल गति ताकी। निसि-दिन हरि-पदरति छाकी।।
रही तासु तिय गंगा बाई। सो हरि-कृपा भक्ति वर पाई।।
तासु कुमार भये प्रियदासा। जासु सुजस जग कियौ प्रकासा।।[१]

उक्त उल्लेखानुसार प्रियादास जी का जन्म ब्राह्मण-कुल में सूरतनगर के निकटवर्ती रामपुरा नामक ग्राम में हुआ था। उनके पिता का नाम वामदेव और माता का नाम गंगाबाई था। ये दोनों अत्यन्त सदाचारी और भगवद्भक्त थे।

बाबा कृष्णदास जी ने प्रियादासजी-कृत छोटी रचनाओं की एक पुस्तिका प्रकाशित की है। उसके आरम्भ में उन्होंने प्रियादास जी का जो संक्षिप्त परिचय दिया है, वह प्रायः उक्त उल्लेख के अनुसार ही है। केवल इतना अन्तर है कि उसमें 'रामपुरा' को 'राजपुरा' और 'वामदेव' को 'वासुदेव' लिखा गया है।[२] बाबाजी के कथन का आधार क्या है, इसे उन्होंने स्पष्ट नहीं किया है। अतः, यह निश्चित नहीं होता कि उक्त उल्लेख छापे की भूल के कारण है अथवा उन्हें इसी रूप में प्राप्त हुआ है। मेरे विचार से यह छापे की भूल ही है।

डा० किशोरीलाल गुप्त ने अपने 'सरोज-सर्वेक्षण' में, खोज में प्राप्त 'प्रियादास-चरितामृत' नामक रचना के आधार पर प्रियादास जी का विरक्ति-पूर्व नाम 'कृष्णदत्त' होने का उल्लेख किया है[३], किन्तु यह उनका भ्रम ही है। द्रोणाचार्य त्रिवेदी ने अपने गुरु 'प्रियादास' का जीवनचरित 'प्रियादासचरितामृत' नाम से सं० १६१० वि० में लिखा था। ये प्रियादास रीवाँ-नरेश महाराजा विश्वनाथ सिंह के भी गुरु थे और राधावल्लभ-सम्प्रदायानुयायी थे।[४] अतः, डा० गुप्त का यह उल्लेख अशुद्ध है।

---

१. 'भक्तभारत' में प्रकाशित लेख 'भक्तमाल के टीकाकार श्री प्रियादास जी' श्री प्रभुदयाल मीतल द्वारा लिखित 'चैतन्यमत और ब्रजसाहित्य' नामक ग्रन्थ के पृ० २४२ पर उद्धृत।

२. प्रियादास-ग्रन्थावली, दो शब्द, पृ० १।

३. सरोज-सर्वेक्षण, पृ० ४३०, सं० ४६६।३६६ (प्र० संस्करण), हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद।

४. हस्तलिखित हिन्दी-पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण, पहला भाग (सन् १६००-१६११ ई०), पृ० ६२ (प्र०सं०)। यह अब ५५ वर्षीय (१६००-१६५५) संक्षिप्त विवरण में समाहित हो गया है। दे० पृ० ६०१ (प्र०भा०)

प्रियादास जी ने अपनी रचनाओं में श्रीचैतन्य महाप्रभु की वन्दना के साथ अपने गुरु के नाम और रचनाकाल का उल्लेख किया है। उससे ज्ञात होता है कि प्रियादास जी चैतन्य-सम्प्रदायी थे और उनके गुरु वृन्दावन के मनोहरदाय जी थे[१], जो गोपालभट्ट गोस्वामी की शिष्य-परम्परा में हुए हैं।[२] उनकी दो रचनाओं के रचनाकाल[३] के आधार पर श्री प्रभुदयाल मीतल ने उनके जन्म तथा मृत्युकाल का अनुमान किया है। मीतल जी के अनुसार प्रियादास जी का जन्म सं० १७३० के लगभग और देहावसान सं० १८०० के लगभग होना माना गया है[४], जो उपयुक्त प्रतीत होता है।

ऐसा ज्ञात होता है कि प्रियादास जी किशोरावस्था में ही अपने जन्मस्थान से वृन्दावन आ गये थे। वहाँ आने पर उन्होंने मनोहरराय (मनोहरदास) जी से चैतन्य-मत की दीक्षा ली। तत्पश्चात् उन्होंने तीर्थाटन किया। अनेक तीर्थस्थानों की यात्रा करने के पश्चात् वे गलताश्रम पहुँचे और वहाँ उन्होंने कुछ समय तक निवास किया। वहाँ रहते हुए ही उन्हें भक्तमाल-टीका लिखने की प्रेरणा हुई थी। टीका लिखने की आज्ञा का उल्लेख उन्होंने अपनी रचना के आरम्भ में ही किया है –

महा प्रभु कृष्ण चैतन्य मन हरन जू, चरन कौ ध्यान मेरे नाम मुख गाइयै।
ताही समय नाभा जू ने आज्ञा दई लई धारि, टीका विस्तारि भक्तमाल की सुनाइयै।।
कीजियै कवित्त बन्ध छन्द अति प्यारो लगै, जगै जग माँहि कहि बानी बिरमाइयै।
जानौं निजमत, ऐ पै सुन्यौ भागवत, सुक द्रु मनि प्रबेस कियौ ऐसेई कहाइयै।।

प्रियादास जी के उक्त कथन से कुछ विद्वानों को भ्रम हो गया है। सामान्यतया समझा जाता है कि प्रियादास जी नाभादास जी के शिष्य थे और उन्हीं की आज्ञा से उन्होंने भक्तमाल की टीका की थी[५], किन्तु तथ्य यह नहीं है। नाभादास जी रामानन्द-सम्प्रदाय के थे और प्रियादास जी गौडीय सम्प्रदाय के वैष्णव थे। नाभादास जी ने इनको प्रत्यक्ष भौतिक शरीर से कोई आज्ञा नहीं दी थी। वास्तव में, प्रियादास जी को ध्यानावस्था में नाभा जी की आज्ञा का आभास हुआ था। टीका करने की यह मानसिक आज्ञा थी, जैसा

---

१. (क) महाप्रभु कृष्ण चैतन्य मनहरनजू के चरन कौ ध्यान मेरे, नाम मुख गाइयै।।

x x x x x x

जन मन हरि लाल मनोहर नाम पायौ, उनहू कौ मन हरि लीनौ, तातैं राय है।
इनहीं के दास-दास प्रियादास जानौ,
तिन लै बखानौ मानो टीका सुखदाई है। (भक्तमाल-टीका)

(ख) महाप्रभु चैतन्य हरि रसिक मनोहर नाम। (रसिक मोहिनी)

२. गोपालभट्ट, श्रीनिवासाचार्य, रामचरण चक्रवर्ती, रामशरण चट्टराज, मनोहरराय।

३. संवत प्रसिद्ध दस सात सत उन्हत्तर, फाल्गुन ही मास।
बदी सप्तमी बिताय कै।। (भक्तमाल-टीका)
संवत दस सै, सात सै, नब्बै और बढ़ि चार।
तिथि त्रितिया बैसाख सुदि, प्रगट्यौ सत मनि हार।। (रसिकमोहिनी)

४. चैतन्यमत और ब्रज-साहित्य, पृ० २४३, (प्र०सं०)।

५. मिश्रबन्धु-विनोद, प्रथम भाग, पृ० ३४८ (द्वि०सं०); काशी नागरी प्रचारिणी सभा के खोज-विवरण तथा हिन्दी-साहित्य के विभिन्न इतिहास-ग्रन्थ।

उन्होंने स्वयं अपने कथन में बतलाया है। नाभा जी तथा प्रियादास जी को भ्रमवश समकालीन समझने के कारण उक्त विद्वानों ने नाभा जी की विद्यमानता का काल समझने में भूल की है।[1] वास्तव में, नाभा जी का देहावसान तो प्रियादास जी के समय से काफी पहले ही हो चुका था।

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के संक्षिप्त खोज-विवरण के अनुसार प्रियादास जी, रसजानिदास के गुरु और वैष्णवदास के पिता थे। खोज-विवरण का यह उल्लेख अशुद्ध है। वस्तुत:, 'रसजानि वैष्णवदास' एक ही व्यक्ति का नाम है। ये प्रियादास जी के पौत्र थे तथा इनके गुरु का नाम हरिजीवन था। इनका वास्तविक नाम 'वैष्णवदास' था और 'रसजानि' इनका उपनाम। इन्होंने स्व-रचित 'भागवत-माहात्म्य'[2] तथा 'भक्तमाल-माहात्म्य'[3] में इन सब तथ्यों का उल्लेख किया है –

श्रीप्रियादास रस रासि को; पौत्र वैष्णवदास।
ताहि कौ रसजानि तिन, कीनौं नाम प्रकाश॥
श्री हरि जीवनगुरु कृपा, पाय सोई रसजानि।
श्री भागवत महात्म की, भाषा करि बखानि॥

प्रियादास अति ही सुखकारी। भक्तमाल टीका विस्तारी॥
तिनकौं पौत्र परम रंग भीनौं। भक्त हित महात्म यह कीनौं॥

प्रस्तुत परिचय से स्पष्ट है कि इनके पितामह प्रियादास, जिनका उपनाम 'रसरासि' था, भक्तमाल के प्रसिद्ध टीकाकार थे और उन्हीं के द्वारा वैष्णवदास जी का 'रसजानि' उपनाम रखा गया। उक्त साहित्यिक भ्रमों का निवारण मैं अपने 'रसजानि वैष्णवदास' शीर्षक लेख में कर चुका हूँ।[4] अत:, उक्त लेख द्रष्टव्य है। वैष्णवदास जी के कथन इतने स्पष्ट होते हुए भी डा० किशोरीलाल गुप्त का यह लिखना कि 'फिर भी सम्भव है कि प्रियादास के किसी शिष्य का भी नाम रसजानिदास रहा हो'[5] आश्चर्य की बात है। डा० गुप्त का यह अनुमान निरर्थक है।

प्रियादास जी के परम मित्र गोवर्द्धननाथ जी थे, जो राधावल्लभ-सम्प्रदाय के आचार्य थे। ये श्री हितहरिवंशचन्द्र जी के ज्येष्ठ पुत्र गो० वनचन्द्र जी की सुता किशोरी जी के वंश के थे। इनके पिताका नाम श्री रामनाथ था। ये वृन्दावन के निवासी थे। अपने इन्हीं मित्र के द्वारा प्रियादास जी को भी वृन्दावन में निवास करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। प्रियादास जी ने इनके सांथ मिलकर भक्त-चरित्रों तथा भगवत्-लीला का गान किया था। अपने इन परम मित्र गोवर्द्धननाथ जी का, प्रियादास जी ने अपनी भक्तमाल की टीका 'भक्तिरसबोधिनी' के ६३१ संख्यक कवित्त में स्वयं उल्लेख किया है –

---

१. उपरिवत् तथा भक्त-नामावली, पृ० ६२, सं० श्रीराधाकृष्णदास, ना०प्र० सभा, काशी।
२. खोज-विवरण, १९२६-३१ ई०, पृ० ३४५, ना०प्र० सभा, काशी।
३. भक्तमाल, रूपकला-संस्करण (तृ०सं०), पृ० ९६४।
४. 'परिषद्-पत्रिका', वर्ष १, अंक २, पृ० २९-३२।
५. सरोज-सर्वेक्षण, पृ० ४३२।

गोवर्धननाथजू के हाथ पर्‌यो जाको।
कर्‌यो वास वृंदावन लीला मिलि गाई है॥

ये गोवर्द्धननाथ जी अपने समय के प्रसिद्ध भक्त तथा रसिक-समाज के भूषण थे।[1]

प्रियादास जी की मुख्य रचना भक्तमाल-टीका है, जो 'भक्तिरसबोधिनी' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त इनकी चार छोटी रचनाएँ और कही जाती हैं। इनके नाम हैं – १. रसिकमोहिनी, २. अनन्यमोदिनी, ३. चाह बेली और ४. भक्तसुमरिनी। इन चारों छोटी रचनाओं को बाबा कृष्णदास जी ने 'प्रियादास जी की ग्रन्थावली' के नाम से एक पुस्तक में प्रकाशित किया है। यहाँ इनके पाँचों ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है –

१. भक्तिरसबोधिनी टीका : यह नाभाजी-कृत 'भक्तमाल' की ब्रजभाषा-पद्य में सुविस्तृत टीका है। इसकी रचना कवित्तों में हुई है, जिनकी संख्या ६३४ है। इसमें कथित भक्तों के ऐतिहासिक वृत्तान्त की अपेक्षा उनके चमत्कारपूर्ण माहात्म्य को प्रमुखता दी गयी है; फिर भी अनेक ऐतिहासिक तथ्य इसमें मिलते हैं। काव्य की दृष्टि से भी यह सरस और भावपूर्ण रचना है। अनेक स्थानों पर उन्होंने भक्ति और उपासना की जटिल बातों को सरलतापूर्वक समझाने की चेष्टा की है। इस टीका का निर्माण उन्होंने संवत् १७६९ में किया था, जिसका उल्लेख रचना में हुआ है। जिस परिश्रम तथा मनोयोगपूर्वक यह टीका लिखी गयी है, उसके कारण इनका नाम भक्ति और साहित्य के क्षेत्र में सदा अमर रहेगा। प्रियादास जी के बाद तो 'भक्तमाल' के टीका-टिप्पणीकारों की एक परम्परा ही चल पड़ी, जो अभी तक चालू है।

२. अनन्यमोदिनी : इसमें ६९ दोहे और ६ कवित्त हैं, जिनमें उपासना की अनन्यता का कथन किया गया है। इसके लिए सुप्रसिद्ध भक्त कवि हरिराम जी व्यास-कृत ११ पद्यों को उद्‌धृत कर उनके प्रमाण से ही विषय का प्रतिपादन किया गया है।

३. चाह बेली : इसमें ५० अरिल्ल और एक कवित्त है, जिसमें भक्त-हृदय की उत्कंठा का कथन किया गया है।

४. भक्तसुमरिनी : इसमें 'भक्तमाल' और 'भक्तिरसबोधिनी' टीका में उल्लिखित भक्तों की नामावली है, जिसकी रचना किसी राधारमण पुजारी के आग्रह से हुई है। इसे भक्तिरसबोधिनी टीका की अनुक्रमणिका कहना उपयुक्त होगा। इसकी रचना चौपाई छन्द में हुई है। यह वैष्णवों के नित्य पाठ करने की अमूल्य वस्तु है। प्रियादास जी की अन्य रचनाओं की भाँति इसके आरम्भ में भी चैतन्य महाप्रभु जी और मनोहरराय जी की वन्दना है तथा अन्त में उनके नाम की छाप है। इससे यह भी उनकी ही रचना कही जाती है, किन्तु इसे उनके शिष्य चैनराय की कृति भी बतलाया जाता है।[2] ज्ञात नहीं, इस रचना को चैनराय की रचना किस आधार पर बतलाया जाता है, जबकि रचना से इस प्रकार का कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता। अतः, हम इसे प्रियादास जी की रचना के रूप में ही

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिए – मई १९६४ ई० की 'सरस्वती' में प्रकाशित मेरा लेख 'भक्तमाल-टीकाकार प्रियादास जी के मित्र गोवर्द्धननाथ'।

२. दिग्विजयभूषण, पृ० ३५।

स्वीकार करते हैं।

५. रसिकमोहिनी : इसकी रचना दोहों में हुई है, जिनकी संख्या १११ है। वृन्दावन से आरम्भ कर समस्त ब्रजमण्डल की परिक्रमा का कथन हुआ है। इसमें गोलोक से भी अधिक ब्रज की महिमा बतलायी गयी है। ग्रन्थ में रचनाकाल का उल्लेख है, जिससे पता चलता है कि इसका निर्माण सं० १७६४ में हुआ था।

इस प्रकार इसकी रचना भक्तमाल-टीका से २५ वर्ष पश्चात् हुई थी। अत:, यह प्रियादास जी की अन्तिम कृति जान पड़ती है। टीका के अतिरिक्त उपर्युक्त चारों रचनाएँ आकार में बहुत छोटी हैं तथा काव्य की दृष्टि से भी उनका अधिक महत्त्व नहीं है।

उपर्युक्त पाँचों ग्रन्थों के अतिरिक्त खोज में प्रियादास जी के नाम से कुछ पद-संग्रह भी प्राप्त हुए हैं[1], किन्तु इन सबकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। कारण यह है कि प्रियादास नाम से कई भक्त-कवि हुए हैं। अत:, निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि ये समस्त पद-संग्रह टीकाकार प्रियादास जी के ही हैं। हो सकता है कि इनमें से कुछ अन्य प्रियादासों के भी हों। इतना अवश्य निश्चित है कि टीकाकार प्रियादास जी ने भी पदों की रचना की है। इन पद-संग्रहों का जब तक अच्छी तरह परीक्षण न कर लिया जाए, तब तक इनको टीकाकार प्रियादास जी की रचना स्वीकार नहीं किया जा सकता।

'भक्तिप्रभा की सुलोचना टीका' नामक एक और रचना खोज में मिली है।[2] यह ग्रन्थ टीकाकार प्रियादास जी की रचना नहीं है। यह राधावल्लभ-सम्प्रदायी प्रियादास की रचना है और बहुत बाद की है। वार्ड के आधार पर गार्सां द तासी ने प्रियादास की रचना के रूप में भागवत के एक भाषानुवाद का उल्लेख किया है।[3] ग्रियर्सन का भी अनुमान है कि यह भाषानुवाद इन्हीं टीकाकार प्रियादास का है।[4] खोज में भी प्रियादास के नाम से भागवत का एक अनुवाद (भागवत-भाषा) मिला है। सन् १९२९-३१ ई० के खोज-विवरण (पृ० ७०) में प्रियादास जी (प्रसिद्ध टीकाकार) के नाम से चार प्रतियों (सम्पूर्ण द्वादश स्कन्ध, प्रथम स्कन्ध, अष्टम स्कन्ध और द्वितीय स्कन्ध) का उल्लेख है; किन्तु खेद है कि सीड़ और दीमक के कारण नष्ट हो जाने से उपर्युक्त चारों विवरण-पत्र खोज-रिपोर्ट में नहीं छपे हैं। अत: अब इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। फिर भी, मेरा अनुमान है कि भागवत के विभिन्न स्कन्धों की ये प्रतियाँ, रसजानि वैष्णवदास-कृत 'भागवत-भाषा' के स्कन्धों की ही होंगी; क्योंकि रसजानि वैष्णवदास की 'भागवत-भाषा' में प्रियादास जी का नामोल्लेख हुआ है। अत:, सम्भव है कि प्रियादास जी का नामोल्लेख देकर भागवत-भाषानुवाद को उक्त लेखकों तथा खोज के अन्वेषकों ने प्रियादास-कृत समझ लिया हो।

---

१. खोज-रिपोर्ट, १९२० । १३५ डी, १९२६ । ३६१ सी, १९२६। २७३ ई-एफ-जी, १९४१ । १४२।

२. खोज-रिपोर्ट, १९२० ! १३५ सी। उक्त रचना की एक खण्डित प्रति ना०प्र० सभा, काशी के पुस्तकालय में भी है।

३. हिन्दुई साहित्य का इतिहास, पृ० १५७ (प्र०सं०), हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद।

४. हिन्दी-साहित्य का प्रथम इतिहास (सं० ३१९), पृ० १९६।

श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी का एक लेख 'भक्त कवि प्रियादास और उनकी रचनाएँ' नाम से 'हिन्दुस्तानी', भाग २४, अंक ३-४ में 'प्रतिपत्तिका' के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ था। श्री चतुर्वेदी जी ने अपने लेख में प्रियादास जी-विषयक कुछ नवीन तथ्यों को उदघाटित करने की चेष्टा की है, किन्तु वे अपने प्रयास में पूर्णत: असफल रहे हैं। पूरा लेख ही भ्रमों पर आधृत है। टीकाकार प्रियादास जी के सम्बन्ध में जो भी तथ्य प्रकट किये गये हैं, वे सब अशुद्धता से युक्त और भ्रमात्मक हैं। वास्तव में, इन भ्रमों और अशुद्धियों का कारण श्री चतुर्वेदी जी की अनभिज्ञता है। परिचय तो उन्होंने टीकाकार प्रियादास का देना चाहा है, किन्तु भ्रमवश तथ्य किसी अन्य प्रियादास के प्रकट किये हैं और उसी से अशुद्ध निष्कर्षों पर भी पहुँचने की चेष्टा की गयी है। यहाँ लेख की अशुद्धियों एवं भ्रमों का निराकरण किया जा रहा है –

१. 'शिवसिंह सरोज' में उद्‌धृत जिस कवित्त को चतुर्वेदी जी ने प्रियादास के आत्मपरिचय का समझा है, वह कवित्त प्रियादास-रचित तो है, किन्तु 'सरोज' में उनकी कविता के उदारहण के रूप में दिया गया है और भक्तमाल-टीका से मीराँबाई के प्रसंग का है।[१]

२. 'मिश्रबन्धु-विनोद' से प्रियादास-विषयक जो अंश लेख में उद्‌धृत किये गये हैं, उनमें अशुद्धियाँ हैं। 'भक्तमाल' के मूल में ३१६ छन्द नहीं हैं और न ही उसकी टीका में ३२४ छन्द हैं। प्रचलित 'भक्तमाल' के मूल में कुल २१४ (१६७ छप्पय तथा १७ दोहे) छन्द हैं और उसकी प्रियादास-कृत टीका में ६३४ छन्द हैं। वे छन्द घनाक्षरी नहीं हैं, बल्कि सब कवित्त (मनहरण) हैं। भागवत-भाषा के सम्बन्ध में विनोदकार का कथन उद्‌धृत कर श्री चतुर्वेदी जी ने लिखा है – "इसका एक उदाहरण भी वहाँ उद्‌धृत कर दिया गया है।" चतुर्वेदी जी का यह उल्लेख अशुद्ध है। विनोद में भागवत-भाषा का कोई उदाहरण नहीं दिया गया है। जिस उदाहरण को उन्होंने भागवत-भाषा का समझा है, वह वस्तुत: भक्तमाल-टीका का है और रूप-सनातन के प्रसंग का है।[२] नाभा जी के टीका-आदेश के सम्बन्ध में पहले विचार किया जा चुका है।

३. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी का यह उल्लेख, जिसे चतुर्वेदी जी ने श्री द्विवेदी जी के 'हिन्दी-साहित्य' नामक ग्रन्थ से उद्‌धृत किया है कि "प्रियादास जी नाभादास जी के शिष्य थे" अशुद्ध है। प्रियादास जी नाभादास जी के शिष्य नहीं थे।

४. रीवाँ-नरेश विश्वनाथ सिंह का संरक्षण जिन प्रियादास को प्राप्त था, वे प्रसिद्ध भक्तमाल-टीकाकार नहीं थे। रीवाँवाले प्रियादास अन्य थे। ये राधावल्लभ-सम्प्रदायी थे और गो० चन्द्रलाल जी के शिष्य थे। टीकाकार प्रियादास और इन प्रियादास के समय में सौ वर्ष का अन्तर है। श्री चतुर्वेदी जी यदि दोनों प्रियादास के रचनाकालों पर विचार कर लेते, तो उक्त भ्रम से बचे रहते। रीवाँवाले प्रियादास, रीवाँ-नरेश विश्वनाथ

---

१. भक्तकाल, रूपकला-संस्करण (तृतीयावृत्ति), पृ० ७१४।
२. उपरिवत्, पृ० ५६३।

सिंह के गुरु थे।[१] 'संगीतरघुनन्दन' के प्रारम्भ के पाँचवे छन्द में, जिसको चतुर्वेदी जी ने पादटिप्पणी में उद्धृत करके, उसके आधार पर विश्वनाथ सिंह की जगह प्रियादास को उक्त ग्रन्थ का रचयिता होने का अनुमान किया है, उल्लिखित प्रियादास का नाम ग्रन्थ-रचयिता के रूप में नहीं आया है, अपितु गुरु-रूप में आया है।

श्रीचतुर्वेदी जी ने अपने लेख में एक स्थान पर लिखा है – "प्रियादास ने अपने को शालीनतावश विनयपूर्वक 'शब्दज्ञानविहीन' बतलाया है। इन्होंने श्री चन्द्रलाल की गुरु-रूप में वन्दना की है और 'दीक्षासारनिर्णय' के अनुसार हरिवंश को 'महाचार्य' सूचित किया है। परन्तु, उक्त महानुभावों के व्यक्तित्व अथवा कृतित्व का कुछ भी पता हमें नहीं है।" श्री चन्द्रलाल तथा श्री हरिवंश के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के सम्बन्ध में जानने का यदि थोड़ा भी प्रयास चतुर्वेदी जी करते, तो उन्हें ऐसा न लिखना पड़ता। श्री चन्द्रलाल जी राधावल्लभ-सम्प्रदाय के एक आचार्य थे। ये हितहरिवंश जी के पुत्र वनचन्द्र जी की सुताकिशोरी जी के वंश में थे। प्रियादास जी के परम मित्र श्री गोवर्द्धननाथ जी इनके पिता थे। 'वृन्दावनप्रकाशमाला', 'उपराधा सुधानिधि की टीका', 'वृन्दावन-शतक की टीका' (केवल पाँच शतकों पर), 'कर्णानन्द की टीका', 'अभिलाषबत्तीसी', 'समयपच्चीसी', 'भावनापच्चीसी' आदि इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। श्रीहरिवंश जी[२] राधावल्लभ-सम्प्रदाय के संस्थापक थे। अपने समय के ये सुप्रसिद्ध वैष्णवाचार्य हुए हैं। 'राधासुधानिधि', 'यमुनाष्टक', 'हितचौरासी' तथा 'फुटकर बानी' इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

रीवाँवाले प्रियादास जी प्रकाण्ड पंडित थे। इन्होंने अनेक संस्कृत-ग्रन्थों की रचना की है। इन्होंने अपने ग्रन्थों में प्रधानतया श्रीमद्भागवत के आधार पर सामान्य भक्ति-सिद्धान्त का बड़ा विशद, मौलिक और विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया है। इनके ग्रन्थों से प्रकट होता है कि इनका भक्ति-ग्रन्थों के साथ वेदान्तशास्त्र पर भी पूर्ण अधिकार था। इन्होंने अपने ग्रन्थों की स्वयं टीकाएँ की हैं। उनमें इन्होंने अपने गम्भीर पाण्डित्य और विवेचन-शक्ति का अच्छा परिचय दिया है। श्री चन्द्रलाल तथा श्री हरिवंश का उल्लेख होने पर भी श्री चतुर्वेदी का भ्रम अक्षुण्ण रहा, यह आश्चर्य ही है।

५. 'भक्तिप्रभा' नामक ग्रन्थ का रचना-काल सं० १८६४ नहीं है, जैसा चतुर्वेदी जी ने उल्लेख किया है, बल्कि सं० १८७१ आषाढ़ बदी ८, शनिवार है।

६. अपने लेख के अन्त में श्री चतुर्वेदी जी ने लिखा है, "प्रियादास अपनी रचना द्वारा वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायी जान पड़ते हैं।" चतुर्वेदी जी का यह उल्लेख नितान्त अशुद्ध है। टीकाकार प्रियादास जी चैतन्य-सम्प्रदायानुयायी थे और भक्तमाल-टीकाकार प्रियादास जी के स्थान पर भ्रम से जिन दूसरे प्रियादास जी का विवरण चतुर्वेदी जी ने अपने लेख में दिया है, वे राधावल्लभ-सम्प्रदायानुयायी थे।

---

१. इस बात का उल्लेख मिश्रबन्धुओं ने भी किया है। दे० मिश्रबन्धुविनोद, तृतीय भाग, पृ० १०४५ (द्वि०सं०)।

२. जन्म-संवत् १५५६ तथा मृत्यु सं० १६०६ वि०।

३.७ रूप रसिक देव : समय और रचनाएँ

वैष्णव-मतान्तर्गत निम्बार्क-सम्प्रदाय का अपना एक विशेष स्थान है। इस सम्प्रदाय में रूप रसिक देव नामक एक भक्त कवि हुए हैं। इनका सम्प्रदायगत इतिवृत्त इस रूप में है। ये दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे, किन्तु उनके पूर्वज पर्याप्त समय पहले उत्तर भारत में आ बसे थे। इनका जन्म इसी भू-भाग में हुआ और यहीं इनकी शिक्षा आदि हुई। ये संस्कृत और ब्रजभाषा के अच्छे विद्वान् थे। उन्हें आरम्भ से ही गृहस्थ जीवन से विरक्ति थी और वे अपने जन्म-स्थान में ३६ वर्ष की आयु तक उपासना, भक्ति, साधु-सेवा एवं धर्म-चर्चा के कार्यों में लगे रहे थे। तदुपरान्त वे सद्‌गुरु की खोज में भटकने लगे। उन्होंने निम्बार्क-सम्प्रदाय के आचार्य श्री हरिव्यास देव की बड़ी महिमा सुनी थी, फलतः वे उनका शिष्यत्व ग्रहण करने के लिए मथुरा-ध्रुवटीला पर पहुँचे। किन्तु हरिव्यास जी तब तक लीला-संवरण कर चुके थे अर्थात् उनका देहावसान हो चुका था। वहाँ उनको हरिव्यास जी के शिष्य परशुराम जी मिले, किन्तु उन्होंने अपने मन में दिवंगत महात्मा को ही अपना गुरु माना और सात दिन तक एक आसन से बैठकर हरिव्यास जी का ध्यान किया। कहते हैं, इनकी परम निष्ठा के कारण हरिव्यास जी ने व्यक्त होकर इन्हें मन्त्र-दीक्षा दी। अतः सम्प्रदाय में इन्हें हरिव्यास जी का ही शिष्य माना जाता है।

श्री हरिव्यास देव ने रूप रसिक जी को महावाणी का उपदेश दिया। महावाणी तो हरिव्यास देव जी ने बनायी थी, किन्तु उसका प्रचार रूप रसिकजी ने किया। हरिव्यास यशामृत, लीला विंशति, नित्य विहार पदावली, बृहदुत्सव मणिमाल आदि रचनाएँ रूप रसिक देव की हैं और सम्प्रदाय में उनका समय विक्रम की १६वीं शती का उत्तरार्ध माना जाता है। उनके सम्बन्ध में उक्त साम्प्रदायिक ऐतिह्य परम्परागत रूप से प्रचलित है[१], ऐसा माना जाता है। किन्तु निवेदन है कि यदि रूप रसिक देव के सम्बन्ध में समस्त प्राप्त सामग्री के प्रकाश में देखें तो उक्त ऐतिह्य की स्थिति संदिग्ध ही है और विचारणीय है। पहले उनके समय पर ही विचार अपेक्षित है।

निम्बार्क-सम्प्रदायानुयायियों के अनुसार इनकी रचना 'लीला विंशति' में उसका रचना-काल 'सं० १५५७' प्राप्त होता है।[२] अतः उनका समय विक्रमीय १६वीं शती का उत्तरार्ध है, किन्तु अन्य जन इन्हें विक्रम की १८वीं शती के उत्तरार्ध में मानते हैं, क्योंकि मुनि कान्तिसागर जी (उदयपुर) के पास प्राप्त 'लीला विंशति' में उसका रचना-काल सं० १७८७ वि० लिखा है।[३] इस प्रकार 'लीला विंशति' का रचना-कालसूचक 'पंद्रह सै सतासिया' एवं 'सतरा सै सतासिया' का द्वंद्व ही उस मत-वैभिन्य के मूल में है।

'लीला विंशति' की श्री निकुंज, वृन्दावन में प्राप्त प्रति में जो सं० १५८७ का उल्लेख

१. दे० हरिव्यास यशामृत, भूमिका, पृ० ३ व निम्बार्क-माधुरी, पृ० ६७-६६।

२. पंदरासैरु सत्यासिया, मासोत्तम आसौज। यह प्रबन्ध पूरन भयो, सुकला सुभ दिन द्योज।।
— लीला विंशति, वृन्दावन-माधुरी, ८२, पृ० ३४।

३. सतरा सै सत्यासिया, मासोत्तम आसौज। यह प्रबन्ध पूरन भयो, सुकला सुभ दिन द्यौज।

है, वह ठीक नहीं है और अशुद्ध है, क्योंकि रूप रसिक जी के द्वारा रचित अन्य ग्रन्थ 'हरिव्यास यशामृत' से इनका समय परवर्ती ही ठहरता है। इस रचना में ऐसे कुछ कवियों का उल्लेख है, जिनका समय १८वीं शताब्दी है।[1] जैसे – हुसेन (१७०८), मीर रुस्तम (१७३५), मीर अब्दुल वाहिद (१७७०), मीर अहमद (१८००), आदि कवि। इसी ग्रन्थ के आधार पर मिश्रबन्धुओं ने अपनी जाँच से इनका कविता-काल सं० १७६० के लगभग माना है[2], जो उचित ही है और फिर मुनि कांतिसागर जी वाली प्रति में स्पष्ट सं० १७८७ का उल्लेख है ही, जो 'हरिव्यास यशामृत' के उल्लेखों के सन्दर्भ में पूरी तरह से सही है। साथ ही यह भी ध्यातव्य है कि उनके मानसिक गुरु हरिव्यास देव जी (जो उनके प्रत्यक्ष गुरु नहीं थे। सम्प्रदाय में यह प्रसिद्धि है कि रूप रसिक जी उनकी मृत्यु के अनन्तर उनके शिष्य बने थे) का समय ही सं० १५८० से सं० १६६० के आसपास तक है, जो नवीनतम शोध द्वारा प्रामाणिक तथ्यों के आधार पर निश्चित किया गया है और हरिव्यास जी के प्रमुख शिष्य परशुराम देव जी, जिनका नामोल्लेख रसिक देव जी ने अपने 'हरिव्यास यशामृत' ग्रन्थ में कई स्थलों पर किया है, का समय सं० १६०० से १६८० के लगभग है[3], जिससे ज्ञात होता है कि रूप रसिक देव, परशुराम देव जी के परवर्ती थे। अत: हरिव्यास देव एवं परशुराम देव के समयों के आधार पर भी 'लीला विंशति' का तथाकथित उक्त समय सं० १५८७ अशुद्ध है और उसके स्थान पर सं० १७८७ वि० ही शुद्ध है और इसी के आस-पास ही रूप रसिक देव जी का समय माना जा सकता है।

रूप रसिक देव सम्बन्धी इधर जो प्राचीन पोथियों के पूर्वाग्रह-रहित प्रमाण मिले हैं, उनसे भी ज्ञात होता है कि वे विक्रम की १८वीं शती के अन्तिम भाग और १६वीं शती के पूर्वार्ध में ही विराजमान थे। यही नहीं, उस सामग्री में उन्हें महावाणी प्रकट करनेवाला भी कहा गया है।

ललित सम्प्रदाय के महात्मा वंशी अलि जी के शिष्य किशोरी अलि की 'बानी' की प्रति वृन्दावन में उपलब्ध है। यह प्रति खण्डित है और वृन्दावन के डा० शरणबिहारी गोस्वामी के पास है, जो कागज लिखावट आदि की दृष्टि से विक्रम की १६वीं शती के बाद की नहीं जान पड़ती। मैंने उक्त प्रति को देखा-परखा है। इस प्रति के अतिरिक्त वृन्दावन में ही किशोरी अलि जी की वाणी की दो और प्रतियाँ मेरे देखने में आयी थीं, जिनमें एक कुल ४७ पत्रों की खंडित प्रति थी तथा दूसरी कलाधर मन्दिर की बड़ी प्रति थी।[4] इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान में रहे कि उक्त 'वाणी' किसी साम्प्रदायिक विवाद से सम्बन्धित नहीं है और इसे प्रकाश में लाने का श्रेय डा० शरणबिहारी गोस्वामी को है,

१. दे० कृष्ण भक्ति-काव्य में सखी भाव, ले० डा० शरणबिहारी गोस्वामी, पृ० ५७७।
२. दे० मिश्रबन्धु-विनोद, द्वितीय भाग, पृ० ५२६। (द्वि० सं०)
३. दे० शोध-पत्रिका, वर्ष १६, अंक २ में प्रकाशित 'श्री श्री भट्ट, हरिव्यास देव तथा परशुराम देवाचार्य का काल-निर्धारण' शीर्षक मेरा लेख।
४. जयपुरस्थ लाड़िली जी के मन्दिर में भी उक्त वाणी की सं० १८३५ की प्रति है। इसके अतिरिक्त एक-दो खंडित प्रति और भी हैं।

क्योंकि सर्वप्रथम उसका उपयोग उन्होंने ही अपने शोध-प्रबन्ध (कृष्णभक्ति-काव्य में सखी भाव) में किया था।

किशोरी अलि जी (सं० १७८०-१८६०) विक्रम की १६वीं शती के पूर्वार्ध के प्रसिद्ध भक्त कवि थे। वे तत्कालीन सन्तों में समादृत थे। प्रस्तुत प्रति में उनकी रचनाएँ तो संकलित हैं ही, उनके बारे में लिखे गये समकालीनों के प्रशंसामूलक छन्द भी संकलित हैं तथा प्रसिद्ध राधावल्लभीय गोस्वामी चन्दलाल जी (सं० १८२५ के लगभग) के साथ उनके पत्र-व्यवहार का भी संग्रह किया गया है। इस प्रकार ग्रन्थ साम्प्रदायिक विवाद से सम्बन्धित न होकर एक प्रसिद्ध महात्मा के महत्त्व-स्थापन का प्रयास है, जो तत्कालीन भक्त-समाज में विरल नहीं है। इस प्रति में २०८ अन्तिम पत्र हैं और बीच-बीच में भी कुछ पत्र खो गये हैं। इसके कुल १६५ पत्र प्राप्त हैं। इसमें रसिक महिमा के अन्तर्गत एक स्थान पर रूप रसिक जी के बारे में प्रशंसा करते हुए कहा गया है –

दोहा – **रूप अनूपम मोहनी मोहन रसिक सुजान।**
रूप रसिक यह नाम धरि प्रगटे नेह निधान॥

पद राग भैरों – **रूप रसिक से रूप रसिक वर।**
दिव्य महाबानी रस सानी प्रगट करन प्रगटे अवनी पर॥
अति रहस्य रस की परिपाटी लखिवे इनकी कोहु न सरवर।
उमड़ि घुमड़ि हिय भाव घटा सों बरसत नित प्रति आनंद को झर॥
गौर स्याम के रंग झकोरे कोरे जे आये नारी नर।
नैंननि की सैंननि सों अलि को दरसायो नव केलि कुंज घर॥

इस पद की अन्तिम पंक्ति से ऐसा लगता है कि किशोरी अलि को रस-रहस्य का कुछ संकेत भी रूप रसिक जी ने दिया था।

प्रति में संकलित गो० चन्दलाल जी की एक पत्री में उन्हें इस रूप में याद किया गया है–

रूप रसिक जन कृपा सों होत सकल मन काज।
प्रीति सहित बंदित रहौं तिनकों मेरी लाज॥

यह पत्री सं० १८२० भाद्रपद कृष्णा एकादशी (सरस दम्पति) गुरुवार की लिखी हुई है।[1]

इस पत्र के उत्तर में श्री जगन्नाथ भट्ट (किशोरी अलि जी) ने जो पत्र लिखा, उसमें भी रूप रसिक जी तक संदेश पहुँचाने एवं उत्तर में उनकी प्रणति लिखी है –

रूप रसिक जी सों कही श्री राधावल्लभ लाल।
उनहूं सुनि हिय हुलसि कै प्रणति करी तिंह काल॥

पुनः गो०चन्द लाल जी के एक अन्य पत्र में रूप रसिक जी को प्रणति निवेदन हेतु लिखा गया है –

---

१. कृष्ण पक्ष भादौं सरस दंपति गुरु सौं हेत।
बिंदु सहित ब्रिबि हित अली अष्ट एक संकेत॥
⟶ ० २ ८ १

रूप रसिक जू सों वहां कहियो अमित प्रणाम।
उनकौं पत्री आप हौ करिहौ सब विधि काम॥

इस पत्र से ज्ञात होता है कि गो० चन्दलाल जी और रूप रसिक जी में प्रत्यक्ष पत्र-व्यवहार की घनिष्ठता नहीं थी, परन्तु पारस्परिक समादर का भाव विद्यमान था और किशोरी अलि जी के माध्यम से ही एक-दूसरे को प्रीति पहुँचाते थे। पत्र से यह तथ्य स्पष्ट है। किशोरी अलि जी के उत्तर में पुनः रूप रसिक जी तक संदेश पहुँचाने का उल्लेख है –

रूप रसिक जी सों कही जै राधा वल्लभ लाल।
हरख पाइ इन हूँ कही कीनों हमें निहाल॥

इसी प्रकार आगे गो० चन्दलाल जी की गद्य की पत्री में भी कहा है –

रूप रसिक जी कौं बड़ी पत्री आप हौ।

इस पत्र-व्यवहार में सभी पत्रों पर तिथियाँ नहीं पड़ी हुई हैं। इनमें से तीन पत्रों पर तिथियाँ दी हुई हैं, जिनमें से सं० १८२० भाद्रपद कृष्णा ११, गुरुवार का उल्लेख किया जा चुका है। दूसरी तिथि किशोरी अलि जी (जगन्नाथ भट्ट) के उत्तर में लिखे पत्र के अन्त में दी गयी है, जो "मिती जेठ सुदी ८, सं० १८३०" है। तीसरी तिथि गो० चन्दलाल जी के शिष्य रतनलाल जी द्वारा श्री जगन्नाथ भट्ट (किशोरी अलि) को लिखे पत्रोत्तर के अन्त में "मिती असाढ़ शुक्ल सप्तमी संवत् १८३१" उल्लिखित है।[१]

इस प्रकार यह सारा पत्र-व्यवहार सं० १८२० से १८३१ के मध्य का ठहरता है। (इन पत्रों में से कुछ पत्र उक्त संवतों के पहले और बाद के भी हो सकते हैं।) इन पत्रों आदि के आधार पर इस समय तक रूप रसिक जी का विद्यमान होना सिद्ध होता है। इस काल तक उन्हें महावाणीकार एवं रस-रहस्य के ज्ञाता के रूप में पर्याप्त प्रसिद्धि भी मिल चुकी थी। अतः सं० १७८७ में उक्त ग्रन्थ (लीला विंशति) की रचना नितान्त सम्भव है।

श्री किशोरी अलि जी की 'बानी' की इस हस्तलिखित प्रति से रूप रसिक जी के पुत्र एवं कृपापात्रों का भी परिचय मिलता है। किशोरी अलि जी की प्रशंसा में जिनके स्तुतिमूलक प्रशंसापरक छन्द एकत्र किये गये हैं, उनमें रूप रसिक जी के पुत्र हरिजन दास द्वारा लिखे गये बधाई के पद तथा 'रूप रसिक जू के कृपापात्र गोपालदास' के पद संकलित हैं।'[२] इससे भी उनका समय वि० की १८वीं शती का उत्तरार्ध एवं १६वीं शती का पूर्वार्ध ही सूचित होता है। वस्तुतः इस प्रति के आधार पर रूप रसिक जी का उक्त समय पूर्णतया सिद्ध हो जाता है, जो स्वीकार्य है।

इस प्रकार इस 'बानी' से ज्ञात होता है कि किशोरी अलि जी के समकालीन रूप रसिक जी जयपुर स्थित श्री विजयगोपाल जी के मन्दिर में पुजारी थे। वे साधननिष्ठ सात्त्विक

---

१. उक्त पत्रों के साथ जगन्नाथ भट्ट जी (श्री किशोरी अलि) और रतनलाल जी का पत्र-व्यवहार भी दिया हुआ है।

२. हरिजनदास के पद पृ० १४३ पर और गोपालदास के पद पृ० १४५-४६ पर संकलित हैं। (प्रति – डा० गोस्वामी)।

गृहस्थ ब्राह्मण थे। उनके सदाचार एवं एक-सी कहनि-रहनि के कारण सभी उनका बड़ा मान-सम्मान करते थे। वे वाणीकार थे और रस-रूप-उपासक थे। उनकी मधुर रसोपासना एवं रससिक्त वाणी से किशोरी अलि जी अत्यन्त प्रभावित थे। अपनी इस श्रद्धा को अभिव्यक्त करने के लिए ही उन्होंने रूप रसिक जी की प्रशस्ति में एक पद – 'रूप रसिक से रूप रसिक वर' तथा एक मंगल – 'जै जै रूप रसिक रस रूप बखानियै' लिखे।[1] उक्त उल्लेखों से स्पष्ट है कि किशोरी अलि जी, रूपरसिक जी के अति निकट सम्पर्क में थे। वे उनके रस व्यवहार के कारण उन्हें श्री मोहन-मोहिनी का प्रकट रूप ही मानते थे। वे निगमागम, अगोचर, श्री प्रिया जी के आराधक थे, जिस सबका उन्होंने अपनी बानी में अच्छी प्रकार से वर्णन किया है। उक्त प्रशंसापरक पद से यह भी स्पष्ट है कि रूप रसिक जी का आविर्भाव 'दिव्य महाबानी रससानी' का प्रणयन एवं प्रकाशन करने हेतु हुआ। श्री रूप रसिक जी का सामीप्य एवं प्रत्यक्ष दर्शन पाकर मैं इस संसार में बड़ा भाग्यशाली हूँ, ऐसी उनकी धारणा है।

श्री किशोरी अलि जी स्वयं श्री किशोरी जी के अनन्य उपासक हैं। इसी से उन्होंने रूप रसिक जी के प्रति इतनी श्रद्धा व्यक्त की है। इनके प्रति ही नहीं, उन्होंने तो श्री किशोरी जी के गुणगान करनेवाले सभी महानुभावों के प्रति ऐसी ही उच्च श्रद्धा एवं निष्ठा प्रकट की है।[2]

श्री किशोरी अलि जी की वाणी में प्राप्त उक्त उल्लेखों तथा वृन्दावन के गो० चन्दलाल जी के साथ हुए पत्र-व्यवहार के आधार पर रूप रसिक जी एवं किशोरी अलि जी की सिद्ध समकालीनता का श्री ब्रजवल्लभशरण जी ने स्व-सम्पादित रूप रसिक जी के ग्रन्थ 'श्री बृहदुत्सव-मणिमाल' की भूमिका में विरोध करते हुए यह सिद्ध करना चाहा है कि 'लीला विंशति' आदि ग्रन्थों के रचयिता रूप रसिक जी और विजय गोपाल जी के पुजारी रूप रसिक जी – दोनों एक ही न होकर दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं, किन्तु इस खण्डनात्मक विरोध में उन्होंने जो विचारणा प्रस्तुत की है, वह प्रमाण-पुष्ट न होकर केवल शब्दों के हेर-फेर से लीपा-पोती मात्र है। इस सम्बन्ध में उनकी तर्कणा सार्थक नहीं है, बल्कि तर्काभास मात्र है। इस पूर्वाग्रही पिष्टपेषण से किसी मंतव्य की सिद्धि, प्राप्त तथ्य-प्रमाणों के आलोक में होना सम्भव नहीं है। जैसे – 'कहनि-रहनि एक-सी. ..' से परम विरक्त का आशय लेकर रूप रसिक जी को आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचारी बतलाना सही नहीं है।[3] यह 'कहनि-रहनि' की एक-सी स्थिति तो एक सद्-गृहस्थ की भी हो सकती है। अतः सदाचारी सद्-गृहस्थ के रूप में भी उनका आदर-सम्मान था, इसमें कोई बाधा नहीं है। साथ ही यह भी उल्लेख्य है कि वे रूप रसिक जी उक्त सम्प्रदाय

---

१. दे० श्री वृहदुत्सव-मणिमाल, आवरण पृ० ३ पर प्रकाशित प्रशस्ति।

२. 'श्याम सनेही जी' के सम्बन्ध में – 'स्याम सनेही से भये स्याम' तथा 'सरूप चंन्द' के सम्बन्ध में– 'इनसे हैं येई और उपमा न कोई' आदि को 'रूप रसिक से रूप रसिक वर' से मिलाकर देखें तो किशोरी अलि जी की कथन-शैली में एकरूपता दृष्टिगत होगी।

३. दे० भूमिका, पृ० 'ङ'।

(निम्बार्क) के 'आचार्य' न होकर एक सुन्दर रसिक भक्त कवि मात्र थे। अतः उनका नाम सम्प्रदायाचार्य (श्री रूप रसिक देवाचार्य जी महाराज) के रूप में लिखना भी उचित नहीं है। ऐसा करना सम्प्रदाय की आचार्य-परम्परा के विरुद्ध है।

राधावल्लभीय श्री रतनदास ने सं० १८५६ में 'श्री सेवक वाणी' की टीका की थी। इसमें महावाणी का एक दोहा 'साखी रूप रसिक' के नाम से उद्धृत किया गया है[1], जिससे महावाणी उन्हीं की रचना जान पड़ती है। इस आक्षेप के समाधान में उनका यह लिखना कि "किसी से सुन-सुनाकर ही 'साखी रूप रसिक' लिख दिया होगा, क्योंकि महावाणी में दोहा छन्द को सर्वत्र 'दोहा' ही लिखा गया है और उसे कहीं भी 'साखी' नाम नहीं दिया गया है", अपने आप में अभावात्मक तर्क है। वास्तव में इस दोहे को अपने मत की पुष्टि-हेतु रूप रसिक की 'साक्षी' के रूप में उद्धृत किया गया है, न कि दोहा छन्द के लिए 'साखी' नाम दिया गया है। जहाँ तक दोहे में 'प्रीतम आनन्द रूप' के स्थान पर 'पिय आनन्द स्वरूप' पाठ होने की बात है, तो इसमें यह सम्भव है कि रतनदास जी को महावाणी की ऐसी कोई प्रति प्राप्त हुई हो, जिसमें उक्त पाठ-भेद हो, क्योंकि उनके समय में महावाणी की प्रतियाँ सुलभ थीं, जैसा कि स्वयं उन्होंने शाह जी के मन्दिर के संग्रह की सं० १८२३ की हस्तलिखित प्रति का उल्लेख किया भी है। अतः अन्य प्रतियाँ भी रही होंगी।

'महावाणी' के प्रत्येक सुख की अन्तिम पुष्पिका में 'श्री हरिव्यास देव जू कृता महावाणी' का उल्लेख[2] मात्र ऐसा कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है, जिससे इसके रचयिता 'श्री हरिव्यास देव' ही सिद्ध हों। यह भेंट-ग्रन्थ होने के कारण उसमें ऐसा उल्लेख श्रद्धावश है। अतः श्री हरिव्यास देव जी को इसका रचयिता मानना भ्रामक है। फिर ऐसे और भी उदाहरण देखने में आते हैं, जहाँ रचयिता ने अपना नाम न देकर अपने श्रद्धेय अथवा अपने आश्रयदाता आदि किसी अन्य का नाम दिया है।[3]

लाड़िलीदास, सरूपचन्द, गोपालदास आदि का नाम भी कुछ स्थलों पर रूप रसिक जी के साथ मिलता है। इसमें से लाड़िलीदास का नाम 'श्री रूप रसिक जी को मंगल लाड़लीदास के मनोरथ सूं प्रगट भयो' के रूप में है। इस सम्बन्ध में वेदान्ताचार्य जी का यह लिखना कि इसमें 'लाड़लीदास के मनोरथ सूं' का उल्लेख नहीं मिलता[4], गलत है। यह उल्लेख श्री किशोरी अलि जी की वाणी की प्रति में मिलता है। मैंने स्वयं देखा है।

---

१. सेवक वाणी की टीका, चतुर्थ प्रकरण, चतुर्थ छन्द में उक्त उद्धरण इस प्रकार है –

साखी रूप रसिक – प्रिया शक्ति अह्लादिनी प्रीतम आनंद रूप।
तन वृन्दावन जगमगै इच्छा शक्ति अनूप।।

२. दे० उक्त भूमिका, पृ० 'छ'।

३. दे० महाकवि केशवदास कृत 'रामचन्द्रिका' की पुष्पिका – 'इति श्री इन्द्रजीत विरचितायां.......श्री रामचन्द्र चंद्रिकायां....' इन्द्रजीत कवि के आश्रयदाता थे। इसी प्रकार वाचक कुशल लाभकृत 'पिंगल शिरोमणि' की पुष्पिका में – 'इति श्री महारावल मालपाटोधरे तस्यात्मज कुँवर श्री हरिराज विरचिते पिंगल सिरोमणि संपूर्ण।' का उल्लेख है। कुँवर हरराज कवि के आश्रयदाता थे।

४. दे० भूमिका, पृ० 'घ'।

सरूपचन्द जी का उल्लेख – 'विजै गोपाल जी के पुजारी श्री रूप रसिक जी के कृपा पात्र सरूपचन्द जी तिनको कवित्त प्रगट भयो' के रूप में प्राप्त होता है। इसमें आये 'रूप रसिक जी' को तथाकथित पूर्ववर्ती 'रूप रसिक' मानना उचित नहीं है। ये भी उसी मन्दिर में पुजारी थे। अतः इनका बड़े पुजारी रूप रसिक जी का कृपापात्र (सहायक, सेवक रूप में) होना सहज है। सरूप चन्द जी बड़े अच्छे गायक थे, यह तो ठीक है, किन्तु वे तथाकथित पूर्ववर्ती रूपरसिक जी के पदों को ही विशेष रूप से गाते थे[1], ऐसा कहाँ लिखा है ? यह सब भ्रामक है। गोपालदास भी रूप रसिक जी के कृपापात्र थे। उनका पद भी प्रति में मिलता है। रूप रसिक जी के पुत्र का नाम हरिजनदास था। प्रति में उनका उल्लेख – 'श्री रूप रसिक जी के पुत्र हरिजनदास जी तिनने बधाई प्रगट की' के रूप में प्राप्त होता है। ये सब श्री रूप रसिक जी तथा श्री किशोरी अलि जी के समय में थे और परस्पर में उनका प्रेम-भाव था और उन दोनों के प्रति श्रद्धा-भाव था।

इस प्रकार श्री ब्रजवल्लभशरण जी का उक्त खंडनात्मक प्रयास पूर्णतया निरर्थक है। अतः श्री किशोरी अलि जी की वाणी की प्रति में जहाँ-जहाँ रूप रसिक जी की चर्चा मिलती है, वह सब एक ही रूप रसिक जी के सम्बन्ध की है और वे रूप रसिक जयपुरस्थ श्री विजयगोपाल जी के मन्दिर के गृहस्थ पुजारी थे। इसमें कोई भी संशय नहीं है।

रचनाएँ : निम्बार्क-सम्प्रदाय में रूप रसिक जी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि देखा जाए तो इस सम्प्रदाय में रसोपासना की व्यवस्थित परिपाटी इन्हीं से आरम्भ होती है। कहा जाता है कि इनके भाव गुरु हरिव्यास देव जी ने इन्हें स्वप्न में महावाणी प्रदान की थी और इन्होंने उसका प्रचार किया था, किन्तु वास्तविकता यह है कि महावाणी के रचनाकार स्वयं रूप रसिक जी ही हैं और उन्होंने इसे अपने भाव-गुरु श्री हरिव्यास देव जी के प्रति भेंट किया है और उन्हीं के नाम (हरिप्रिया) से इसका प्रचार किया है। 'श्रीहरि यशामृत सागर' की निम्न पंक्तियों से भी इसी बात की पुष्टि होती है –

श्री हरिप्रिया जू की करी महावाणी सों भेंट,
रूप रसिक पावन भयो सहजै भई सहेट।

अतः स्पष्ट है कि यह वास्तव में भेंट-ग्रन्थ ही है, जो उनका अपने भाव-गुरु के प्रति श्रद्धा-उपहार है।

'महावाणी' की रचना 'लीला विंशति' से पूर्व हो चुकी थी, क्योंकि इसकी गद्य में लिखी 'सिद्धान्तमाधुरी' में 'महाबानी' का उल्लेख हुआ है।[2] 'लीला विंशति' के अन्तर्गत 'वृन्दावनमाधुरी' में रचना-काल सं० १७८७ है।

रूप रसिक जी ने श्री भट्ट के 'युगल शतक' का संकलन-सम्पादन भी किया था,

---

१. दे० भूमिका, पृ० 'ञ'। वे पुजारी रूप रसिक जी के पदों को भी गाते थे। ये रूप रसिक 'वाणीकार' थे। किशोरी अलि जी ने उनके मंगल में उनकी 'निज वाणी' का उल्लेख किया है – 'निगम अगोचर राधा आराधन लह्यौ। सोई निजबानी सों नीकी विधि कह्यौ।' अतः ये रूप रसिक 'वाणीकार नहीं थे' यह लिखना गलत है।

२. दे० पृ० ४४।

क्योंकि इसकी पुष्टि में रूप रसिक जी का एक छप्पय युगल-शतक की अर्वाचीन प्रतियों में प्राप्त होता है।[१] उन्होंने इस रचना को निज भजन-भाव-रुचि से विभिन्न 'सुखों' में विभाजित किया है। अतः इस संकलन में उनकी अपनी भी पर्याप्त भजन-भाव-रुचि मिल गयी है। ऐसा युगल शतक की प्राचीन प्रतियों और नवीन प्रतियों की छन्द-संख्या को देखकर ज्ञात होता है, क्योंकि जहाँ नवीन प्रतियों में यह रचना छह सुखों में विभाजित है और पदों का क्रम निश्चित है; जैसे पहले एक दोहा, फिर स्पष्टीकरण हेतु एक पद – यही इस रचना का शैली-क्रम है। इस तरह इन प्रतियों में सौ दोहे और सौ पद मिलते हैं, जबकि प्राचीन प्रतियों में ९२ पद और मात्र १२ दोहे मिलाकर कुल संख्या १०४ होती है। अतः इसकी प्राचीन एवं नवीन प्रतियों में छन्द-संख्या को लेकर लगभग दोगुने का अन्तर है, जिससे कह सकते हैं कि रूप रसिक ने इसका काफी परिवर्धन किया है।

उपर्युक्त इन दो ग्रन्थों के अतिरिक्त उनके लिखे निम्नोक्त चार ग्रन्थ और हैं – (१) हरिव्यास यशामृत सागर, (२) लीला विंशति, (३) नित्य विहार पदावली, (४) वृहदुत्सव-मणिमाल।

(१) हरिव्यास यशामृत सागर – इसमें हरिव्यास देव जी की कीर्ति का विशद गान हुआ है। सम्पूर्ण ग्रन्थ चौबीस लहरियों में पूरा हुआ है। हरिव्यास देव जी के चरित्र के अतिरिक्त रसिक साधना के सैद्धान्तिक पक्ष का भी निरूपण किया गया है। इसे रूपरसिक जी की प्रारम्भिक कृति माना जाता है, किन्तु मेरे विचार में तो महावाणी उनकी प्रथम रचना है। यशामृत सागर में महावाणी की अलौकिक अवतारणा का प्रसंग २१ बार आया है।[२] यह बात ही मेरे विचार को पुष्ट करने के लिए पर्याप्त है। ग्रन्थ का प्रकाशन वृन्दावन से सं० १९८१ में श्री रामचन्द्रदास द्वारा कराया गया था।

(२) लीला विंशति – इसे रूप रसिक जी की 'बानी' भी कहा जाता है। सम्पूर्ण ग्रन्थ मंजरी, विलास, माधुरी एवं सुख – इन चार भागों में विभक्त है और प्रत्येक भाग में ५-५ विभाग हैं। इस प्रकार इसमें वर्ण्य-विषयों की संख्या २० है, जिन्हें 'लीला' कहा गया है और इसी पर ग्रन्थ का नामकरण किया गया है। कवि ने कृति के प्रारम्भ में ही चौपाइयों में सम्पूर्ण लीलाओं की अनुक्रमणिका का उल्लेख कर दिया है –

पाँच मंजरी, पाँच विलास। माधुरी पाँच पाँच सुखभास॥
या प्रकार विंशति सुखदाई। ....॥

इस रचना की उन्नीस लीलाएँ पद्य में हैं और एक 'सिद्धान्त माधुरी' गद्य में है, जिसमें नित्य विहार का सैद्धान्तिक वर्णन है। इसकी सभी लीलाओं में शीर्षक के अनुरूप विषय का प्रतिपादन है। बीसों लीलाओं के नाम विभागानुसार इस प्रकार हैं – १. मन शिक्षा मंजरी, २. रस मंजरी, ३. रसिक मंजरी, ४. रंग मंजरी, ५. प्रेम मंजरी, ६. नव

---

१. दे० शोध-पत्रिका, वर्ष १६, अंक २, पृ० ११ पर उद्धृत उक्त छप्पय की अन्तिम पंक्तियाँ –
निज भजन भाव-रुचि ते किये इते भेद ये उरधरो।
रूप रसिक सब संत जन, अनुमोदन याकौ करो।।

२. दे० निं०सं० के कृ०भ०हिं० कवि, पृ० ३२५-२६, डा० नारायणदत्त शर्मा का अप्र० शोधप्रबन्ध।

विलास, ७. भावना विलास, ८. नित्य विलास, ९. रास रति विलास, १०. फूल विलास, ११. नाम माधुरी, १२. माधुर्य माधुरी, १३. वृन्दावन माधुरी, १४. सिद्धान्त माधुरी, १५. हरिभक्ति माधुरी, १६. सार सुख, १७. सनेह सुख, १८. सरूप सुख, १९. सुहाग सुख, २०. होरी सुख। रचनान्तर्गत छन्दों में प्राय: दोहे का प्रयोग किया गया है। अन्य छन्दों का प्रयोग स्वल्प है। इसकी भाषा सुगठित, पुष्ट एवं प्रांजल है।

प्रस्तुत ग्रन्थ रचना एवं सिद्धान्त – दोनों ही दृष्टियों से प्रौढ़ है। इसमें निकुंज लीला और उसकी विधायक साधना-पद्धति का सांगोपांग, विशद एवं मनोहर वर्णन किया गया है। इस प्रकार यह रस-साधना की ललित रचना है और निम्बार्क-सम्प्रदाय की नित्य विहार उपासना का श्रेष्ठ ग्रन्थ है। अत: रसोपासक भावुक भक्तों के लिए यह रचना अत्यन्त उपादेय है। कहीं-कहीं तो इसमें भावों का बड़ा सुन्दर उत्कर्ष है और मनोहारिणी उद्भावनाएँ एवं कल्पनाएँ हैं। इसकी प्रौढ़ता, परिपक्वता को देखते हुए इसे कवि की अन्तिग रचना माना जा सकता है। ग्रन्थ का प्रकाशन बाबा माधुरी दास ने वृन्दावन से संवत् २०१५ वि० में कराया था।

(३) नित्यविहार पदावली – इसमें निकुंज रस के पदों का संकलन है, जिनकी संख्या एक दोहे से १२० ज्ञात होती है[1], किन्तु निम्बार्क शोध-मंडल वृन्दावन की दोनों प्रतियों में केवल ७२ ही पद हैं, जिनका प्रकाशन 'लीला विंशति' के साथ ही हुआ है। इसकी पूर्ण प्रति की खोज आवश्यक है। रचना सुन्दर है और इसके पद सरस एवं मनोहारी हैं। इन पदों में श्यामा-श्याम की एकान्त रसात्मक लीलाओं का भावपूर्ण चित्रण किया गया है। कवि का भाषा पर अच्छा अधिकार है। उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों के सम्बन्ध में यह भी द्रष्टव्य है कि उक्त ग्रन्थों पर बिहारी-सतसई आदि का काफी प्रभाव लक्षित होता है।

(४) वृहदुत्सव-मणिमाल – इसमें सम्प्रदाय के वर्ष-भर के विविध उत्सवों में गाये जानेवाले पदों का संग्रह है। वसन्त, होली, फूल डोल, रामनवमी, अक्षय तृतीया, जानकी जन्म, नरसिंह जन्म, जल-विहार, वर्षा-ऋतु, पवित्रा, बधाई, विजैदसमी, दीपोत्सव, गोवर्धनपूजा, राधाकृष्ण-विवाहोत्सव आदि विषयों पर अनेक पद रचे गये हैं।[2] पद सरस और मनोहर हैं, जो रचयिता के कला-कौशल का परिचय देते हैं। इसका प्रकाशन भी बाबा माधुरीदास द्वारा वृन्दावन से सं० २०१८ में कराया जा चुका है।

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की हस्तलिखित हिन्दी-ग्रन्थों की खोज-रिपोर्टों में रूप रसिक जी कृत 'वृन्दावन माधुरी'[3] (१९०६। २२२) एवं 'उत्सव मणिमाल' (१९३८। १३१बी) के अतिरिक्त 'ख्याल संग्रह' (सन् १९३२ । १९३), 'कृपा कल्पतरु' (१९३८ ।

---

१. 'इक सत ब्रीस पदावली, ताकौ संग्रह सार।' प्रकाशित प्रति में ७२ ही पद होने से ४८ पद कम हैं।

२. ध्यान रहे, ऐसे उत्सव आदि पदों का रचना-प्रचलन १८वीं शती के उत्तरार्ध सं॰चल पड़ा है, क्योंकि इससे पहले ऐसे पद रसिकों की रचना में नहीं मिलते। परन्तु तत्कालीन देश-काल एवं व्यक्तियों की रुचि को देखकर रसिक भक्तों ने भी ऐसे उत्सव-पदों को लिखा। अत: स्पष्ट है कि रूप रसिक जी का समय भी यही है।

३. इसकी प्रति दतिया-नरेश के पुस्तकालय में होना लिखा गया है। इसका अन्य विवरण अप्राप्त है।

१३१ ए), 'माँझ बत्तीसी' (१६२६ । ४०५) के विवरणोल्लेख भी मिलते हैं। इनमें से 'ख्याल-संग्रह' की प्रति खंडित है और इसकी भाषा हिन्दी-उर्दू मिश्रित है। इसके अन्त में एक स्थान पर 'अबै रूप रसिक मोहन ह्वै गये पराये' में 'रूप रसिक' नाम आता तो है, किन्तु इतने मात्र से यह निश्चित रूप से यह कहना सम्भव नहीं है कि यह रचना उन्हीं की है। यद्यपि रूप रसिक जी ने भी 'रेखता शैली' के पद लिखे हैं, किन्तु जब तक प्राप्त प्रति का अच्छी तरह से अध्ययन न कर लिया जाए, तब तक निर्णयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। यह भी सम्भव है कि यह अन्य कवि द्वारा रचित 'ख्यालों' का संग्रह हो।[1]

'कृपाकल्पतरु' – यह ४३ पत्रों की रचना है। इसका पहला पत्र लुप्त है। इसमें 'पदावली' (राधा-कृष्ण-प्रेम-क्रीडा विषयक पद) पत्र २५ तक हैं। फागलीला पत्र २७ तक, लाड़िली जू का जन्मोत्सव पत्र ३३ तक और कृष्ण-जन्म-उत्सव पत्र ४३ तक है। 'पदावली' के साथ 'इक सत बीस' का उल्लेख होने के कारण यह 'नित्यविहार पदावली' है और अन्य अंश (फागलीला, राधा एवं कृष्ण जन्म-उत्सव), 'उत्सव मणिमाल' ग्रन्थ से संकलित हैं। 'कृपा कल्पतरु' नाम कल्पित है। जान पड़ता है, किसी ने अपनी रुचि के अनुसार संकलन कर इसका उक्त नाम रख दिया है। 'माँझ-बत्तीसी' का विवरण खोज-रिपोर्ट में कवि 'रसिक रूप' की कृति के रूप में दिया है, किन्तु वास्तव में यह 'रूप रसिक' जी की ही रचना है। विवरण के अंशों से यह स्वतः स्पष्ट है। इसके केवल ४ पत्र ही प्राप्त हैं। जैसा ग्रन्थ के नाम से स्पष्ट है, इसमें ३२ माँझ छन्द होने चाहिए, किन्तु इस प्रति का अन्तिम अंश खण्डित है। उदाहृत अंश में श्री कृष्णानुराग-सम्बन्धी माँझ शैली के पद हैं।

राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर द्वारा प्रकाशित 'राजस्थानी हिन्दी हस्तलिखित ग्रन्थ सूची, भाग ३' में रूप रसिक जी कृत 'पद-संग्रह' [२६३८ । ६७३६ (५)], 'भक्ति सदाचार सागरी' [२७३८ । ६७३६(४)] एवं 'माँझ बत्तीसी' [२७७० । ६७३६(७)] रचनाओं का उल्लेख हुआ है। 'पद-संग्रह' में आचार्य जन्मोत्सव बधाई आदि के ४२ पद हैं। ये बधाई के पद उपयोगी हैं। इनसे नवीन जानकारी मिलना सम्भव है। 'भक्ति सदाचार सागरी' नाम से यह भक्ति-विषयक १४० छन्दों का संकलन है और 'माँझ-बत्तीसी' में २७ पद मात्र हैं। यह अपूर्ण है। ६७३६ संख्यक इस गुटके में रूप रसिक जी की कृतियों का संग्रह है। गुटका १६वीं शती का है। इस गुटके में संकलित सभी रचनाओं का विवरण प्रकाश में आना चाहिए, जिससे रूप रसिक विषयक नवीन ज्ञातव्य की प्राप्ति हो सके।

रूप रसिक जी ब्रजभाषा के समर्थ रससिद्ध भक्त-कवि थे। उनकी रचना सुन्दर है। उसमें भावों की सरसता और भाषा का लालित्य दर्शनीय है। भाषा उनकी सरल,

---

१. इसी रिपोर्ट में रूपराम (आगरा) के रचे ख्यालों की कई प्रतियों का विवरण संख्या :६१ पर दिया गया है। उसकी भाषा से इस रचना का काफी मेल है। सम्भव है, यह रचना भी उसी रूपराम की हो और फिर 'रूप रसिक मोहन' में 'रूप' कवि की छाप हो तथा 'रसिक मोहन' कृष्ण के लिए आया हो, यह हो सकता है। अतः अलग करके भी पढ़ा जा सकता है।

सहज एवं प्रसाद गुणपूर्ण है, जिसमें यत्र-तत्र राजस्थानी, पंजाबी एवं उर्दू शब्दों का मिश्रण भी है। उनकी अभिव्यंजना में रीतिकालीन पुट है। दोहा उनका सबसे प्रिय छन्द है। साथ ही अरिल्ल, सवैया एवं अनुरूप छन्दों के सहित भक्तिकाल की पद-शैली एवं पंजाबी-उर्दू माँझ भी उन्होंने अपनाए हैं। पदों आदि पर राग-रागनियों का संकेत भी मिलता है, किन्तु यह कहना कठिन है कि ये संकेत स्वयं उनके द्वारा दिये गये हैं या परवर्ती हैं।

३.८ बख्शी हंसराज : व्यक्तित्व और कृतित्व

हिन्दी साहित्य के सुकवि बख्शी हंसराज का उल्लेख रीतिकाल के अन्तर्गत किया जाता है। बुंदेलखण्ड-निवासी इस कवि ने अपना तथा अपने वंश का इतिवृत्तात्मक परिचय 'श्रीमिहराजचरित'[१] में दिया है, जिससे ज्ञात होता है कि यह श्रीवास्तव (खरे) कायस्थ थे। इनके पिता का नाम मुरलीधर तथा बाबा का माधवदास था। यह तीनों भाइयों में सबसे छोटे थे। डा० नरेश पंड्या तथा डा० राजबालां सिडाना ने अपने शोध-प्रबन्धों में 'मिहराजचरित' की भूमिका के आधार पर इन्हें 'केशवराय' का पुत्र होना लिखा है[२], जो अशुद्ध एवं भ्रामक है। वास्वत में, भूमिका-लेखक पं० पन्नालाल मिश्र को समझने में गलती हुई है। 'हिम्मतराय', 'परमसुख' और 'हंसराज' का उल्लेख मुरलीधर के पुत्रों के रूप में हुआ है, न कि केशवराय की सन्तान के रूप में। इसकी पुष्टि हंसराज के अन्य ग्रन्थ 'राजचन्द्रिका' तथा 'विरहविलास' में वर्णित 'कविवंशवर्णन' से भी होती है।[३] उसमें भी हंसराज जी को मुरलीधर का ही पुत्र लिखा गया है।

हंसराज जी पन्नानरेश छत्रसाल, हृदयशाह, सभासिंह व अमानसिंह से सम्बद्ध तथा इन सबके कृपापात्र थे। इनके पूर्वज पन्ना-राज्य में उच्च पदों पर आसीन थे, जिनमें इनके एक पूर्वज हरकिशुनजी पन्ना-राज्य के मन्त्री थे। हंसराज भी दीवान तथा राजकवि थे।[४] इस प्रकार, इन्हें राज्याश्रय प्राप्त था। छत्रसाल के शासनकाल के अन्तिम वर्षों में, इनमें जो काव्य-प्रतिभा प्रस्फुरित हुई, वह छत्रसाल की मृत्यु के बाद हृदयशाह, सभासिंह और अमानसिंह के काल में उत्तरोत्तर विकसित हुई।

बख्शी हंसराज जी का जन्मकाल अनिश्चित है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'इतिहास' में इनका जन्म पन्ना में सं० १७९९ वि० में होना लिखा है[५] और मिश्रबन्धुओं

१. द्र० : श्रीमिहराजचरित, भूमिका, पृ० ३४।

२. (अ) द्र० : प्राणनाथ-सम्प्रदाय एवं साहित्य, पृ० १६६
(आ) श्री प्राणनाथ जी और उनका साहित्य, पृ० ३६।

३. द्र० : प्रथम प्रकाश, छन्द ६१-६३ तथा खोज-रिपोर्ट, सन् १९२६-२८ ई०, पृ० २८७-८८ (सं० १६५ सी)।

४. इनके नाम के साथ लगे 'बख्शी' शब्द का तात्पर्य यह है कि तत्कालीन समय में बख्शी आय-व्यय का ब्यौरा रखता था और अन्य विभागों के आय-व्यय के जो ब्यौरे तैयार किये जाते थे, उनकी जाँच करता था। हंसराज जी पर भी राज्य के इस प्रकार के कार्यों का उत्तरदायित्व था। इसीलिए, इनके नाम के साथ 'बख्शी' शब्द जुड़ा हुआ है।

५. द्र० : हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ३२५ (१२वाँ संस्करण)।

ने 'विनोद' में सं० १७८६ वि० में पन्ना में जन्म होना लिखा है।[1] पं० पन्नालाल मिश्र ने इनका जन्म-समय सं० १७४० वि० के लगभग माना है।[2] ऐसी संदिग्ध स्थिति में इनका जन्मसमय विचारणीय है। बख्शी जी की रचनाओं के निर्माणकालों को देखते हुए यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल एवं मिश्रबन्धुओं के उल्लेख पूर्णतया अशुद्ध हैं; क्योंकि इनकी तीन कृतियों की रचना सं० १७८६ वि० में हुई थी।[3] अब रही बात सं० १७४० वि० की, तो वह भी आनुमानिक ही है और उसका कोई प्रमाण सुलभ नहीं है। इस विषय में जब तक कोई पुष्ट प्रमाण प्राप्त न हो जाए, तब तक अनुमान का ही सहारा लिया जा सकता है। हाँ, इस बारे में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अध्ययनशील और सत्संगपरायण होने पर रचयिता की २५-३० वर्ष की उम्र के पश्चात् ही किसी प्रौढ़ कृति के रचे जाने का अनुमान किया जा सकता है। अत:, इनकी रचनाओं की निर्माण-स्थिति को ध्यान में रखते हुए, मेरे विचार से इनका जन्म सं० १७६० वि० के आसपास होना माना जा सकता है।

यद्यपि 'विनोद' तथा शुक्ल जी के इतिहास में इनका जन्म 'पन्ना' में होना लिखा है, तथापि यह भी विवादास्पद है और अभी तक यह तथ्य अनिर्णीत है। पन्ना के अतिरिक्त रतनपुर, मणिपुर, सागर आदि कई स्थानों को भी इनका जन्मस्थान बताया गया है, किन्तु बिना किसी विश्वस्त प्रमाण के कुछ कहना व्यर्थ है। पं० लोचनप्रसाद जी पाण्डेय ने बख्शी हंसराज-विषयक अपने एक लेख में इस विषय पर बड़ा ऊहापोह किया है[4], लेकिन खेद है कि वह इस बारे में कोई निर्णय नहीं कर सके। इस सम्बन्ध में बख्शी जी के अपने वंश-परिचय से ज्ञात होता है कि इनका वंश हमीरपुरवासी था और इनके बाबा वैद्य माधवदास ने ओरछे में भी निवास किया था।[5] अत: हमीरपुर इनकी मातृभूमि प्रतीत होती है। पन्ना इनका जन्मस्थान था, यह प्रमाणाभाव में नहीं कहा जा सकता, किन्तु पन्ना-राज्य में दीवान एवं राजकवि होने के कारण पन्ना इनका निवासस्थान तो था ही।

---

१. द्र० : मिश्रबन्धुविनोद, भाग २, पृ० ६११; 'विनोद' में ही राठ, चिलकीपुर-निवासी एवं 'महाभारत' — भाषाकार एक अन्य 'हंसराज कायस्थ' का उल्लेख करते हैं कि 'सम्भव है कि ये और बख्शी हंसराज पन्नावाले एक ही हों।' (द्र० भाग २, पृ० ६२२, सं० १६१५ वि०); किन्तु यह सम्भावना ठीक नहीं है। यह हंसराज सं० १६१६ वि० के लगभग वर्तमान थे और पटियाला-नरेश नरेन्द्र सिंह के आश्रित थे। 'महाभारत' के पन्द्रह पर्वों के नौ अनुवादकों में एक यह भी हैं। अत: इनका कविताकाल सं० १७८६ वि० गलत है। दे० 'विनोद', भाग ३, पृ० ११४६ तथा संक्षिप्त खोज-विवरण, द्वितीय भाग, पृ० ६०५।

२. द्र० : श्रीमिहराजचरित, भूमिका, पृ० १

३. (क) कृष्णजू की पाती, (ख) जुगलस्वरूप विरहपत्रिका, (ग) राजचन्द्रिका।

४. पाण्डेय जी का 'सनेहसागर के कवि बक्षी हंसराज' शीर्षक उक्त लेख 'लोचनप्रसाद पाण्डे के निबन्ध' नामक पुस्तक में संकलित हैं। उक्त लेख की प्रतिलिपि बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना के उपनिदेशक (शोध) तथा 'परिषद्-पत्रिका' के यशस्वी सम्पादक डा० श्रीरंजन सूरिदेव जी के सौजन्य से प्राप्त हुई थी। इस कृपा के लिए मैं उनका अत्यधिक आभारी हूँ। — लेखक

५. (अ) कायथ खरे कुलीन कुल, है हमीर पुर वार।
नगर ओरछे में बसे, माधव दास उदार।। (श्री मिहराजचरित)
(आ) तुव हमीरपुर बंसवर, वैद्य सु माधव दास। (राजचन्द्रिका, विरहविलास)

सम्भव है, कुछ समय तक यह ओरछे में भी रहे हों।

आचार्य शुक्ल ने हंसराज जी का, ब्रज की 'व्यासगद्दी' के विजयसखी नामक महात्मा का शिष्य होना लिखा है, जो इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सनेहसागर' के अन्तःसाक्ष्य से सिद्ध है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में बख्शी जी ने उपासना-पद्धति एवं गुरु का परिचय इस प्रकार दिया है:

व्यास वंश अवतंस गुसाईं विजयसखी गुरु मेरे।
मन वच कर्म काहूँ मति तिनके चरन कमल के चेरे॥
सखी उपासना वामप्रीती सों, तिन यह हमें बताई।
जुगलस्वरूप, रास, निज लीला, दिल अंतर दरसाई॥
तिनके पद अरविंद सीस धर, होय मगन मन भारी।
कहियत परम प्रीति उर धरिकें, लीला निर्तविहारी॥
हंसराज बगसी कुल काइथ, परम प्रेम रस पागे।
यह सनेह सागर की लीला कहत चित्त अनुरागे॥

किन्तु, हंसराज जी ने अपने अन्य ग्रन्थ 'विरहविलास' में इन्हीं 'विजयसखी' को अपना गुरुभाई बताया है और उनके चरणकमलों में पूर्ण श्रद्धा व्यक्त की है :

विजयसखी गुरुभाई हमारे।
तिनके चरनकमल उर धारे॥

इस विषमता का समाधान इस प्रकार सम्भव है कि बख्शी जी ने विजयसखी के पिता गोस्वामी गोपीनाथ जी से दीक्षा ली और उनके निधनोत्तर उनके पुत्र गोस्वामी विजयगोविन्द, उपनाम 'विजयसखी' ने इनको सखी-भावना तथा युगलस्वरूप का परिचय कराया हो। इस कारण यह 'विजयसखी' को ही अपना गुरु लिखने लगे। इनके दीक्षागुरु व्यासवंशीय गो० गोपीकान्त (नाथ) जी, जो हरिराम व्यासजी की वंश-परम्परा में चौथी पीढ़ी में हुए थे, बख्शी जी को दीक्षा देते समय अतिवृद्ध रहे होंगे। इसके साथ ही गुरु-सम्बन्धी एक समस्या और सामने आती है। बख्शी जी ने अपनी दो-तीन रचनाओं में महामति प्राणनाथ जी का गुणगान किया है। इन्होंने उनके प्रति अपनी अपार श्रद्धा ही प्रकट नहीं की है, अपितु अपने अज्ञान, भ्रम और सन्देह को दूर करनेवाले गुरु के समान उनका स्मरण किया है। इसी से प्रेरित होकर प्रणामी-सम्प्रदाय के कुछ विद्वान् हंसराज जी को प्रणामी-सम्प्रदायानुयायी मानते हैं। लेकिन, जब इस तथ्य पर विचार करते हैं, तब ज्ञात होता है कि उन विद्वानों का यह कथन महत्त्वहीन है। कारण यह है कि प्रणामी-मत के ही अधिकारी विद्वान् एवं धर्माचार्य श्रीकृष्णप्रियाचार्य जी स्वयं बख्शी हंसराज को सखी-सम्प्रदायानुवर्ती विजयसखी का शिष्य मानते और लिखते हैं[१], जिसकी पुष्टि हंसराज जी के स्वयं के उल्लेख से होती है। अतः, अन्य महानुभावों की अपेक्षा श्रीकृष्णप्रिया जी का उल्लेख प्रामाणिक है। ऐसी स्थिति में बख्शी जी को प्रणामी-मत में दीक्षित बताना उचित नहीं है।

यह सही है कि बख्शी जी ने प्राणनाथ जी के प्रति गुरुसदृश श्रद्धा प्रकट की है

१. द्र० : 'श्रीसर्वेश्वर' का वृन्दावन-अंक, पृ० १००।

और अत्यन्त आदरसूचक शब्दों का प्रयोग किया है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि बख्शी जी इस सम्प्रदाय में दीक्षित भी हुए थे। किसी सम्प्रदाय में दीक्षित होना अलग बात है और किसी अन्य सम्प्रदाय के प्रति श्रद्धाभाव व्यक्त करना अलग बात है। इसी प्रकार, प्रतीत होता है कि हंसराज जी ने दीक्षा तो विजयसखी जी से ली थी, जैसा इन्होंने स्वयं लिखा है, किन्तु सखीभाव की माधुर्यभक्ति के सहज आकर्षण के कारण प्राणनाथ जी के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर यह इस सम्प्रदाय के अति निकट थे; क्योंकि इस सम्प्रदाय की उपासना-पद्धति भी सखीभाव की है और प्राणनाथ जी स्वयं पूर्णानन्द श्रीकृष्णचन्द्र जी के साक्षात्कारजन्य प्रेमावेश में मग्न रहा करते थे। यह ध्यान रहे कि दीक्षागुरु के अतिरिक्त साधना में जिन अनुभवी महात्माओं की सहायता ली जाती है, उन्हें सद्गुरु कहते हैं। सद्गुरु की योग्यता पर ही साधक की सफलता निर्भर है। उचित मार्गदर्शन न पाकर साधक पथभ्रष्ट भी हो सकता है। वैसे दीक्षागुरु-सम्बन्धी यह प्रसंग इसलिए भी व्यर्थ है कि इससे दीक्षागुरु एवं सद्गुरु में न्यूनाधिकता का कोई अन्तर नहीं पड़ता और न ही इससे महामति जी के महत्त्व की न्यूनता और बख्शी जी के महत्त्व की वृद्धि होती है।

यह समस्त विवाद स्वत: ही समाप्त हो जाता है, जब हम प्राणनाथ जी के जीवनकाल पर दृष्टि डालते हैं। प्राणनाथ जी का जीवनकाल संवत् १६७५ से १७५१ वि० तक है। अत: बख्शी जी के जन्मकाल (सं० १७६० वि० के लगभग) को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि प्राणनाथ जी, बख्शी जी के प्रत्यक्ष सद्गुरु भी नहीं रहे। साथ ही, यह भी ध्यातव्य है कि प्रणामी-सम्प्रदाय के किसी अन्य महानुभाव का नाम भी गुरु के रूप में सामने नहीं आया है। प्रतीत होता है कि प्राणनाथ जी की तारतम्य-वाणी से आकृष्ट एवं अत्यधिक प्रभावित होकर ही इन्होंने प्राणनाथ जी के प्रति अपनी सद्गुरुत्व-भावना को आरोपित किया है। इसका बड़ा अच्छा प्रमाण इनकी रचना 'विरहविलास' है, जिसके आरम्भ में प्राणनाथ जी की महिमा का वर्णन किया गया है एवं अन्तिम अध्याय को 'जागनीलीला' बताया गया है, साथ ही इसमें बख्शी जी ने 'विजयसखी जी' को अपना गुरुभाई भी लिखा है[1], जिसका समाधानात्मक उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। पन्ना में रहते हुए इन्हें प्रणामी-मत के महानुभावों का संसर्ग प्राप्त था ही।

बख्शी हंसराज जी का साम्प्रदायिक नाम 'प्रेमसखी' था और यह इसी उपनाम से कविता किया करते थे। इसीलिए, वृन्दावन की भूमि इनके लिए परम प्रेमस्थली-रूप थी। इनकी उपासना सखीभाव की थी। अत: सखीभावोपासक होने के कारण इन्होंने अत्यन्त प्रेम-माधुर्यपूर्ण रचनाएँ की हैं। इनकी रचनाएँ ब्रज के माधुर्य-भाव की छटा से ओत:प्रोत हैं।

बख्शी जी इस धराधाम पर कब तक जीवित रहे, प्रमाणाभाव में यह बता पाना सम्भव नहीं है। इनकी एक कृति 'विरलविलास' की रचना सं० १८११ वि० में हुई थी। अत: इसके बाद ही कभी इनकी मृत्यु हुई होगी। मेरे विचार से सं० १८२० वि० के आसपास

१. द्र० : खोज-रिपोर्ट, सन् १९२६-२८ ई०, पृ० २८७-८८ (सं० १६५ सी)।

इनका मृत्युकाल माना जा सकता है। बख्शी जी का शेष 'वृत्त' अज्ञात है।

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के खोज-विवरण में बख्शी हंसराज-रचित निम्नलिखित ग्रन्थों की सूचनाएँ दी गयी हैं[१] :

१. कृष्णजू की पाती, २. चुरिहारिन भेष (लीला), ३. जुगलस्वरूप विरहपत्रिका, ४. फागतरंगिनी, ५. विरहविलास और ६. सनेहसागर।

आचार्य शुक्ल के 'इतिहास' में इनके जिन चार ग्रन्थों का उल्लेख है[२], उनमें ७. रायचन्द्रिका एवं ८. बारहमासा और हैं।

'बुन्देलवैभव' में उल्लिखित इनकी नौ रचनाओं में नवीं 'मिहराजचरित' और अधिक है।[३] 'विनोद' में किसी नवीन रचना की सूचना नहीं है। खोज-रिपोर्ट के आधार पर ही पूर्वोल्लिखित रचनाओं में पाँच रचनाओं का उल्लेख किया गया है।[४] उक्त रचनाओं के अलावा दसवीं 'नन्दलीला' नामक इनकी और एक रचना की सूचना प्राप्त है।[५] ग्यारहवीं रचना 'तेरामासी' की प्रति भी प्राप्त हुई है। इस प्रकार, उपर्युक्त सूचनाओं के आधार पर बख्शी जी की ग्यारह कृतियों का पता चलता है[६], जिन पर यहाँ क्रमशः विचार किया जाता है :

१. कृष्णजू की पाती : इसकी रचना सं० १७८९ वि० में हुई थी, ऐसा खोज-रिपोर्ट में उल्लिखित है।[७] इसका विषय राधिका के नाम कृष्ण जी द्वारा प्रेमपत्र लिखना है। इसकी प्राप्त प्रति का लिपिकाल सं० १८६६ वि० है।

२. चुरिहारिन भेष (लीला) : प्रस्तुत रचना कोई स्वतन्त्र कृति नहीं है, बल्कि 'सनेहसागर' का ही एक अंग है। इसमें कृष्ण का मनिहारिन के रूप में राधा के पास जाने की लीला का वर्णन है। इसका लिपिकाल सं० १८६३ वि० है।

३. जुगलस्वरूप विरहपत्रिका : इसकी रचना भी सं० १७८९ वि० में हुई थी, ऐसा खोज-रिपोर्ट में उल्लिखित है।[८] राधा का कृष्ण को प्रेमपत्र लिखना, इसका विषय है। इसकी प्राप्त प्रति का लिपिकाल सं० १८६२ वि० है।

४. फागतरंगिनी : यह प्रति भी कोई स्वतन्त्र रचना नहीं है, अपितु 'सनेहसागर' का ही अंश है। राधा-कृष्ण का आपस में फाग खेलना इसका विषय है। इसका लिपिकाल सं० १९०२ वि० है।

---

१. द्र० : हस्तलिखित हिन्दी-पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण, द्वितीय भाग, पृ० ६०६।

२. द्र० : हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पूर्ववत्, पृ० ३२५।

३. द्र० : बुन्देल-वैभव, भाग २, पृ० ३६२-६४।

४. द्र० : 'मिश्रबन्धुविनोद', द्वितीय भाग, पृ० ६११-१२; 'विनोद' में पन्नानरेश अमानसिंह का राज्यकाल सं० १८१५ वि० तक लिखा है, किन्तु यह ठीक नहीं है। अमानसिंह की मृत्यु सं० १८१३ वि० में हो गयी थी। (द्र० : बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास, पृ० २५१)।

५. श्रीवासुदेव गोस्वामी की व्यक्तिगत सूचना के आधार पर।

६. इनकी 'तेरामासी' नामक रचना की प्रति काशी नागरी प्रचारिणी सभा में है।

७. द्र० : 'संक्षिप्त विवरण', प्रथम भाग, पृ० १७८

८. द्र० : उपरिवत्, पृ० ३५२।

५. विरहविलास : इसकी रचना सं० १८११ वि० में हुई थी। इसमें कृष्ण के गोकुल से मथुरा चले जाने पर ब्रजवनिताओं की विरहदशा का विस्तृत वर्णन किया गया है। शुक्ल जी ने इस कृति को बख्शी जी की पहली रचना होने की सम्भावना की है[1], जो ठीक नहीं है। इसमें और 'सनेहसागर' में गुरु-सम्बन्धी उल्लेखों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इसकी रचना 'सनेहसागर' से पूर्व हुई थी; क्योंकि इसमें 'विजयसखीजी' को 'गुरुभाई' बताया गया है और 'सनेहसागर' में उन्हें 'गुरु' लिखा गया है। अत: विजयसखी के गुरुभाई होने का उल्लेख पूर्वरचित ग्रन्थ में अधिक उपयुक्त माना जा सकता है। इसकी प्राप्त प्रति सं० १८४५ वि० की है[2] और इसमें १५ अध्याय हैं। यह विप्रलम्भ श्रृंगार की उत्कृष्ट कृति है।

६. सनेहसागर : यह बख्शी जी की सर्वाधिक ख्यातिप्राप्त रचना और काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से भी सर्वोत्कृष्ट कृति है। यह नौ तरंगों में विभक्त है, जिनके नाम इस प्रकार हैं : १. बालविहार वृन्दावनगमन, २. स्वप्नचित्रदर्शन, ३. श्रीकृष्ण राजा प्रत्यक्ष दर्शनवर्णन, ४. राधाकृष्ण प्रेमविवाहवर्णन, ५. फागविलास, ६. अपती विलास विहार वर्णन, ७. युगलसरूप दर्शन अभिलाष, ८. कृष्ण सखीवेष मिलनवर्णन, ९. श्यामजी सखावेष।

इस ग्रन्थ की प्रत्येक तरंग के अन्त में 'बगसी हंसराज विरचितायां' इत्यादि लिखा है। इसके परिशिष्ट में 'चुरेरिनलीला' तथा 'चोबदारलीला' के रूप में 'दो तरंगें' अतिरिक्त रूप में दी गयी हैं। इस रचना में कृष्ण की विविध लीलाएँ – राधाप्रेम, राधाकृष्ण-विवाह, कृष्ण का सखीभाव, राधा का सखाभाव आदि वर्णित हैं। भाव-विकास के उचित प्रसंगों का इन्होंने चयन किया है और उसी के अनुकूल भाषा का विकास भी किया है। आचार्य शुक्ल ने इनकी भाषा को आदर्शभाषा स्वीकार किया है।[3] रस-व्यंजना, भाषा एवं छन्द के सहज-सरल स्वरूप तथा प्रवाह के कारण यह रचना अप्रतिम स्थिति को प्राप्त कर गयी है। प्रेमरति के प्राधान्य के कारण यह कृष्णकाव्य के अन्तर्गत गोचारण- लीलाकाव्य का श्रेष्ठ रूप है। राधा-कृष्ण के चरित, प्रकृति-चित्रण, नखशिख-वर्णन, श्रृंगार रस के प्रामुख्य, संवादों की नियोजना आदि के कारण यह रचना निराली हो गयी है। अतः, इसकी कविता बड़ी ही सरस और लुभावनी है। वस्तुतः, 'सनेहसागर' अत्यन्त प्रौढ़ रचना है और भाषा, भाव तथा काव्य की दृष्टि से वर्णन उत्कृष्ट है।

अबसे काफी समय पूर्व लाला भगवानदीन जी ने इसका सम्पादन कर इसे काशी की साहित्यभूषण-मण्डली द्वारा सं० १९७२ (सन् १९१५ ई०) में प्रकाशित कराया था।[4] इस संस्करण के अलावा इसका प्रकाशन अन्य दो-तीन स्थानों से भी हुआ है।[5] अतः, डा० सिडाना का यह लिखना कि 'अभी तक सिर्फ 'मिहिरराज चरित' का ही प्रकाशन

---

१. द्र० : हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पूर्ववत्, पृ० ३२५।
२. द्र० : 'संक्षिप्त विवरण', द्वितीय भाग, पृ० ३८७
३. द्र० : हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पूर्ववत्, पृ० ३२५।
४. द्र० : हिन्दी-पुस्तक-साहित्य (डा० माताप्रसाद गुप्त), पृ० ६७५।
५. द्र० : 'लोचनप्रसाद पाण्डे के निबन्ध' नामक पुस्तक में 'सनेहसागर के कवि बक्षी हंसराज' शीर्षक लेख।

हुआ है'[१] उचित नहीं है। इसमें रचनाकाल का अभाव है। इसकी, सं० १८४८ वि० की प्राचीनतम हस्तलिखित प्रति का उल्लेख प्राप्त होता है।[२]

७. राजचन्द्रिका : आचार्य शुक्ल तथा अन्य एक-दो विद्वानों ने इसका उल्लेख 'रायचन्द्रिका' के रूप में किया है, जो अशुद्ध है। इसका वास्तविक नाम 'राजचन्द्रिका' है। बख्शी जी की इस कृति का अन्वेषण तथा प्रकाशन (सन् १९८० ई०) कर श्रीमिश्रीलाल शास्त्री ने हिन्दी-जगत् का बड़ा उपकार किया है। यह एक बड़ी महत्त्वपूर्ण रचना है। इसकी रचना सं० १७८९ वि० में हुई थी।[३] इसमें निम्नांकित प्रकरण हैं :

क्रमांक	शीर्षक	छन्द-संख्या
प्रथम प्रकाश	नृपवंस राज्यवर्णन नाम	६९
द्वितीय प्रकाश	अथ सतगुरु नृपसंवाद वर्णनम्	८३
तृतीय प्रकाश	अथ सत्संगादि साधन वर्णनम्	४९
चतुर्थ प्रकाश	अथ ब्रह्माण्ड उत्पत्ति स्थिति वर्णनम्	५५
पंचम प्रकाश	अथ अवतार वर्णनम्	३४
षष्ठ प्रकाश	अथ क्षर अक्षर अक्षरातीत स्थान वर्णनम्	५१
सप्तम प्रकाश	अथ परमधाम वर्णनम् (दोहरा) तथा अथ जमुना सप्तघाट	२११
अष्टम प्रकाश	अथ परमधाम परब्रह्मलीला वर्णनम्	३७
नवम प्रकाश	अथ अक्षर चित्तगति प्रियामनोरथ परिपूर्ण वर्णनम्	१०३
दशम प्रकाश	अथ ब्रह्मांडांतर्गत भूलोकरचना विशेष वर्णनम्	३८
एकादश प्रकाश	अथ परमधाम प्रियाप्रिययुवलोक गमनम्	११४
द्वादश प्रकाश	अथ गोकुलस्थित बालचरित्र वर्णनम्	२८२
त्रयोदश प्रकाश	अथ ब्रजलीला वर्णनम्	२४६
चतुर्दश प्रकाश	अथ रहसलीला वर्णनम्	६२३
पंचदश प्रकाश (क)	अथ प्रतिबिम्बलीला कृष्णद्वारावती गमनम्	६०६
पंचदश प्रकाश (ख)	अथ ब्रह्म लीलावतरण पंचदश अध्याय	१८७

इसमें कुल २७८८ छन्द हैं। कथ्य, तथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से इसमें प्रणामी दर्शन की श्रेष्ठ अभिव्यंजना और कृष्णकाव्य का स्तरीय निरूपण है। इस कृति में प्राणनाथ जी का सर्वत्र स्तवन है और उनके सिद्धान्तों को भली-भाँति समझाया गया है। प्राणनाथ-छत्रसाल के संवादात्मक रूप में इसका प्रणयन हुआ है और इसी के द्वारा ब्रह्मात्माओं की लीला का वर्णन एवं निरूपण है। काव्य की सरसता के कारण इसमें दर्शन की शुष्कता तथा दुरूहता नहीं खटकती। माधुर्य एवं प्रसादगुणसम्पन्न

---

१. द्र० : श्री प्राणनाथ जी और उनका साहित्य, पृ० ३९

२. द्र० : सक्षिप्त विवरण, द्वितीय भाग, पृ० ५०७।

३. निर्ध(९) वसु(८) सागर(७) सीतकर(१) शुभ संवत् निरधार।
माह शुक्ल गुरपंचमी कीनो ग्रन्थ विचार।

इस रचना में अलंकारों ने स्वाभाविक स्थिति प्राप्त की है और इसका छन्दप्रयोग अनुशासित है। इसकी भाषा बुन्देली है और काव्यरूप गीतप्रबन्धात्मक। साम्प्रदायिक, दार्शनिक तथा काव्यात्मक – तीनों रूपों में यह कृति प्रणामी-साहित्य तथा हिन्दी-वाङ्मय की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि एवं निधि है। प्रतिपाद्य कथा, प्राणनाथ-मत तथा संवाद-योजना की दृष्टि से यह प्रणामी-सम्प्रदाय की विजयपताकात्मक, स्वागत-योग्य और महनीय काव्यकृति है।

८. बारहमासा : आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में इसकी रचना सं० १८११ वि० में होने का संकेत किया है[1], किन्तु इस सम्बन्ध में उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया है। साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि स्वयं ग्रन्थकार ने भी इस सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं दी है। यह रचना मात्र दो ही पृष्ठों की है। इसके अन्त में रचनाकार के नाम का उल्लेख हुआ है – 'हंसराज विचारी विरही बारहमासा गावहीं।' इसकी एक प्रति काशी ना०प्र० सभा में है। इसमें बारहों महीने के विरह की तीव्रता दिखायी गयी है। रचना सुन्दर है।

९. मिहराजचरित : इस ग्रन्थ का उल्लेख 'छत्रसाल-ग्रन्थावली' की भूमिका में उसके सम्पादक श्री वियोगि हरि ने भी किया है। इस ग्रन्थ में गुरुदेवचन्द्र जी तथा महामति प्राणनाथ जी[2] का पद्यबद्ध जीवनचरित है और प्रणामी-सम्प्रदाय के धर्मग्रन्थों में इसका विशेष स्थान है। यद्यपि हंसराज ने इस चरित्र के लिखने में स्वामी लालदास जी की 'बीतक' का सहारा लिया है, तथापि कहीं-कहीं अन्तर भी दिखायी पड़ता है। जहाँ कवित्व-शक्ति दिखाने का अवसर मिला है, वहाँ कवि ने उसका लाभ उठाया है। 'सनेहसागर' के बाद 'मिहराजचरित' ही बख्शी जी की सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना है। इसकी भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है, जो मधुर, लाक्षणिक और पाण्डित्यपूर्ण है। चौपाई, दोहा, सोरठा आदि विविध छन्दों का प्रयोग अत्यन्त अनूठे ढंग से किया गया है। शैली प्रभावपूर्ण है, जो विषय को स्पष्ट करने में पर्याप्त सहायता देती है। भावाभिव्यक्ति उत्तम है।

'मिहराजचरित' नामक इस 'बीतक' के प्रथम प्रकरण में चार युग के राजाओं का वर्णन है। दूसरे प्रकरण से नवें तक गुरुदेवचन्द्र का जीवनवृत्त और दसवें से छप्पनवें प्रकरण तक महामति प्राणनाथ के जीवन-भ्रमण आदि का वर्णन किया गया है। अन्तिम छह प्रकरणों में ब्रज-वृन्दावन, रासलीला, ब्रह्मसृष्टि-आगमन आदि का वर्णन है। यह रचना इकसठ प्रकरणों और ५२३३ चौपाइयों में पूर्ण हुई है।

शास्त्री देवकृष्ण द्वारा सम्पादित इस ग्रन्थ का प्रकाशन श्रीसन्तसभा, नौतनपुरी धाम, जामनगर (गुजरात) से सं० २०२१ वि० में हुआ है। किन्तु मूल का 'प्रतिबिम्ब- लीला' भाग इस प्रकाशित प्रति में नहीं है। इसकी हस्तलिखित[1] और प्रकशित कृति में अन्य भी

---

१. द्र० : हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पूर्ववत्, पृ० ३२५।
२. प्राणनाथ जी की बाल्यावस्था का नाम 'मिहिरराज' था। 'मिहिर' संस्कृत में सूर्य का पर्यायवाची शब्द है। ज्योतिषियों की भविषयवाणी के आधार पर इनका यह नाम रखा गया था। 'मिहराज' या 'मेहराज', 'मिहिरराज' का ही विकसित रूप है।

कुछ अन्तर हैं। इस ग्रन्थ की रचना सं० १८०३ माघ सुदी पंचमी, बुधवार को हुई थी। 'दर्शनपक्ष' की दृष्टि से यह 'चरित' महत्त्वपूर्ण है। प्रणामी-सम्प्रदाय में चरित्रग्रन्थों की संज्ञा 'बीतक' है। 'बीतक' शब्द का अर्थ 'वृत्त', 'वृत्तान्त' या 'बीता हुआ' है। इस सम्प्रदाय की यह ग्रन्थ-विधा पर्याप्त समृद्ध है। सम्प्रदाय के बीतक-साहित्य में इस 'बीतक' का विशिष्ट स्थान एवं गरिमा है। बीतक-साहित्य को बख्शी जी का प्रदेय स्तुत्य है। प्रणामी-सम्प्रदाय में बीतककार के रूप में इनके 'बीतक' में ही सर्वाधिक कवित्व-शक्ति और भावोद्रेक के तत्त्व मिलते हैं। साहित्यिक दृष्टिकोण से भी इस 'बीतक' का अपना महत्त्व है। इस प्रकार यह जीवन-वृत्त का प्रबन्धात्मक रूप है।

१०. नन्दलीला : इसकी हस्तलिखित प्रति छतरपुरनिवासी श्री रामदास जी नामदेव के पास सुरक्षित है। इसकी रचना-शैली 'सनेहसागर' से पूर्णतया मिलती है। अतः, इसके बख्शी हंसराज-कृत होने में कोई सन्देह नहीं है।

११. तेरामासी रचना : यह रचना कुल चार पृष्ठों की है। इसके अन्त में रचयिता का 'हंसराज' नाम दिया हुआ है। ग्रन्थकार ने इसमें अधिक मास को भी शामिल करते हुए तदनुसार १३ मासों की विरह-दशा का चित्रण किया है। 'बारहमासा' की तरह ही इसमें भी प्रत्येक माह की प्रकृति नव-नव रूप में विरहिन की विरह-पीड़ा को तीव्र करती है। प्रेम की प्रगाढ़ता और समर्पण की भावना से रचना समृद्ध है।

बख्शी जी के कृतित्व के आधार पर मिश्रबन्धुओं ने अपने 'विनोद' के द्वितीय भाग में इनको 'पूर्वालंकृत हिन्दी' (सं० १६८१ से १७९० वि० तक) प्रकरण के अन्तर्गत 'माध्यमिक देवकाल' में रखते हुए इन्हें पद्माकर की श्रेणी प्रदान की है।[२] किन्तु, उन्होंने ही 'विनोद' के प्रथम भाग के 'संक्षिप्त इतिहास-प्रकरण' में 'उत्तरालंकृत हिन्दी' (सं० १७९१ से १८८९ वि० तक) अध्याय के अन्तर्गत 'सूदनकाल' में बख्शी जी का उल्लेख किया है[३], जो पूर्व उल्लेख से अधिक उपयुक्त है। वैसे तो बख्शी जी के कविता-काल (सं० १७८९ से १८११ वि०) को देखते हुए उनका उल्लेख इसी अध्याय के अन्तर्गत 'दास-काल' में किया जाना अधिक उपयुक्त रहता।

हंसराज जी का समस्त जीवन बुन्देलखण्ड में ही बीता था। इसीलिए, वह मूलतः बुन्देली के ही कवि हैं। इनकी मूल भाषा बुन्देली ही है। इनकी ब्रजभाषा पर भी बुन्देली का ही प्रभाव अधिक है। इनका काव्य बुन्देलखण्ड की आंचलिक संस्कृति को अच्छी तरह समेटे हुए है। बुन्देली संस्कृति एवं लोक-परम्पराओं की दृष्टि से 'हंसराज-वाङ्मय' एक अपूर्व सारस्वत भाण्डार का मूल्य रखता है। यह बुन्देलखण्ड के एक उच्च कोटि के कवि थे। इनके साहित्यिक कृतित्व को मिश्रबन्धु, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि विद्वानों ने रेखांकित किया है।

---

१. इसकी हस्तलिखित प्रति पन्ना के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित है।

२. द्र० : 'मिश्रबन्धुविनोद', पृ० ६११-१२।

३. उपरिवत्, पृ० १२५-२६।

३.९ महाकवि घनानन्द का निधन-काल

श्रीमती ज्ञानवती त्रिवेदी ने ऐतिहासिक पुष्ट प्रमाणों के आधार पर प्रसिद्ध महाकवि घनानन्द के मृत्युकाल के विषय में चली आ रही हिन्दीवालों की नादिरशाही को समाप्त किया और सिद्ध किया कि घनानन्द जी का वध अहमदशाह अब्दाली के मथुरावाले 'कत्लेआम' में हुआ था।[१] यद्यपि अहमदशाह दुर्रानी के मथुरावाले कत्लेआम का उल्लेख सर्वप्रथम श्री राधाकृष्णदास जी ने किया था तथापि परवर्ती लेखक इस ओर ध्यान न देकर घनानन्द जी की मृत्यु नादिरशाही में ही होना लिखते हैं। राधाकृष्णदास जी ने लिखा है – "सं० १८१४ (१७५७ ई०) में शाह आलम सानी के समय में अहमदशाह दुर्रानी ने मथुरा में कत्लेआम किया था।"[२]

सन् १७५७ में मथुरा का कत्लेआम जहीरउद्दीन आलमगीर सानी के समय में हुआ था। उस समय शाह आलम सानी देहली का बादशाह नहीं था। राधाकृष्णदास जी का उल्लेख अशुद्ध है। वह आगे लिखते हैं – "इस विषय में कवीश्वर जयलाल जी ने मुझे यह लिखा है – कत्लेआम होने की खबर यहाँ कृष्णगढ़, रूपनगर में गुप्त आ पहुँची थी, नागरीदास जी के छोटे भाई बहादुर सिंह जी और नागरीदास जी के पुत्र सरदार सिंह जी ने इनको अर्जी लिखी थी कि कुटुम्ब-यात्रा के लिए यहाँ अवश्य पधारें। तब इस धोखादई से यहाँ आ गये थे, फिर छह महीने रहकर पीछे वृन्दावन ही पधार गये। सुनते हैं कि उस समय उनके (नागरीदास) साथ आनन्दघन जी भी थे, परन्तु जयपुर से ही लौट आये।"[३]

ब्रज से नागरीदास जी और घन-आनन्द जी के प्रस्थान का संवत् 'नागर समुच्चय' में कवीश्वर जयलाल ने यह दिया है :

अठारह सै ऊपरै संवत् तेरह जान।
चैत्र कृष्ण तिथि द्वादशी ब्रज तें कियों पयान।

– घनानन्द ग्रन्थावली, पृ० ५८

अर्थात् सं० १८१३, चैत्र कृष्ण द्वादशी को ब्रज से प्रस्थान किया।

अब्दाली ने एक बार सन् १७५७ (सं० १८१३ वि०) और दूसरी बार सन् १७६० (सं० १८१६-१७ वि०) में आक्रमण किया था। कुछ विद्वानों ने प्रस्थान-विषयक जयलाल जी के कथन पर एकदम विश्वास कर घनआनन्द जी का निधन दूसरी बार के आक्रमण में होना माना है। अब्दाली का सन् १७५७ में मथुरा, वृन्दावन का कत्लेआम १ मार्च से ६ मार्च तक हुआ था। 'इंडियन एफिमरीज के अनुसार यह समय फाल्गुन शुक्ल दशमी से चैत्र कृष्ण प्रतिपदा तक पड़ता है। (देखें घनानन्द ग्रन्थावली, पृ० ५८, ५९)। जयलाल जी के अनुसार कत्लेआम समाप्त होने के १२ दिन बाद अर्थात् चैत्र कृष्ण १२ को नागरीदास

---

१. घनआनन्द, पृ० ५७, ६३।
२. राधाकृष्ण ग्रन्थावली, पृ० १७३।
३. वही, पृ० १७४, १९५।

जी तथा आनन्दघन जी वृन्दावन से कृष्णगढ़ को जाते हैं। अतः अब्दाली के प्रथम आक्रमण में घनानन्द जी का वध नहीं हुआ। किन्तु जयलाल जी का यह कथन विचारणीय है।

जब कत्लेआम वृन्दावन में ही नागरीदास जी के सामने हुआ तो जयलाल जी का ऐसा लिखना कि 'धोखादई से यहाँ आ गये थे' क्या अर्थ रखता है और धोखा ही क्या हुआ, धोखा तो तब होता, जबकि नागरीदास जी कत्लेआम से पूर्व ब्रज को छोड़ कृष्णगढ़ चले जाते। अतएव कवीश्वर जयलाल जी का कथन वदतो व्याघात दोष से पीड़ित है।

जिन राधाकृष्ण दास जी ने कवीश्वर जयलाल जी के कथनों के आधार पर अपना लेख लिखा है, उन्होंने स्वयं नागरीदास जी के कृष्णगढ़-प्रस्थान के बारे में यह लिखा है–

"सं० १८१३ के फाल्गुन में नागरीदास जी ने कुटुम्ब-यात्रा के निमित्त प्रस्थान किया।"[1] राधाकृष्णदास जी का यह कथन तो किसी सीमा तक विश्वसनीय माना जा सकता है किन्तु जयलाल जी का कथन विश्वास-योग्य नहीं है।

पंडित विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने भी कवीश्वर जयलाल जी के कथन को विश्वसनीय मानकर घनआनन्द जी का निधन अब्दाली के दूसरी बार के आक्रमण में होना सिद्ध किया है।[2] यह निर्णय करने में आपने खोज-रिपोर्टों से प्राप्त कुछ नवीन सामग्री को भी आधार बनाया है।

चाचाहित वृन्दावनदास जी की 'हरिकला बेलि' नामक रचना के विवरण[3] में विषयान्तर्गत दी हुई टिप्पणी किंवदन्ती पर आधारित है। मिश्र जी ने उसे वास्तविकता-सी दे दी है। (देखें घनानन्द-ग्रन्थावली, पृ० ५८)

वस्तुतः कवीश्वर जयलाल जी का कथन किन्हीं पुष्ट प्रमाणों पर आधारित नहीं है, केवल अनुमानाश्रित है। यह पहले ही लिखा जा चुका है कि जयलाल जी का कथन विश्वास-योग्य नहीं है।

अब्दाली के भारत पर विशेष रूप से दो आक्रमण प्रसिद्ध हैं। प्रथम सन् १७५७ में और दूसरा सन् १७६०-६१ में। सन् १७५७ (सं० १८१३) के आक्रमण में ही मथुरा और वृन्दावन का कत्लेआम हुआ था। दूसरे सन् १७६० (सं० १८१७) के आक्रमण में मथुरा-वृन्दावन में किसी प्रकार का कोई कत्लेआम नहीं हुआ। इतिहास से इस दूसरे कत्लेआम की पुष्टि नहीं होती है। इतिहास में केवल सन् १७५७ में ही मथुरा-वृन्दावन में कत्लेआम होने का उल्लेख मिलता है। अब्दाली के सन् १७६० के दूसरे आक्रमण के विषय में इतिहासवेत्ता सर जदुनाथं सरकार इस प्रकार लिखते हैं –

"२७ जनवरी को खिजिराबाद से अहमद शाह ने प्रथम सूरजमल के विरुद्ध शेरगढ़ के रास्ते (मथुरा से २० मील उत्तर, ४ फरवरी) से डीग को (६ फरवरी) कूच किया। इस किले को उसने घेर लिया, परन्तु तत्परता से नहीं। इसको आधार

१. राधाकृष्ण ग्रन्थावली, पृ० १६४।
२. घनआनन्द ग्रन्थावली, पृ० ५७।
३. खोज-रिपोर्ट, सन् १६१२-१४, १६६ के, पृ० २५२।

बनाकर उसकी सेना का एक भाग बहुत जल्दी कूच करता हुआ आगे बढ़ा और रात में पश्चिम की ओर ११ फरवरी को मराठों की एक सेना को हरा दिया। फिर वह नारनोल के मार्ग से मेवात में घुसा। उसे सूचना मिली थी कि मल्हार वहीं है, लेकिन मराठा उत्तर की ओर चला गया और अब्दाली रिवाड़ी की ओर (१८ फरवरी)। अब्दाली को पता नहीं था कि मराठा कहाँ थे। इसलिए २२ तारीख को उसने दिल्ली की ओर आठ मील तक कूच किया। लेकिन दक्षिणियों के हल्के घोड़े फिर उससे खिसक निकले। मल्हार २२ फरवरी को रिवाड़ी से चालीस मील उत्तर और दिल्ली से १८ मील पश्चिम की ओर बहादुरगढ़ में था। दो दिन बाद वह कालका देवी के पास दिखायी दिया। २६, २७ को जमुना पार करके वह दोआब में पहुँच गया। अब्दाली कूच करके २७ फरवरी को दिल्ली से २० मील पश्चिम में धनकोट पहुँचा। २६ तारीख को खिजिराबाद गया और अगले दिन उसने जहान खाँ को जमुना नदी पार पूर्वी तट की ओर भेज दिया।'' (पृ० १५२, मुगल साम्राज्य का पतन, द्वितीय खंड, प्रथम हिन्दी-संस्करण, अध्याय १६, जदुनाथ सरकार)।

जब इतिहास से अब्दाली के सन् १७६०-६१ के आक्रमण में मथुरा-वृन्दावन में कत्लेआम होना सिद्ध नहीं होता, तब घनानन्द जी का निधन दूसरे आक्रमण में कैसे मान लिया जाए ?

चाचाहित वृन्दावनदास जी घनानन्द के समकालीन कवि थे और वृन्दावन में ही निवास करते थे। इन्होंने अपनी रचना 'हरिकला बेलि' में सं० १८१३ के सर्व विध्वंसक आक्रमण का वर्णन किया है[1] और उसी प्रसंग में कुछ प्रमुख महानुभावों के वध-वर्णन के साथ आनन्दघन जी के वध का भी उल्लेख है। इन्होंने लिखा है – ''सं० १८१३ में यवनों ने देश का नाश किया। लोगों पर बड़ी भारी विपत्ति आ पड़ी। ऐसा ज्ञात होता था कि मानो हरि ही संहार के लिए उतर पड़े हों।''

ठारह सै तेरहों बरस हरि यह करी।
जमन विगोयो देस विपति गाढ़ी परी।
तन-मन चिन्ता बढ़ी साधु यतन करे।
हरि हाँ मनोहु सिष्टि संघार काल आयुध धरे।

इस घटना का वर्णन करने के पश्चात् चाचा जी ने इसी रचना में आगे अपनी एक व्यक्तिगत घटना का वर्णन किया है। चैत्र सुदी एकादशी सं० १८१४ को फर्रूखाबाद में गंगा के किनारे गये। वहाँ रात्रि को रास हुआ। रात के तीन पहर बीतने पर रासकर्ताओं ने आनन्दघन जी का एक ख्याल गाया, उसे सुनकर चाचा जी का मन बड़ा विह्वल हो गया और वह सोचने लगे कि ऐसे सन्तजनों को भी यवनों ने आकर मार डाला। इससे उनका हृदय सोच से दब गया।

बार-बार सोचत यही गये प्रान बौराइ।

---

१. इस 'बेलि' के नरसंहार-विषयक व्यापक वर्णन का संक्षिप्त रूप में प्रकाशन 'युग-युगीन ब्रज' (सन् १६८८) में (पृ० २२३-२३१) किया गया है।

सन्त करे बध जमन नै यह दुख सह्यो न जाइ ।३।
सहर फर्रूखाबाद जह गये सुरधनी पास।
चैत्र सुदी एकादशी तहाँ भयौ इक रास ।४।
तीन पहर रजनी गई वे कवि कीयौ गान।
तहाँ एक कौतुक भयौ जाकौ करौ बखान ।५।
आनन्द घन को ख्याल इक गायौ खुलि गये नैन
सुनत महा विहवल भयौ मन नहिं पायौ चैन ।६।
ऐसेहू हरि-सन्त-जन मारे जमननि आइ।
यह अति देख हियो भयो लीनौ सोच दबाइ।

फाल्गुन शुक्ल १०वीं से लेकर चैत्र कृष्ण प्रतिपद सं० १८१३ तक के उपद्रव में मारे जानेवाले आनन्दघन जी के विषय में चैत्र सुदी ११ सं० १८१४ को अर्थात् २६ दिन बाद चाचा जी का यह शोक स्वाभाविक है। ऊपर सं० १८१३ की विपत्ति का वर्णन कर उसके एकदम बाद इस घटना का उल्लेख करने से ही विश्वास होता है कि आनन्दघन जी की मृत्यु उसी समय हुई थी।

इस रचना में चाचाहित वृन्दावनदास जी ने आनन्दघन जी की मृत्यु पर वर्तमानकालिक भाषा में शोक प्रकट किया है। उनका कवित्त इस प्रकार है :

विरह सौं तायौ तन निबाह्यौ कन सांचौ पन
धन्य आनन्द घन मुख गाई सोई करी है।
एहो ब्रजराज कुंवर धन्य धन्य तुमहूं कौ,
कहानी की प्रभु यह जग में बिस्तरी है।
गाढ़ो बृज उपवासी जिन देर अन्त पूरी पारी,
रज की अभिलाषा सो तहाँ ही देह धरी है।
बृंदावन हित रूप तुमहू हरि उड़ाई धूरि,
ऐ पै सांची निष्ठाजन ही की लखि परी है । ७ ।

मिश्र जी ने चाचा जी के उपर्युक्त कथनों के आशय स्पष्ट करने में खींचतान से काम लिया है।[1] आगे आप लिखते हैं – "सं० १८१३ में तो वह (लेखक) फर्रूखाबाद में गंगा के किनारे था। सं० १८१७ में तो उसने आनन्दघन जी के शव को प्रत्यक्ष अपनी आँखों देखा था। महात्मा आनन्दघन जी की 'ब्रजरज' में मिलने की इच्छा थी। उनके शव पर आँसू बहाता हुआ कवि सं० १८१७ में आषाढ़ बदी रविवार को कहता है।"[2]

सं० १८१३ में नहीं, सं० १८१४ में लेखक फर्रूखाबाद में गंगा के किनारे था और वहीं उनकी वह व्यक्तिगत घटना घटी, जिसका उल्लेख पहले हो चुका है। सं० १८१७ में तो लेखक डीग भरतपुर में था। वहीं रहकर सं० १८१७ आषाढ़ बदी ११ रविवार को 'हरि कथा बेलि' पूर्ण की थी। सं० १८१४ से सं० १८१७ तक के समय में लेखक के

१. देखिये घनानन्द ग्रन्थावली, पृ० ५६।
२. वही, पृ० ५६।

वृन्दावन में रहने का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता और न ही इस समय के बीच रची हुई लेखक की कोई रचना प्राप्त होती है।[1] ऐसी अवस्था में आनन्दघन जी के शव का प्रत्यक्ष दर्शन सं० १८१७ का न होकर सं० १८१३ का ही है।

डा० मनोहरलाल गौड़ ने भी कवीश्वर जयलाल वर्मा के कथनों को आप्त वाक्य मानकर सत्यता के निकट पहुँचते हुए भी १८१७ में अब्दाली के दूसरे आक्रमण के समय घनआनन्द जी का निधन होना माना है।[2] गौड़ जी को कवीश्वर जयलाल तथा मिश्र जी के कथनों पर स्वतन्त्रतापूर्वक विचार कर विनिगमक प्रमाणों को खोजना चाहिए था।

अतः ऐतिहासिक प्रमाणों से स्पष्ट है कि सन् १८१७ में अब्दाली के दूसरे आक्रमण के समय मथुरा बृन्दावन में कोई कत्लेआम नहीं हुआ तथा घनानन्द का निधन अब्दाली के सं० १८१३ के प्रथम आक्रमण में हुए मथुरा वृन्दावन के कत्लेआम में हुआ। वास्तव में उनका वध सन् १७५७ ई० में १ मार्च से ६ मार्च (फाल्गुन शुक्ल दशमी से चैत्र कृष्ण प्रतिपदा, सं० १८१३ वि०) के मध्य ही हुआ था। विशेष रूप से ६ मार्च (चैत्र कृष्ण प्रतिपदा) ही उनकी वध-तिथि निश्चित होती है, क्योंकि बृन्दावन में लूटमार और कत्लेआम ६ मार्च को हुआ था। उस दिन दुलहैण्डी थी। इतिहास की पुस्तकों में जो यह लिखा रहता है कि एक मार्च को होली का पर्व था, अशुद्ध है। वास्तव में २८ फरवरी से ६ मार्च तक होलाष्टक था, जो होली के त्यौहार मनाने का विशेष समय माना जाता है।

३.१० 'रहस्य-दर्पण' आदि के रचयिता स्वामी श्री चरणदास जी

स्वामी हरिदास जी के हरिदासी सम्प्रदाय में 'चरणदास' नामक एक भक्त कवि हुए हैं। इनका सर्वप्रथम नामोल्लेख काशी नागरी प्रचारिणी सभा की सन् १९१२-१४ की खोज-रिपोर्ट संख्या ३७ पर हुआ है, जहाँ इनके नाम पर चार ग्रन्थों का विवरणोल्लेख है[3]— १. शिक्षा-प्रकाश, २. भक्तिमाला, ३. रहस्य-दर्पण और ४. रहस्य-चन्द्रिका।

खोज-रिपोर्ट से इनका उद्धार करने का श्रेय डा० शरणबिहारी गोस्वामी को है, जिन्होंने इनको सबसे पहले अपने शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी-कृष्ण-भक्ति-काव्य में सखीभाव' में स्थान देकर साहित्यिकों को इनका परिचय कराया।[4] तभी से यत्र-तत्र साहित्य-ग्रन्थों में इनका उल्लेख किया जाने लगा और साहित्य-अध्येता इनकी कृतियों से परिचित हुए। अब तो इनकी दो रचनाओं 'रहस्य-दर्पण' एवं 'रहस्य-चन्द्रिका' का एक सम्पादित सुन्दर संस्करण भी वृन्दावन शोध संस्थान, वृन्दावन से १९८७ ई० में प्रकाशित हो चुका है, जिसके आरम्भ में एक अति उपयोगी 'प्रस्तावना' है।

चरणदास जी के नाम पर उल्लिखित उक्त चार रचनाओं में से 'भक्तिमाला' को केवल पुष्पिका में आये 'चरणदास' नाम के कारण इनकी रचना समझना भ्रमात्मक है।

---

१. राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य, पृ० ५१८, ५२५, प्र०सं०, डा० विजयेन्द्र स्नातक।

२. घनानन्द और स्वच्छंद काव्यधारा, प्र०सं०, पृ० २६, २७।

३. देखें, पृष्ठ ५१-५४।

४. देखें, पृष्ठ ५०५।

यह इनकी कृति नहीं है। वास्तव में यह नारायणदास (नाभा जी) कृत 'भक्तमाल' है और भ्रान्ति से पुष्पिका में – नारायणदास के स्थान पर 'चरणदास' का नामोल्लेख हो गया है। रचना के उद्धृत अंश में कहीं भी कर्ता के रूप में 'चरणदास' का नाम नहीं आया है और उद्धृत अंश का मिलान भक्तमाल से करके भी मैंने अपने कथन की पुष्टि कर ली है। शेष तीनों ग्रन्थ चरणदास जी की कृतियाँ हैं, जिनके विषय में विचार किया जा रहा है।

'शिक्षा-प्रकाश' ग्रन्थ की रचना सं० १८१० में हुई थी, जैसा कि रचना-कालसूचक अंश से प्रकट है[1] –

संमत अष्ट दस सतजुदस, अरु अगहन सुभ मास।
सन वासर तिथि चतुर्थी, वृन्दावन कै वास॥

इससे ज्ञात होता है कि इसकी रचना सं० १८१० में हुई थी, किन्तु वृन्दावन शोध – संस्थान से प्रकाशित संस्करण की प्रस्तावना में डा० शरणबिहारी गोस्वामी ने भ्रमवश इसके रचना-काल के रूप में सं० १८३६ का उल्लेख किया है[2], जो अशुद्ध है। सं० १८३६ तो वास्तव में इसका लिपिकाल है, जैसा कि पुष्पिका में उल्लेख है –

"इति श्रीग्रन्थ शिक्षा-प्रकाश संपूर्ण चिरंजीव बाई श्यामादासी पठनार्थ संवत् १८३६ अस्वन मासे कृष्ण पक्षे पंचमी सुक्र वासर श्रीपुर मध्ये लिषतं चरनदास शुभमस्तु॥"

इससे ज्ञात होता है कि 'शिक्षा-प्रकाश' की यह प्रति स्वयं चरणदास जी ने 'श्यामादासी' के पठनार्थ सं० १८३६ में लिपिबद्ध की थी।[3] (यद्यपि इसकी रचना सं० १८१० में हो चुकी थी।) इस पुष्पिका के आधार पर इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि सं० १८३६ तक चरणदास जी की विद्यमानता थी। यहीं एक भ्रान्ति का और निवारण कर रहा हूँ। उक्त संस्करण की 'अपनी बात' में डा० कैलाशचन्द्र जी भाटिया ने चरणदास द्वारा १६वीं शताब्दी में इन ग्रन्थों का प्रणयन होना लिखा है[4], जो अशुद्ध है। चरणदास जी ने ईस्वी सन् की १८वीं शताब्दी और विक्रम की १९वीं शती के प्रथम चरण में अपने ग्रन्थों की रचना की थी, जैसा कि उनके ग्रन्थों के रचना-कालसूचक अंशों से स्पष्ट है। 'रहस्य-दर्पण' की रचना सं० १८१२ में हुई थी। यथा –

अष्टादस सत दस जु द्वै, संवत अगहन मास।
ग्रन्थ रहस्य दर्पन कियौ, चरनदास सुषरास।

और इसको स्वयं चरणदास जी ने सं० १८३५ में लिपिबद्ध भी किया था, जैसा कि पुष्पिका में उल्लेख है[5] –

---

१. देखें, खोज-रिपोर्ट १९१२/३७ ए, पृ० ५२।
२. देखें, पृष्ठ ६, १०।
३. देखें, खोज-रिपोर्ट १९१२/३७ ए, पृ० ५२।
४. देखें, पृष्ठ ७।
५. देखें खोज-रिपोर्ट १९१२/३७ सी, पृ० ५४।

"इति श्रीग्रन्थ रहस्य दर्पन मिती कातिक सुदि ४ सन वासरे संवत् १८३५ लिषतं चरणदास श्रीपुरमध्ये॥"

'रहस्य-चन्द्रिका' की रचना सं० १८१८ में हुई थी। यथा –

अष्टादस सत अष्ट दस संवत सावन मास।
सुक्र सप्तमी कृष्ण पक्ष प्रात समै सुष रास॥

और इसको भी स्वयं चरणदास जी ने बाई इन्द्रकुँवरि के पठनार्थ सं० १८३५ में लिपिबद्ध किया था।[1] डा० देवीशंकर अवस्थी ने अपने शोध-प्रबन्ध '१८वीं शताब्दी के ब्रजभाषा काव्य में प्रेमाभक्ति' में इन चरणदास का परिचय देते हुए लिखा है कि "रिपोर्ट के अनुसार इनका रचनाकाल संवत् १५७३ से १७६१ के बीच है।"[2] किन्तु यह उल्लेख अशुद्ध है, क्योंकि रिपोर्ट में तो ईस्वी सन् का उल्लेख है और अवस्थी जी ने उसे भ्रमवश विक्रमी संवत् में उल्लिखित किया है। डा० साहब ने रिपोर्ट का संदर्भ भी अशुद्ध दिया है। उक्त चारों हस्तलिखित ग्रन्थ सन् १९१२-१४ की ही खोज में प्राप्त हुए हैं, न कि सन् १९२४ की खोज में। इन चरणदास का उल्लेख केवल सन् १९१२-१४ की खोज-रिपोर्ट में ही हुआ है, अन्य किसी खोज-रिपोर्ट में नहीं।

'खोज' में प्राप्त 'शिक्षाप्रकाश', 'रहस्य-दर्पण' और 'रहस्यचन्द्रिका' की हस्तलिखित प्रतियाँ महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि वे कवि की स्वहस्तलिखित हैं और तीनों का प्राप्ति-स्थान एक ही है। ये तीनों प्रतियाँ वृन्दावन में गो० गोवर्धनलाल जी के पास सुरक्षित थीं। गोस्वामी जी के वंशज अब भी वहाँ विद्यमान होंगे। अत: उनके माध्यम से उक्त प्रतियों को पुन: प्रकाश में लाना चाहिए। संस्थान को प्राप्त दोनों प्रतियों में पुष्पिका नहीं है। अत: उनमें लिपिकाल का अभाव है। इस दृष्टि से खोज-रिपोर्टवाली प्रतियों का विशेष महत्त्व है। अस्तु।

वैसे तो चरणदास जी का जीवन-वृत्तान्त अज्ञात ही है, सिवाय इसके कि ये हरिदासी-सम्प्रदाय के अनुयायी थे और विक्रम की १९वीं शती के पूर्वार्ध में विद्यमान थे, किन्तु इनके गुरु के नाम की चर्चा अवश्य हुई है। इनके परिचय-उल्लेख में इनको सभी ने स्वामी रसिकदास जी का शिष्य बताया है। इसमें सन्देह नहीं कि चरणदास जी ने रसिकदास जी की प्रशस्ति अपनी रचनाओं में की है, किन्तु वे उनके गुरु थे, ऐसा उल्लेख उन्होंने कहीं नहीं किया। वास्तव में इस भ्रम की सृष्टि 'शिक्षा-प्रकाश' के मंगलचरणात्मक इस दोहे से हुई है –

श्री रसिकदेव रसिकमनि मुकुट श्रीस्वामी सिरताज।
रसिक-अनन्यता रीझि कछु बरनत हौं महाराज॥

किन्तु उक्त दोहे से रसिकदास जी का इनका गुरु होना सिद्ध नहीं होता, जबकि सभी ने इसी दोहे के आधार पर रसिकदास जी का इनके गुरु के रूप में उल्लेख किया

---

१. देखें, वही, ३७ डी।
२. दे०, पृ० २९७ (प्र०सं०), प्र० अक्षर प्रकाशन, दिल्ली।

है।[१] इस भ्रम की व्याप्ति इसलिए भी हुई है कि रसिकदास जी के दो शिष्यों का नाम भी चरणदास था, जिनका उल्लेख रसिकदास जी के शिष्य पीताम्बरदास जी[२] तथा उनके शिष्य किशोरदास जी ने किया है।[३] (यद्यपि यह अलग बात है कि कारण विशेष से इन महानुभावों के उल्लेख पूर्णतया प्रामाणिक नहीं हैं।) किन्तु रसिकदास जी के समय को देखते हुए 'रहस्य-दर्पण' आदि ग्रन्थों के रचयिता चरणदास जी का उनका शिष्य होना सम्भव नहीं है, क्योंकि रसिकदास जी का निकुंजगमन सं० १७५८ में हो चुका था[४] और इनकी रचनाओं का काल (सं० १८१०-१८१८) परवर्ती है। साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि 'वृन्दावन प्रकाशमाला' में जिन चरणदास जी का उल्लेख है[५], वे भी विवेच्य चरणदास जी से भिन्न हैं और रसिकदास जी के शिष्यों में से कोई प्रतीत होते हैं, जिनका समादर भाव से पीताम्बरदास जी तथा किशोरदास जी ने उल्लेख किया है। ''वृन्दावन प्रकाशमाला' के उल्लेख से भी जान पड़ता है कि ये चरणदास जी, पीताम्बरदास जी से आयु में बड़े एवं सम्माननीय थे। 'रहस्य-दर्पण' आदि के रचयिता चरणदास जी की विद्यमानता निश्चय ही सं० १७८० से १८३६ तक तो थी ही और वे किशोरदास जी के समकालीन थे। डा० गोस्वामी का यह आनुमानिक विचार सही है।[६] सम्भव है, अपनी पहली रचना 'शिक्षा प्रकाश' का प्रणयन उन्होंने ३० वर्ष की आयु में किया हो।

चरणदास जी के अपने अन्त:साक्ष्य से ज्ञात होता है कि उनके गुरु 'श्यामदास जी' थे, जैसा कि उन्होंने अपने ग्रन्थ 'रहस्य-चन्द्रिका' के एक दोहे में किया है –

श्रीश्यामदास गुरु सरन-बल, पाये श्रीहरिदासि।
श्रीहरिदासी-कृपा-बल, पाये जुगल उपासि।

इसकी पुष्टि उनके एक अन्य उल्लेख से भी होती है। उन्होंने अपने अन्य ग्रन्थ 'रहस्य-दर्पण' में अपनी परम्परा का उल्लेख करते हुए लिखा है –

कुंजबिहारिन स्वामिनी, कुंजबिहारी स्याम।
ललिता हरिदासी अली, यह सु इष्ट मम नाम॥
विपुल, बिहारी, सरस, अरु, नरहरि रसिक अभिराम।
श्रीपीताम्बर, स्याम जू, यह सु इष्ट मम नाम॥

इस परम्परा के उल्लेख से स्पष्ट है कि पीताम्बरदास जी के शिष्य श्यामदास जी ही उनके गुरु थे, किन्तु हरिदासी सम्प्रदाय के इन श्यामदास जी का परिचय अज्ञात ही है और अभी तक कोई ऐसा परिचय-सूत्र प्राप्त नहीं हुआ है, जिसके आधार पर उनकी

१. देखें, (अ) रस-निकुंज, वर्ष-२, अंक १, २, ३, पृ० ४३। (आ) १८वीं शती के ब्रजभाषा-काव्य में प्रेमाभक्ति, ले० डा० देवीशंकर अवस्थी, पृ० २६७। (इ) ब्रज के धर्म-सम्प्रदायों का इतिहास, ले० डा० प्रभुदयाल मीतल, पृ० ४७२।
२. देखें, श्री पीताम्बरदेव जी की वाणी, श्रीस्वामी हरिदास रससागर, पृ० ५०३।
३. देखें, निजमत सिद्धान्त, अवसान खण्ड, पृ० १३५, १३७।
४. देखें, स्वामी हरिदास जी की जीवनी और वाणी, ले० डा० प्रभुदयाल मीतल, पृ० ११६।
५. देखें, छन्द संख्या ७३।
६. देखें, संस्थान-संस्करण, प्रस्तावना, पृ० ७।

सही पहचान की जा सके। सम्प्रदाय में एक श्यामदास जी का उल्लेख अवश्य मिलता है, जिनका उल्लेख ललितकिशोरीदास जी के शिष्य शील सखी[1] ने अपनी वाणी में किया है। शील सखी ने अपने गुरुभाई श्यामदास जी का अत्यन्त हृदयग्राही वर्णन किया है और अन्त में उनकी निकुंजगमन तिथि (सं० १८११) का भी उल्लेख किया है।[2] इसका अर्थ है कि उनका देहावसान अपने गुरु ललितकिशोरीदास जी के सामने ही हो गया था। ललितकिशोरीदास जी का निकुंजगमन-काल सं० १८२३ है।[3]

ये श्यामदास जी ही चरणदास जी के गुरु हों और प्रमाण से इस तथ्य की पुष्टि हो जाती, तो फिर ननु-नच की सारी स्थिति ही समाप्त हो जाती, किन्तु इस समीकरण की सिद्धि में सबसे बड़ी बाधा स्वयं चरणदास जी की गुरु-परम्परा का उल्लेख है, क्योंकि यदि ये श्यामदास उनके गुरु होते तो वे अपनी गुरु-परम्परा में पीताम्बरदास जी के स्थान पर ललितकिशोरीदास जी का नामोल्लेख करते, लेकिन उन्होंने रसिकदास जी के बाद स्पष्ट रूप से पीताम्बरदास जी का नाम दिया है। अतः ललितकिशोरदास जी के शिष्य इन श्यामदास जी को चरणदास जी का गुरु नहीं स्वीकारा जा सकता।

चरणदास जी की गुरु-परम्परा के आधार पर पीताम्बरदास जी के शिष्य श्यामदास जी के विषय में खोज की जानी अपेक्षित है। मेरे विचारानुसार इसमें किशोरदास जी की रचनाएँ सहायक हो सकती हैं। सम्भव है, उन्होंने पीताम्बरदास जी के शिष्यों एवं अपने गुरुभाइयों का भी वर्णन कहीं किया हो, क्योंकि वे एक प्रकार से सम्प्रदाय के इतिहासकार हैं। इसी सन्दर्भ में इतना और निवेदन है कि चरणदास जी की अन्य रचना 'शिक्षाप्रकाश' की प्रति को भी प्रकाश में लाना आवश्यक है। सम्भव है, प्रति के सामने आने पर उससे कुछ नवीन तथ्यों की जानकारी सुलभ हो जाए। साथ ही उन 'बाई इन्द्रकुँवरि' और 'बाई श्यामादासी' के विषय में भी परिचय प्राप्त करने की चेष्टा की जानी चाहिए, जिनके पठनार्थ चरणदास जी ने अपनी कृतियों को लिपिबद्ध किया था। काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज के 'संक्षिप्त विवरण' में इन दोनों के विषय में लिखा गया है कि ये दोनों चरणदास जी के गुरु की पुत्रियाँ थीं।[4] यद्यपि इस सम्बन्ध में किसी आधार का उल्लेख नहीं है और यह आनुमानिक ही प्रतीत होता है, किन्तु यह तथ्य विचारणीय तो है ही। सम्भव है, इसी माध्यम से यह गुत्थी सुलझ जाए।

अतः चरणदास जी तथा उनके गुरु श्यामदास जी के विषय में अभी पर्याप्त अनुसंधान की अपेक्षा है।[5]

---

१. डा० गोस्वामी ने ललितकिशोरीदेव जी का गुरुभाई लिखा है। दे०, वही, पृ० ७।

२. देखें, सिद्धान्त रत्नाकर, पृ० २९-३१।

३. देखें, श्रीस्वामी हरिदास जी की जीवनी और वाणी, ले० डा० प्रभुदयाल मीतल, पृ० १२३।

४. देखें, प्रथम भाग, पृ० ७३ तथा द्वितीय भाग, पृ० ४७४।

५. ब्रिना व्रिचार किये केवल निजमत-सिद्धान्त के आधार पर व्रिवेच्य चरणदास जी को रसिकदास जी का शिष्य और माथुर-कुल में उत्पन्न लिखते रहना, उचित नहीं। उक्त चरणदास कोई अन्य महानुभाव थे।

३.११ निम्बार्क-सम्प्रदाय की भक्त-कवयित्रियाँ

भारत धर्मपरायण देश है। यद्यपि उसमें भक्ति की परम्परा अति प्राचीन काल से चली आ रही है, किन्तु १५वीं शती के भक्ति-आन्दोलन ने इस देश की सामाजिक एवं सांस्कृतिक दशा को अत्यधिक प्रभावित किया। इस भक्ति-आन्दोलन के प्रसार में विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों ने महान् योग दिया है। वैष्णवों के चतु:सम्प्रदायों में निम्बार्क-सम्प्रदाय एक विशिष्ट सम्प्रदाय है। यद्यपि निम्बार्क दाक्षिणात्य थे, किन्तु उन्होंने उत्तर भारत के ब्रज प्रदेश में आकर अपनी धार्मिक एवं मधुर भावमयी उपासना-पद्धति का प्रचार किया था।

तत्पश्चात् इस सम्प्रदाय का प्रभाव-क्षेत्र धीरे-धीरे बढ़ता गया और कालान्तर में राजस्थान में भी इसका प्रचार एवं प्रसार हुआ। राजस्थान में इस सम्प्रदाय के विशिष्ट प्रचारक श्री हरिव्यास देव जी के शिष्य श्री परशुराम देव जी थे, जिन्होंने राजस्थान के पुष्कराण्य-क्षेत्र (अजमेर के आसपास का भू-भाग) में विशेष रूप से धर्म-प्रचार का कार्य किया। यहीं सलेमाबाद नामक स्थान पर उन्होंने अपनी गद्दी स्थापित की, जो 'परशुराम जी का द्वारा' (परशुरामपुरी) नाम से प्रसिद्ध हुई। यह निम्बार्क-सम्प्रदाय की सर्वाधिक गौरव-सम्पन्न गद्दी है। सलेमाबाद (परशुरामपुरी) स्थित निम्बार्क-सम्प्रदाय का सबसे अधिक मान्य और महत्त्वपूर्ण आचार्य-पीठ किशनगढ़ से लगभग १२ मील और अजमेर से २०-२२ मील की दूरी पर है। यह पहले कृष्णगढ़ और रूपनगर राज्यों के अन्तर्गत था। अब राजस्थान के अजमेर जिले का मुख्य धार्मिक स्थान है।

कृष्णगढ़ और रूपनगर के नरेश, जिनका आपस में रक्त-सम्बन्ध है, इस पीठ के अनन्य भक्त और सहायक रहे हैं। यह राजघराना आरम्भ से ही परशुराम देव जी की शिष्य-परम्परा से सम्बद्ध है। इस द्वारे के आचार्यों में श्री परशुरामदेव जी, श्री वृन्दावनदेव जी, श्री गोविन्द जी, श्री गोविन्दशरणदेव जी आदि उच्च-कोटि के भक्त एवं सुकवि थे।

कृष्णगढ़ (रूपनगर) के राठौर-वंश में काव्य-प्रेम एक परम्परागत संस्कार-सा बन गया था। इस वंश के कई राजा तो स्वयं श्रेष्ठ कवि तथा कवियों के आश्रयदाता रहे ही हैं। साथ ही इस वंश की रानियाँ तथा कन्याएँ भी काव्य-रचना में पर्याप्त निपुण रही हैं। महाराजा राजसिंह की पत्नी श्रीमती राजरानी बाँकावती, उनकी पुत्री राजकुमारी सुन्दर कुँवरि और पुत्र महाराज सांवत सिंह उपनाम नागरीदास जी की उपपत्नी (पासबान) बनीठनी जी तथा नागरीदास जी की पौत्री राजकुमारी छत्रकुँवरि सभी सुकवयित्री थीं। इन्होंने भक्तिपूर्ण श्रेष्ठ कविताएँ की हैं।

निम्बार्क-सम्प्रदाय की इन भक्त-कवयित्रियों का भक्तिकाव्य में विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन कवयित्रियों का नारी-साहित्य-साधनान्तर्गत योगदान एक विशिष्ट देन है। प्रस्तुत लेख में इन्हीं निम्बार्कीय भक्त कवयित्रियों के परिचय के साथ, उनकी काव्य-विषयक सेवाओं पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

३.११.१ महारानी बाँकावती 'ब्रजदासी' :

ये जयपुर-राज्यान्तर्गत लवाण ठिकाने के कछवाहा राजा आनन्द राम (आनन्द सिंह)

उदेरामोत की पुत्री थी। इनका जन्म सं० १७६० के लगभग माना जाता है। कृष्णगढ़-नरेश महाराजा राजसिंह की ये दूसरी रानी थीं। महाराजा साहब की पहली रानी चतुर कुमारी का सं० १७७६ में देहान्त हो गया था। तत्पश्चात् सं० १७७८ में इनका विवाह बांकावती जी से हुआ था। 'बाँकावती' नाम इनके पिता के वंशानुसार पड़ा था।[1] इनका वास्तविक नाम 'ब्रजकुँवरि' था, पर कविता में ये अपना नाम 'ब्रजदासी' रखती थीं। इन्होंने श्रीमद्भागवत् का ब्रजभाषा में पद्यबद्ध अनुवाद किया, जो 'ब्रजदासी भागवत' के नाम से प्रसिद्ध है। भागवत के प्रति विशेष अनुराग के कारण ही इन्हें उसका अनुवाद भाषा में करने की प्रेरणा हुई थी।

'ब्रजदासी' जी निम्बार्क-सम्प्रदाय में दीक्षित थीं। इन्होंने निम्बार्क-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तकाचार्यों एवं तदनन्तर भागवताचार्यों की वन्दना इस ग्रन्थ में इस प्रकार की है :

नमो-नमो श्री हंस, नमो सनकादि रूपहरि।
नमो-नमो श्री नारद, रिष जगको जो समसरि॥
नमो-नमो श्री व्यास, नमो सुकदेव जु स्वामी।
नमो परीच्छित राज, रिषिन में मुख्य जु नामी॥
नमो-नमो श्री भागवत, कृष्णरूपछिति में सफल।
'ब्रजदासी' बंदन करै, मन, करम, वचन मानूं सकल॥

इसी में अपने गुरु 'वृन्दावनदेव जी' का इस प्रकार उल्लेख किया है :

नमो-नमो मम गुरु प्रसिद्ध वृन्दावन नामं।
नमो-नमो हरि-भक्त रसिक जे अति अभिरामं॥

इनका कविता-काल सं० १७८० के आसपास मानना उपयुक्त होगा। 'ब्रजदासी भागवत' बाँकावती प्रणीत एक विशाल ग्रन्थ है, जिसकी रचना दोहा-चौपाइयों में हुई है। कहीं-कहीं पर अन्य छन्द – कवित्त, सवैया तथा छप्पयों का भी सहारा लिया गया है। यह सुमधुर, प्रसादगुण-सम्पन्न एवं साहित्यिक ब्रजभाषा में लिखा गया है, किन्तु राजस्थान की निवासिनी होने के कारण बीच-बीच में राजस्थानी शब्दावली का आ जाना स्वाभाविक ही है। सीधी-सादी भाषा में कविता बड़ी सरस और उत्कृष्ट बन पड़ी है।

श्रीमद्भागवत के १२ स्कन्धों का यह आनुपूर्वी अनुवाद कहीं विधि (अनुवादरूप) और कहीं अविधि (मूल के विपरीत) के अनुसार किया गया है। अनुवाद बहुत सुन्दर हुआ है और भक्तों में इसका प्रचार यथेष्ट है। वह भाव और भाषा में सरल है ही, मूलग्रन्थ की उलझन-भरी ग्रन्थियों को सुलझाने में भी वह स्तुत्य है। इस अनुवाद से उनकी रोचक कवित्व-शक्ति पूर्णतया उद्घाटित होती है और उसमें उनका व्यक्तित्व झलकता है। उत्प्रेक्षा और उपमाएँ उनकी निजी हैं और वे सुन्दर हैं।

कृष्णकाव्य-परम्परा में ये प्रथम स्त्री-कवि हैं, जिन्होंने पदों की मुक्तक गेय प्रणाली

---

१. इनके पूर्वज भगवानदास जी को अकबर ने उनकी वीरता के कारण 'बाँका' की पदवी दी थी, इसलिए उस वंश के लोग पूर्वज से गौरव के प्रतीक स्वरूप अपने नाम के आगे 'बाँकावत' और स्त्रियाँ 'बाँकावती' का प्रयोग करती थीं।

को छोड़कर दोहों तथा चौपाइयों की प्रबन्धात्मक शैली को अपनाया और इस प्रकार एक अनुवादक के रूप में इन्हें पर्याप्त सफलता मिली है। श्रीमद्‌भागवत जैसे वृहद् ग्रन्थ का उल्था इनके धैर्य, प्रतिभा तथा अध्यवसाय का प्रमाण है। भक्तसंसार में इनकी यह कृति अमर है।

'ब्रजवासी भागवत' की एक हस्तलिखित प्रति सलेमाबाद पीठ में सुरक्षित है। एक अन्य खण्डित प्रति गीता प्रेस गोरखपुर के पुस्तकालय में भी है। इसमें एकादश स्कन्ध का अभाव है और यह सं० १८८५ वि० की प्रतिलिपि है। इनकी एक अन्य रचना 'गीता' का पद्यानुवाद भी बतलायी जाती है, जिसकी खोज की जानी चाहिए।

३.११.२ रसिकबिहारी 'बनीठनी' जी :

इनका असली नाम क्या था, यह तो अज्ञात है, किन्तु इनका उपनाम 'बनीठनी' ही इनके वास्तविक नाम का परिचायक है। 'बनी-ठनी' का अर्थ है, वस्त्राभूषणों से सज्जित। ये भक्त-हृदया महिला किशनगढ़ के महाराज राजसिंह के पुत्र महाराज सावंत सिंह उपनाम 'नागरीदास' जी की उपपत्नी (पासबान) थीं और उन्हीं की तरह श्रीकृष्ण की अनन्य भक्त थीं। नागरीदास जी जब विरक्त-भाव से वृन्दावन-वास करने लगे थे तो ये भी उनके साथ ही वृन्दावन में ही रहने लगी थीं। यहाँ रहते हुए उन्होंने निम्बार्क-सम्प्रदायान्तर्गत स्वामी हरिदास जी की शिष्य-परम्परा[१] में आचार्य रसिकदास जी से मन्त्र-दीक्षा ली थी। ये 'रसिकबिहारी'[२] नाम-छाप से भगवद्-भक्तिपूर्ण रचनाएँ करती थीं। नागरीदास जी की मृत्यु के एक वर्ष उपरान्त सं० १८२२ वि० की आसाढ़ सुदि १५ बुधवार को वृन्दावन में ही इनका देहावसान हुआ था। 'नागर-कुंज'[३] में नागरीदास जी की छतरी के निकट ही इनकी भी समाधि बनी हुई है और उस पर यह लेख खुदा हुआ है –

श्री बिहारिन बिहारी जी, ललितादिक हरिदास।
नरहर रसिकनि की कृपा, दियो वृन्दावनवास॥
श्री रसिकदास गुरु की कृपा, लहमा भर सत्संग।
विष्णुहिवृन्दावन मिल्यौ, भक्त बिहार अनंग॥
रसिक बिहारी सामरो, ब्रज नागर सुर काज।
इन पद-पंकज मधुकरी, ... विष्णुसमाज॥

'शिवसिंह सरोज' में इन्हें 'सं० १७८० से उ०' लिखा है[४], जो इनका उपस्थिति-काल

---

१. डा० शरणबिहारी गोस्वामी, स्वामी हरिदास जी की शिष्य-परम्परा को निम्बार्क-सम्प्रदाय के अन्तर्गत न मानकर स्वतन्त्र सम्प्रदाय 'हरिदासी सम्प्रदाय' के रूप में मानते हैं और डा० राजेन्द्र कुमार के विचारानुसार ये रसिकदास की शिष्या नहीं थीं, किन्तु यह विचार भ्रामक है।

२. किसी-किसी ने 'रसिकबिहारी' नाम होने से इन्हें भ्रम से पुरुष मान लिया है। वैसे इनके गुरु रसिकदास जी की नाम-छाप भी 'रसिकबिहारी' ही थी।

३. बाँकावती जी की प्रेरणा से उनके पति महाराज राजसिंह ने वृन्दावन में एक कुंज का निर्माण कराया था, जो आजकल 'नागर कुंज' के नाम से प्रसिद्ध है। (दे० सर्वेश्वर का वृन्दावनांक, पृ० २८३)।

४. दे० सरोज-सर्वेक्षण, पृ० ६६४-६५।

है, जन्मकाल नहीं। सरोज प्रथम संस्करण में १७३८ है, जो सरोज संस्करण २, ३, ४, ७ में १७८० हो गया। १७३८ अशुद्ध है, जो न इनका जन्मकाल है और न रचना-काल है। ग्रियर्सन ने १७२३ ई० (१७८०) में इनका जन्म होना लिखा है[1], जो गलत है। यह इनका कविता-काल है। मिश्रबन्धुविनोद में ६५६ संख्या पर इनका विवरण दिया है और कविता-काल सं० १७८७ लिखा है[2], जो सही है। विनोद में ही ८५१ संख्या पर ग्रियर्सन के उल्लेखानुसार १७८० को जन्मकाल मानकर एक अन्य रसिकबिहारी की मिथ्या सृष्टि की गयी है[3], जो भ्रमपूर्ण है। डा० सावित्री सिन्हा का इन्हें राधावल्लभी बतलाना भी अशुद्ध है।[4]

बनीठनी जी की ग्रन्थ-रूप में कोई रचना प्राप्त नहीं है। इन्होंने फुटकर पद लिखे हैं, जिनकी संख्या सौ के लगभग है। ग्रियर्सन ने 'रागकल्पद्रुम' में इनके पद होने का उल्लेख किया है, जिनकी संख्या सौ के लगभग है। नागरीदास जी के रचना-संग्रह 'नागर-समुच्चय' के अन्त में 'आन कविकृत' नाम से इनके ५८ पद संगृहीत हैं। इनके अतिरिक्त 'उत्सवमाला' नामक ग्रन्थ में भी 'रसिकबिहारी' छाप के तीन पद और चार दोहे मिलते हैं। इनकी भाषा ब्रजभाषा है, जिसमें राजस्थानी शब्द पाये जाते हैं। इन्होंने दोहा-पद शैली ग्रहण की है।

बनीठनी जी ने महाराज सावंत सिंह के साथ सुख-दुख भोगकर सच्ची स्वामी-भक्ति एवं भगवद्-भक्ति का अनुभव किया था, इस कारण इनकी रचनाएँ अत्यन्त प्रभावोत्पादक, सच्ची प्रेम-भक्ति एवं वैराग्य के सच्चे अनुभवों से पूर्ण हैं। ये राधा-कृष्ण के युगल-रूप की उपासिका थीं। कृष्ण के प्रति इनके भावों में माधुर्य की ही प्रधानता है। इनके पदों की भाव-धारा में इनकी लौकिक प्रेमानुभूतियों की मुख्यता है। केवल राधा के शैशव रूप एवं बाल-क्रीड़ाओं से सम्बन्धित पदों में वात्सल्य की व्यंजना हुई है। इस प्रकार इनकी कविता सरस, कोमल और माधुर्य भक्ति-रस से परिपूर्ण है। उसमें भाव-गरिमा अनूठी है, जिसमें भक्ति-रस की गंगा प्रवहमान है। इनकी प्रायः समस्त रचना पदों में है। उनमें गेयता, संगीतात्मकता तथा लय है। रसात्मक भावों की अभिव्यक्ति में वे सफल हैं। वैसे हरिदासी सम्प्रदाय में दीक्षित होते हुए भी बनीठनी के पदों में आत्मानुभूति स्वतन्त्र रूप में हुई है।

३.११.३ सुन्दर कुँवरि बाई :

इनका जन्म कार्तिक सुदि ९, सं० १७९१ में हुआ था। कृष्णगढ़-नरेश महाराज राजसिंह इनके पिता और रानी बाँकावती इनकी माता थीं। सुप्रसिद्ध भक्त-कवि नागरीदास इनके भाई थे। इनकी बाल्यावस्था में ही इनके पिता का देहान्त हो जाने के कारण तथा उस समय देश का राजनैतिक वायुमंडल क्षुब्ध होने के कारण कृष्णगढ़-राजवंश में अनेक पारिवारिक एवं राजनैतिक झगड़े खड़े हो गये थे। इस कारण विवाह-योग्य अवस्था हो जाने पर भी इनका विवाह न हो सका और ये ३१ वर्ष की आयु तक अविवाहित रहीं। बाद

१. दे० हिन्दी-साहित्य का प्रथम इतिहास, पृ० २१६ (सं० ४०५)।
२. दे० भाग २, पृ० ६०९।
३. दे० वही, पृ० ७०८।
४. दे० मध्यकालीन कवयित्रियाँ, पृ० १९४।

में जब इनके भतीजे सरदार सिंह गद्दी पर बैठे, तब उन्होंने इनका विवाह राघौगढ़ के खींची-वंश के राजा बलभद्र सिंह के कुँवर बलवन्त सिंह के साथ किया।[१] इनकी मृत्यु-तिथि अनिश्चित है। इनका देहान्त सं० १८५३ के बाद किसी समय हुआ होगा, क्योंकि इनके अन्तिम ग्रन्थ का रचना-काल सं० १८५३ है।[२]

मिश्रबन्धुविनोद में इन्हें राधावल्लभ सम्प्रदायानुयायी लिखा गया है[३], जो भ्रामक है। इन्होंने स्वयं मित्र-शिक्षा आदि ग्रन्थों में अपने को निम्बार्क-सम्प्रदाय के सलेमाबाद के आचार्य पीठ का अनुगत होना लिखा है, जिससे ज्ञात होता है कि इन्होंने बाल्यावस्था में ही वृन्दावनदेव जी से मन्त्र-दीक्षा ली थी[४] –

श्री वृन्दावन देव प्रभु, जिन्ह की दासि जु छाप।
लही बाल-वय में तबहिं, उदये भाग अमाप॥
सो अब मैं दासी प्रघट, महाभाग की ओप।
श्री सरबेसुर सरनप्रभु, दिय सुभेव निज गोप॥
सुथल सलेमाबाद की, हौं दासानुज दासि।
जिहिं प्रभाव यै रहसि किय, मेरे हृदय निवास॥

सुन्दर कुँवरि बाई साहित्यिक वायुमंडल में पली थीं। इनके घराने को काव्य-प्रतिभा का तो मानो वरदान ही प्राप्त था। इनके पिता राजसिंह, माता ब्रजदासी, भ्राता नागरीदास और भतीजी छत्र कुँवरि बाई आदि साहित्य-रुचिसम्पन्न एवं श्रेष्ठ कवि थे। ऐसे वातावरण में इन्हें सत्काव्य-रचना में बड़ी प्रेरणा व सहायता मिली। ये पन्द्रह वर्ष की आयु से ही बहुत अच्छी कविता करने लग गयी थीं। बाद में तो इनका यह व्यसन ही बन गया था। यही कारण है कि अपने समय की विकट परिस्थितियों में भी ये बराबर काव्य-रचना करती रहीं। उन्होंने प्रचुर परिमाण में काव्य-रचनाएँ की हैं, जो उनके उच्च कोटि के कवित्व की परिचायक हैं।

---

१. सर्वेश्वर के वृन्दावनांक (पृ० २८५) में बलभद्र सिंह के साथ विवाह होना लिखा है, जो भ्रमपूर्ण है। दुर्भाग्यवश इनका वैवाहिक जीवन भी सुखी न हो सका। मरहठा सरदार सिंधिया द्वारा राघौगढ़ के किले पर अधिकार कर लिये जाने तथा इनके पति के भी कैद में पड़ जाने के कारण इन्हें अनेक राजनीतिक चक्रों एवं संकटों का सामना करना पड़ा था।

२. डा० प्रभुदयाल मीतल ने इनकी रचनाओं को सं० १८६२ तक के काल की होना लिखा है (दे० ब्रज के धर्म-सम्प्रदायों का इतिहास, पृ० ३५७) और सर्वेश्वर के 'वृन्दावन-अंक' में सं० १८६८ तक जीवित रहने का उल्लेख कुछ चिट्ठियों के आधार पर किया गया है, किन्तु इस सम्बन्ध में दोनों ही जगह कोई स्पष्ट और पुष्ट प्रमाण नहीं दिया गया है।

३. दे० भाग २, पृ० ७२३ (द्वि०सं०)।

४. दे० मित्र शिक्षा, हस्तलिखित प्रति (सलेमाबाद पीठ में सुरक्षित)। बाई जी ने अपने 'वृन्दावन गोपी माहात्म्य' नामक ग्रन्थ में भी अपने को निम्बार्क-सम्प्रदायानुयायी होना लिखा है :

जुगल उपासक रसिक मनि निंबागत सम्प्रदाय।
जिन दास्यता ही में लई भाग्य व्रर पाय॥

इन्होंने वृन्दावन में केशी घाट पर निर्मित 'खींची वाली कुंज' में अपने ठाकुर 'श्री ब्रजलोचन जी' के विग्रह की प्रतिष्ठा भी करवायी थी। यही स्थान इनकी भजन-स्थली भी रहा है।

सुन्दर कुँवरि बाई की निम्नलिखित रचनाएँ उपलब्ध हैं। उनकी कई रचनाओं में उनका रचना-काल तथा रचना-स्थल दिया हुआ है। उनके सभी प्राप्य ग्रन्थ इस प्रकार हैं –

१. 'नेहनिधि' की रचना सं० १८१७ वि० में रूपनगर में हुई थी। इसमें वृन्दावन में कृष्ण-राधा की विलास-क्रीडाओं का वर्णन है।

२. 'वृन्दावन गोपी माहात्म्य' की रचना सं० १८२३ वि० में रूपनगर में हुई थी।[1] इसमें वृन्दावन तथा गोपियों के माहात्म्य का वर्णन है। यह भागवत पुराण का अनूदित रूप है।

३. 'संकेत युगल'[2] की रचना सं० १८३० वि० में कृष्णगढ़ में हुई थी। इसमें राधा-कृष्ण के विनोद का वर्णन है।

४. 'रसपुंज' का निर्माण सं० १८३४ वि० में राघौगढ़ में हुआ था। इसमें राधा-कृष्ण-प्रेम तथा रस-विलास वर्णित है।

५. 'प्रेम-सम्पुट' की रचना सं० १८४५ वि० में हुई थी।[3] इसमें राधा-कृष्ण-विहार तथा नित्य-लीलाओं का वर्णन है।

६. 'सार-संग्रह' का रचना-काल भी सं० १८४५ वि० है। इसमें भक्ति के प्रेम-तत्त्व का वर्णन है।

७. 'रंगझर' की रचना भी सं० १८४५ वि० में ही हुई थी। इसमें राधा-कृष्ण की नित्य-लीलाओं का वर्णन है।

८. 'गोपी-माहात्म्य' की रचना सं० १८४६ वि० में हुई थी। इसमें स्कन्दपुराण के आधार पर गोपियों तथा कृष्ण की लीलाओं का वर्णन है।

९. 'भावना-प्रकाश' का निर्माण सं० १८४९ वि० में हुआ था। इसमें राधा-कृष्ण की नित्य-विहार लीलाओं का वर्णन है।

१०. 'राम-रहस्य'[4] की रचना सं० १८५३ वि० में हुई थी। इसमें राम की आदर्श लीलाओं का वर्णन है।

११. 'पद तथा फुटकर कवित्त' ये सम्भवत: बाद में संकलित किये गये। उपर्युक्त सब ग्रन्थ बूँदी महाराज की माता जी की कृपा से मुद्रित हो चुके हैं, जिनका मिलना अब दुर्लभ हो गया है। सुन्दर कुँवरि पर श्री सर्वेश्वर का 'श्री सुन्दरांक' कई भागों में (वर्ष ३१) प्रकाशित हो चुका है। इसमें उनके ग्रन्थों को संकलित किया गया है।

१२. 'मित्र-शिक्षा' का रचना-काल अज्ञात है। इसमें उन्होंने अपने जीवन, गुरुवर्ग तथा अन्य घटनाओं का वर्णन किया है। यह लगभग २८०० छन्दों का है।

१३. 'युगल ध्यान' इनकी अष्टयाम-विषयक रचना है, जिसकी प्राप्ति कुछ समय पूर्व

---

१. डा० नारायणदत्त शर्मा ने इसका रचना-काल सं० १८२६ लिखा है, जो अशुद्ध है।

२. 'विनोद' में ना०प्र० सभा काशी की खोज-रिपोर्ट के आधार पर इस रचना का नाम 'संकेत-सुगल' लिखा है। डा० मोतीलाल मेनारिया ने भी यही नामोल्लेख किया है, जो अशुद्ध है।

३. डा० सावित्री सिन्हा ने इसका रचना-काल सं० १८४८ लिखा है, जो गलत है।

४. ये सब ग्रन्थ काशी ना०प्र० सभा की खोज में भी मिल चुके हैं (दे० हस्तलिखित हिन्दी-पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण, द्वि० भाग, पृ० ५५५)।

सलेमाबाद पुस्तकालय से हुई है।

१४. 'राधा-भक्ति' नामक उनकी एक और नवीन रचना का पता चला है। (दे० मरु-भारती, वर्ष ३१, अंक ४)। बाई जी की सभी रचनओं में भक्ति और प्रेम का प्राधान्य है। उनकी मूल प्रेरणा भक्ति है, जिस पर पारिवारिक परम्परा की पूर्ण छाप है। राम-रहस्य के अतिरिक्त शेष सभी रचनाओं में कृष्ण के लीला-रूप की ही प्रधानता है। केवल राम-रहस्य में राम-कथा वर्णित है।

इनकी रचनाओं से स्पष्ट है कि रस, छन्द, अलंकार आदि का इन्हें प्रौढ़ ज्ञान था और भाषा एवं भाव के सामंजस्य को ये अच्छी प्रकार समझती थीं। ब्रजभाषा पर इनका अच्छा अधिकार था। इनकी भाषा शिष्ट एवं सुव्यवस्थित है। यद्यपि इनकी रचनाएँ 'पद' बहुल हैं, किन्तु कवित्त, सवैया तथा अन्य छन्दों का प्रयोग भी इन्होंने अपनी रचनाओं में किया है। इन्होंने काव्य के भाव-पक्ष एवं कला-पक्ष – दोनों ही का बड़ी सुन्दरता से निर्वाह किया है। अतः इनकी रचना बड़ी सरस एवं मनोहर बन पड़ी है। इनके प्रेम-चित्रण में असंयत स्थूलता का अभाव है। इनकी रचनाओं में प्रेम तथा विरह के उत्कट अंशों में भी भावना तथा अनुभूतियों की तीव्रता है, रति-भावजन्य हाव-भाव, चेष्टाओं व स्थूलता का नहीं। प्रौढ़ अवस्था तक का कौमार्य उनके जीवन का अभाव अवश्य था, लेकिन उस अभाव की अभिव्यंजना में अविवाहित नारी के संयम, लज्जा तथा नियन्त्रण की अभिव्यक्ति है। निम्बार्क-सम्प्रदाय के प्रभाव-स्वरूप उनकी भक्ति-भावना में रसात्मक दृष्टि शृंगारिकता-प्रधान है।

३.११.४ छत्र कुँवरिबाई :

ये कृष्णगढ़ (रूपनगर) के महाराज सरदार सिंह की पुत्री तथा महाराज सावंतसिंह उपनाम नागरीदास जी की पौत्री थीं। इनका विवाह सं० १८३१ वि० में कोठड़े (राघौगढ़) के खींची गोपाल सिंह के साथ हुआ था।[१] विवाह के समय यदि इनकी आयु सोलह वर्ष की रही हो, तो सं० १८१५ के लगभग इनके जन्म का अनुमान किया जा सकता है।[२] कृष्णभक्त परिवार में जन्म के कारण बालपन से ही इनके हृदय में कृष्ण-प्रेम का अंकुर फूट चुका था। यही अंकुर समय के साथ भक्ति-भाव द्वारा प्रेरित काव्य के रूप में विकसित हुआ। अपनी कुल-परम्परा के रूप में कवित्व-शक्ति इन्हें पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुई। ये कृष्णगढ़ के राठौर-वंश की काव्य-परम्परा को स्थिर रखनेवाली प्रतिभाशालिनी कवयित्री थीं।

निम्बार्क-सम्प्रदाय की सलेमाबाद गद्दी के प्रति इनके परिवार की परम्परागत आस्था थी। अतः ये भी उसी पीठ की शिष्या थीं। इनकी मृत्यु कब हुई, यह अनिश्चित है। इनके

---

१. रूपनगर के इतिहास में इनको सरदार सिंह की उपपत्नी की बेटी लिखा है।

२. डा० सावित्री सिन्हा ने अपने शोध-प्रबन्ध में इन विषयक जो तिथि सम्वत् दिये हैं, वे पूर्णतया अशुद्ध हैं। उनमें भ्रम से एक शती का अन्तर पड़ गया है। सं० १७५६ में तो इनके बाबा का ही जन्म हुआ था। अतः डा० सिन्हा ने इनके जन्म-सम्वत् आदि का जो अनुमान किया है, वह निरर्थक है। (दे० मध्यकालीन हिन्दी-कवयित्रियाँ, पृ० १६८)

ग्रन्थ 'प्रेम विनोद' में, जिसकी रचना सं० १८४५ में हुई थी, इनका परिचय इस प्रकार मिलता है –

रूपनगर नृप राजसिंह, जिन्ह सुत नागरिदास।
तिन्ह के पुत्र सरदार सिंघ, हौं तनया मैं तास॥
छत्र कुँवरि मम नाम है, कहिने कौ जग माँहि।
प्रिया सरन दासत्व से, हौं हित चूर सदाहि॥
सरन सलेमाबाद की, पाई तासु प्रताप।
आश्रय ह्वै जिन रहि सके, बरन्यो ध्यान सजाप॥

छत्र कुँवरिबाई का लिखा हुआ एक ही ग्रन्थ 'प्रेमविनोद' मिलता है[1], जो ब्रजभाषा में है। इसमें श्रृंगार रस की प्रधानता है। रचना सरस और मनोहारिणी है। इनकी रचना में काव्य-सौष्ठव पर्याप्त मात्रा में है। चित्रात्मकता और सूक्ष्म भावुकता – इनके काव्य की विशेषताएँ हैं। इस ग्रन्थ में श्री युगलकिशोर की उज्ज्वल रसपूर्ण लीलाओं का उल्लासमयी वाणी में प्रतिपादन है। काव्य को पढ़कर रसिक जन श्री ब्रजराज कुमार की रसमय लीलाओं में अनुरक्त हों, उनकी तद्विषयक प्रीति बढ़े, यही इन्होंने काव्य का उद्देश्य बतलाया है। 'प्रेमविनोद' में उन्माद, मादकता, मूर्छता के माधुर्य के साथ राधा-कृष्ण के जीवन के अनेक विनोदपूर्ण हास-परिहासों का चित्रण है। सुन्दर कुँवरि की भाँति इन्होंने भी अपने ग्रन्थ में दोहा, चौपाई, रोला, कुण्डलियाँ, कवित्त, सवैये आदि अनेक छन्दों का प्रयोग किया है, किन्तु इन्होंने कुण्डलियों में विशेषता प्राप्त की है। इनकी कुण्डलियों का रूप ही दूसरा है।[2] अन्यत्र ऐसी कुण्डलियाँ बहुत कम मिलती हैं। कला की दृष्टि से वर्णनों की सजीवता, प्रांजल भाषा, अलंकृत तथा संगीतमयी शैली प्रशंसनीय है।

३.१२ रसिक सुन्दर कृत 'एन पचीसी' के ऐनुल्लाह हुसैन

जयपुर-निवासी 'रसिक सुन्दर' कृष्ण-भक्ति-परम्परा के समर्थ भक्त कवि हुए हैं, जिनका समय रीतिकाल का अन्तिम चरण है अर्थात् वे विक्रम की १९वीं शती के उत्तरार्ध तथा २०वीं शती के पूर्वार्ध में हुए थे। कवि के विशाल एवं काव्यात्मक कृतित्व को देखने से ज्ञात होता है कि रसिक सुन्दर जी प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। वे बहुमुखी तथा असाधारण व्यक्तित्व वाले थे। ऐसे प्रातिभ कवि का हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में उल्लेख न होना अथवा अत्यल्प रूप में उल्लेख होना – इसे आश्चर्य ही कहा जाएगा। इससे भी अधिक आश्चर्य की बात यह है कि जिस सम्प्रदाय में वे दीक्षित थे, उस निम्बार्क-सम्प्रदाय के महानुभाव भी उनके कृतित्व से एक प्रकार से अपरिचित ही थे। डा० गोविलकर ने इन्हीं उपेक्षित, किन्तु सरस कवि रसिक सुन्दर के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को अपने अनुसंधान

१. इसका प्रकाशन भी बूँदी राज्य की राजमाता द्वारा सुन्दरकुँवरि कृत ग्रन्थों के साथ ही हो चुका है।
२. दोहे के चतुर्थ चरण की आवृत्ति करके इन्होंने न तो पंचम चरण में अपना नाम या उपनाम ही रखा है और न कुण्डलियों के प्रारम्भिक शब्द की आवृत्ति उसके अन्तिम चरण में की है। भक्ति की रचना में इस छन्द का विशेष उपयोग, इनकी अपनी विशेषता है।

का विषय बनाकर साहस का परिचय दिया और अपनी अनथक शोध-साधना एवं सच्ची अनुसंधित्सा से शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत कर उन्हें पूर्णता के साथ प्रकाश में ला सके।

इस प्रकार शोध-प्रबन्ध[1] के रूप में रीतिकाल के अन्तिम चरण के एक प्रतिष्ठित, प्रतिभाशाली तथा सशक्त, किन्तु अल्पज्ञात कृष्णभक्त कवि के जीवन-वृत्त तथा उनकी रचनाओं का शोधपरक अध्ययन सर्वप्रथम प्रस्तुत किये जाने के कारण डा० गोविलकर बधाई एवं साधुवाद के पात्र हैं। यह विद्वान् शोधक के श्रम का ही फल है कि रसिक सुन्दर जैसे सरस कवि का अब हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में पूर्ण विवरण के साथ उल्लेख हो सकेगा और कृष्ण-भक्ति-परम्परा में भी उनका नाम उचित स्थान पर लिखा जा सकेगा।

रसिक सुन्दर का जन्म सं० १८६४ के लगभग हुआ था। कवि का वास्तविक नाम 'सुन्दरलाल' था और 'सुन्दर', 'सुन्दर सखी' एवं 'रसिक सुन्दर' उनकी विभिन्न नाम-छापें हैं। किन्तु उनका सर्वाधिक प्रिय नाम रसिक सुन्दर था। उनके पिता का नाम सुखलाल था और वे जाति से श्रीवास्तव कायस्थ थे। उनका निवास-स्थान जयपुर था। ये निम्बार्क-सम्प्रदाय में दीक्षित थे और श्री सर्वेश्वरशरण देवाचार्य (रूपमंजरी) उनके दीक्षा-गुरु थे। उनका परिवार समृद्ध एवं वैभव-सम्पन्न था। वे धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों में रुचि लेते थे। लोकोपकार के अनेक कार्य उन्होंने अपने ज्येष्ठ बन्धु श्यामलाल की सहायता से किये थे, जिनमें गलता घाटी एवं श्यामसुन्दरेश्वर का मन्दिर आदि के निर्माण-कार्य विशेष उल्लेखनीय हैं।[2]

रसिक सुन्दर अध्यवसायी व्यक्ति थे। उन्हें संस्कृत, ब्रजभाषा एवं फारसी का अच्छा ज्ञान था। वे अपने भाई सहित जयपुर-राज-दरबार में ऊँचे पदों पर नियुक्त थे। उनके भाई श्यामलाल खास पल्टन में कप्तान थे और ये स्वयं फौज में नायब बख्शी थे। यही नौकरी उनकी आजीविका का प्रमुख साधन थी। इन्होंने अपनी कृतियों में जयपुर के तत्कालीन नरेश महाराजा जयसिंह तथा रामसिंह का उल्लेख किया है और उनका दरबार से घनिष्ठ सम्बन्ध था। यद्यपि उनके जीवन का अधिकांश समय सुख-वैभव में बीता, फिर भी जीवन के अन्तिम दिनों में उन्हें बहुत दुख झेलना पड़ा था। इकलौते पुत्र का अल्पवय में देहान्त, पत्नी-वियोग, बड़े भाई का आत्मघात आदि दुखों के साथ ही राजा ने एक व्यर्थ के शक में पड़कर इन्हें 'बोली' के गढ़ में नजरबन्द भी कर दिया था और इनकी जायदाद खालसा कर ली थी। लेकिन कुछ समय बाद वास्तविकता का पता चलने पर और शक का निवारण हो जाने पर इन्हें मुक्त कर दिया गया। ये फिर भी राज्य के प्रति वफादार ही रहे। सं० १९२५ तक इनके जीवित रहने का पता चलता है, लेकिन

---

१. यह शोध-प्रबन्ध 'रसिक सुन्दर और उनका हिन्दी-काव्य' नाम से अभिलाषा प्रकाशन, कानपुर से सन् १९७८ में प्रकाशित हो चुका है।

२. इनकी सम्पत्ति के सम्बन्ध में एक जनश्रुति प्रचलित है कि 'ऐन साहब' नामक औलिया की कृपा से ही इन्हें अपार धन की प्राप्ति हुई थी, जिसका उपयोग इन्होंने उक्त सार्वजनिक कामों में किया था। 'ऐनपचीसी' में इन्हीं महानुभाव का गुणगान एवं प्रशंसा है।

प्रमाणाभाव में उनके जीवनान्त के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इनकी कृतियाँ पर्याप्त परिमाण में उपलब्ध हैं।[1]

रसिक सुन्दर जी के प्राप्य २६ ग्रन्थों में अनेक विद्वानों, भक्तों तथा अन्य महान् व्यक्तियों के सम्बन्ध का एवं साहचर्य का वर्णन प्राप्त होता है। इनमें पं० गंगाप्रसाद, पं० रामप्रताप मिश्र, बलदेव सिंह कछवाहा, फौजासिंह चौहान, होडूराम पुजारी तथा ऐनसाहब के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से ऐनसाहब के सम्बन्ध में तो कवि ने 'ऐनपचीसी' नामक रचना का सर्जन किया है और यही कवि की प्रारम्भिक रचना है, जिसका रचना-काल सं० १८८७ है। इससे ज्ञात होता है कि ऐन साहब रचयिता के अत्यन्त श्रद्धास्पद थे। डा० गोविलकर ने जहाँ अन्य महानुभावों के सम्बन्ध में परिचयात्मक पंक्तियाँ लिखी हैं, वहाँ ऐन साहब के विषय में ऐसा कुछ नहीं किया गया है, जबकि डा० साहब को प्रयासपूर्वक ऐन साहब जैसे विशिष्ट व्यक्ति के बारे में विशेष प्रकाश डालना चाहिए था। अत: इसी अभाव की पूर्ति हेतु प्रस्तुत लेख में ऐन साहब के सम्बन्ध में लिखा जा रहा है –

ऐन साहब जाति के बंगस पठान थे और उनका वास्तविक नाम ऐनुल्लाह हुसैन था। वे एक ऐसे साधक और सन्त कवि हुए हैं, जिन्होंने अपने समन्वयवादी दृष्टिकोण से एक विशिष्ट भू-भाग के मध्य अच्छा आदर प्राप्त किया था। वे 'ऐन साईं' एवं 'ऐनानन्द' के नामों से विख्यात हुए। उनका जन्म सं० १८४६ वि० के लगभग हुआ था। उनके पिता[2] ग्वालियर राज्य के रिसाले में नौकर थे और वे भी सयाने होने पर पिता के स्थान पर नियुक्त हुए, किन्तु किसी कारण-विशेष से प्रभावित होकर उन्होंने युवावस्था में ही पूर्ण वैराग्य ले लिया और वे दिल्ली आकर हजरत फिदा हुसैन साईं के शिष्य हो गये। गुरु ने अपने इस शिष्य को 'जान अजान परगट गुपत, सरबमयी भगवान' का उपदेश दिया और उन्हें कुण्डलियाँ लिखने की आज्ञा दी। आदेशानुसार उन्होंने कुण्डलिया छन्द में कई ग्रन्थों की रचना की। यह उनका प्रिय छन्द था और उन्होंने इसकी पर्याप्त अभिवृद्धि की। उनकी अधिकांश रचना कुण्डलिया छन्द शैली में है। 'भक्ति-रहस्य' नामक ग्रन्थ में उनका संगीत-ज्ञान प्रकट है, जिसमें राग-रागनियों का प्रयोग हुआ है।

हजरत फिदा हुसैन मुस्लिम सूफियों के 'रसूलशाही' फिरके के अनुयायी थे। उन्होंने ही इन्हें 'ऐन' उपनाम दिया था। ऐन साईं 'ओ३म्' का तिलक स्वयं लगाते थे और अपने शिष्यों के लिए भी उनका यही आग्रह था। वे अध्यात्म एवं दर्शन के अच्छे ज्ञाता थे। भारतीय धर्मग्रन्थों के सार-रूप में दर्शन एवं अध्यात्म की गूढ़ता को उन्होंने स्वाभाविक सरलता से प्रकट किया है। वे खरी अनुभूति ग्रहण कर उस पर दृढ़ता से अग्रसर हुए हैं। उनकी कविता का महत्त्व भाषा की सजावट और भावों की बनावट में नहीं, वरन् हृदय की सच्चाई में है। ऐनशाह अपने सारे शरीर पर 'भभूत' लपेटे रहा करते थे। इनके शिष्यों में हिन्दू-मुसलमान दोनों की ही बड़ी संख्या रही है। ये जहाँ भी गये, वहीं इनकी गद्दी की स्थापना हुई। दतिया में आज भी इनका एक आश्रम है, जहाँ प्रत्येक गुरुवार को मेला भी

१. इनके नाम पर ४२ कृतियों का उल्लेख हुआ है, जिनमें १६ ग्रन्थ अप्राप्य हैं।

२. ऐनसाहब के पिता का नाम सम्भवतः मुनव्वर था।

लगता है। ग्वालियर में इनकी मजार है।

ऐनसाईं अधिकतर दतिया, ग्वालियर, अलवर और जयपुर के राज्यों में भ्रमण किया करते थे। इनकी ख्याति न केवल जनसामान्य में, अपितु राजमहलों तक में रही है। दतिया और ग्वालियर दोनों राज-दरबारों में इनका बड़ा आदर था। दतिया में गो० किशनदास उनके एक प्रमुख शिष्य थे, जिन्होंने साईं साहब द्वारा किये जानेवाले 'श्रीमद्‌भगवद्‌गीता' के पद्यानुवाद का नाम 'सिद्धान्तसागर' रखा था। हजरत ऐनशाह ने कुल कितने ग्रन्थों की रचना की, यह प्रामाणिकता के साथ अभी नहीं कहा जा सकता। खोज में निम्नलिखित ग्रन्थों का पता चला है –

१) गुरु उपदेश सार, २) सिद्धान्त-सार (सिद्धान्त सारिका), ३) भक्ति-रहस्य, ४) इनायत हुजूर, ५) सूरा-रहस्य, ६) अनुभव सार, ७) ब्रह्मविलास, ८) सुखविलास, ९) भिक्षुक सार, १०) भगवत्प्रसाद, ११) श्याम हितकर, १२) हित उपदेश, १३) हरिप्रसाद, १४) ऐन विहार, १५) नरचरित्र, १६) स्वयंप्रकाश, १७) उपदेश हुलास, १८) ऐनानन्द सागर।

इन ग्रन्थों में 'ऐन विहार' गद्य में है, जिसमें इन्होंने अपना जीवन-परिचय (आत्मकथा) दिया है। इनके सभी ग्रन्थ वृहदाकार हैं तथा उनमें भारतीय दर्शन एवं अध्यात्म की व्याख्या है। विशेषकर गीता ने इन्हें सर्वाधिक प्रभावित किया था। 'इनायत हुजूर' नामक ग्रन्थ में कुरआन की आयतों की व्याख्या है। ऐन साहब का चित्र भी उनकी शिष्य-परम्परा में उपलब्ध है।

ऐनशाह हिन्दू-मुस्लिम के भेदभाव से बहुत ऊँचे उठ चुके थे। वे अपने समन्वयवादी दृष्टिकोण के कारण आदर के पात्र रहे। हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का प्रतिपादन उनका पुनीत व्रत था। उन्होंने खुसरो, कबीर, रहीम तथा रसखान आदि अनेक सहृदय मुस्लिम कवियों की परम्परा को आगे बढ़ाया और सभी को एकता के मार्ग पर चलने का संदेश दिया। उनकी रचनाओं में उनकी सरलता, तन्मयता, सहृदयता एवं एकत्व की भावना के प्रचुर दर्शन होते हैं।

'ऐनपचीसी' ग्रन्थ में इन्हीं ऐनुल्लाह हुसैन या ऐनानन्द की श्रद्धामय प्रशंसा ग्रथित है। इसमें रचयिता ने इनके प्रति अत्यधिक श्रद्धा व्यक्त की है। रसिक सुन्दर के अनुसार ऐन साहब उच्च कोटि के भक्त थे। इन्हें निन्दा-स्तुति तथा शत्रु-मित्र से समभावना थी। इन्होंने जगत् में ज्ञान का विस्तार किया। इनके केवल दर्शन से तत्त्वसार प्राप्त होता था। कलियुग के जीवों के ये अभयदायक तारणहार थे। इनकी कथनी-करनी में कोई अन्तर नहीं था। ये हिन्दू और मुसलमान दोनों में समान रूप से समादृत थे। इनकी वाणी दोनों के लिए पवित्र एवं श्रद्धेय थी। ज्ञान, भक्ति, वैराग्य में लवलीन इस सन्त को रचयिता ने ब्रह्म, करतार आदि शब्दों से सम्बोधित करते हुए इन्हें स्वयं ब्रह्म का अवतार तक कह दिया है। ऐन साहब के गुणगान विषयक इस रचना (ऐनपचीसी) की हस्तलिखित प्रति प्राच्य विद्या शोध-प्रतिष्ठान, जोधपुर में सुरक्षित है।

●●

४. आधुनिक काल

४.१ हिन्दी-साहित्य का प्रथम कविवृत्त-संग्रह

अब यह असंदिग्ध रूप से सिद्ध हो गया है कि हिन्दी-साहित्य का प्रथम इतिहास डा० अब्राहम जार्ज ग्रियर्सन का 'द माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान' है, जो अपने मूल रूप में अंग्रेजी-भाषा में लिखा गया था और जिसका हिन्दी-अनुवाद डा० किशोरीलाल गुप्त ने 'हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास' नाम से किया है। ग्रियर्सन भारतीय नहीं, विदेशी थे। यह आश्चर्य की बात है कि हिन्दी-साहित्य के प्रथम इतिहास का प्रणयन एक विदेशी विद्वान् ने, एक विदेशी भाषा में और वह भी विदेशियों के ही उपयोग के लिए किया। किसी भारतीय द्वारा मूल रूप से हिन्दी में लिखा गया हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास 'मिश्रबन्धुविनोद' है। कुछ विद्वानों ने हिन्दी-साहित्य का प्रथम इतिहास होने का श्रेय फ्रेंच भाषा में लिखित गार्सां त तासी के 'इस्तवार द ला लितरेत्यूर ऐन्दुई ऐ ऐन्दूस्तानी' नामक ग्रन्थ को दिया है। इसके हिन्दी से सम्बद्ध अंश का अनुवाद डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने 'हिन्दुई साहित्य का इतिहास' नाम से किया है।

तासी ने स्वयं अपने ग्रन्थ को यद्यपि इतिहास कहा है, तथापि यह इतिहास नहीं है; क्योंकि इसमें न तो कवियों का विवरण कालक्रमानुसार दिया गया है, न काल-विभाग किया गया है और न काल-प्रवृत्ति का निरूपण ही है। यह इतिहास के रूप का आभास मात्र है। इसमें वर्णानुक्रम से कवियों एवं लेखकों के विवरण प्रस्तुत किये गये हैं। यह एक अर्थ में हिन्दी का प्रथम कविवृत्त-संग्रह स्वीकार किया जा सकता है। यद्यपि यह पूर्ण रूप से हिन्दी से सम्बद्ध नहीं है। इसमें हिन्दी के साथ ही उर्दू के कवियों के भी वृत्त संगृहीत हैं।

तासी को इतिहास-पद्धति का ज्ञान था, यह स्वयं उनके ग्रन्थ की भूमिका से स्पष्ट है,[१] पर कुछ व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण वे अपने ग्रन्थ को इतिहास का रूप नहीं दे सके। इतिहास नाम से अभिहित उनका यह ग्रन्थ हिन्दुई तथा हिन्दुस्तानी साहित्य का इतिहास कहा गया है

तासी पेरिस-विश्वविद्यालय में उर्दू के प्रोफेसर थे। उर्दू-प्रोफेसर होने के कारण उन्होंने अपने इस ग्रन्थ में उर्दू-कवियों को अत्यधिक स्थान दिया है और हिन्दी-कवियों

१. हिन्दुई साहित्य का इतिहास, भूमिका, पृ० १०६-१०७; प्र० हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद।

को कम। इस प्रकार, उनकी निष्ठा हिन्दी के प्रति कम और उर्दू के प्रति अधिक है। फ्रेंच भाषा में होने के कारण महत्त्व इतना ही है कि सुदूर विदेश में रहते हुए भी उन्होंने एक विदेशी भाषा के प्रति इतनी अभिरुचि दिखलायी और उसके कवियों के सम्बन्ध में इतनी जानकारी प्राप्त की तथा उन्हें पुस्तक-रूप में संकलित किया, साथ ही उस पुस्तक का नाम भी 'साहित्य का इतिहास' रखा, जो ऐसे ग्रन्थ के लिए अत्यन्त महत्त्वाकांक्षापूर्ण है। तासी के ग्रन्थ का पहला संस्करण दो भागों में प्रकाशित हुआ था। इसके पहले भाग का सन् १८३६ ई० (सं० १८६६ वि०) में एवं दूसरे भाग का सन् १८४७ ई० (सं०१६०४ वि०) में प्रकाशन हुआ था। तत्पश्चात् इसका द्वितीय संस्करण सन् १८७०-७१ ई० में तीन भागों में प्रकाशित हुआ।

तासी के ग्रन्थ के बाद इसी प्रकार का एक और ग्रन्थ सामने आता है। उसका नाम है – 'तज्किरा-इ-शुअरा-इ-हिन्दी'[1] इसके प्रस्तोता थे मौलवी करीमुद्दीन, जिन्होंने सन् १८४८ ई० (सं० १६०५ वि०) में इसे प्रकाशित कराया था। मौलवी साहब ने तासी की सामग्री का उपयोग करते हुए, उसमें पर्याप्त विस्तार देकर अपने इस ग्रन्थ का निर्माण किया है। स्वयं तासी ने इस ग्रन्थ को अपने ग्रन्थ के द्वितीय संस्करण का बहुत कुछ आधार बनाया है। तासी ने अपने ग्रन्थ के द्वितीय संस्करण की पहली जिल्द की भूमिका में इस तथ्य को स्वीकार किया है। उसने इस ग्रन्थ को बिल्कुल एक भिन्न रचना माना है, केवल अपने ग्रन्थ का अनुवाद-मात्र नहीं।[2] दोनों ग्रन्थों की तुलना से यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है। इसलिए, मौलवी साहब के 'तज्किरे' का महत्त्व केवल एक अनूदित कृति के रूप में ही नहीं, बल्कि मौलिक कृति के रूप में भी है।

लेखक ने तासी की शैली की ग्रहण् करते हुए भी अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिकता का परिचय दिया है। वह इस कार्य में तासी से एक कदम आगे बढ़ा है, किन्तु फिर भी उसके ग्रन्थ को 'इतिहास' संज्ञा नहीं दी जा सकती। इसमें भी उन समस्त बातों का अभाव है, जिनके आधार पर किसी रचना को इतिहास कहा जा सकता है। इसमें भी हिन्दी और उर्दू दोनों प्रकार के कवियों और लेखकों का वृत्त-संग्रह है। हिन्दी की अपेक्षा उर्दू-कवियों और लेखकों को अधिकता से स्थान दिया गया है। किन्तु, हिन्दी-कवियों से सम्बद्ध अनेक उपयोगी सूचनाएँ भी उसमें संगृहीत हैं। यद्यपि यह ग्रन्थ भी पूर्णतः हिन्दी-साहित्य से सम्बद्ध नहीं है, तथापि एक भारतीय द्वारा रचित होने के कारण इसका अपना महत्त्व है। यह किसी भारतीय द्वारा संगृहीत हिन्दी का प्रथम कविवृत्त-संग्रह है।

शिवसिंह सेंगर-कृत 'शिवसिंह सरोज' को, हिन्दी-साहित्य के कुछ इतिहासकारों ने किसी भारतीय द्वारा मूल रूप से हिन्दी में लिखित हिन्दी-साहित्य के प्रथम इतिहास का गौरव प्रदान किया है, किन्तु उनका यह कथन भ्रमपूर्ण है। 'सरोज' इतिहास नहीं है। स्वयं शिवसिंह ने अपने ग्रन्थ को कहीं भी साहित्य का इतिहास नहीं कहा है। इसमें वर्णानुक्रम से कविवृत्त दिया गया है, कालक्रम से नहीं। ऐसी दशा में, प्रवृत्तियों के अनुसार युग-विभाजन

१. वास्तविक नाम 'तबकात उश्शुअरा' है।

२. हिन्दुई साहित्य का इतिहास, भूमिका, पृ० ६६

और युगों के अनुसार सामान्य प्रवृत्तियों के विश्लेषण का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। इन सबके अभाव में कोई भी ग्रन्थ 'इतिहास' संज्ञा का अधिकारी नहीं हो सकता। सरोजकार को इतिहास-पद्धति का ज्ञान था, यह उसके ग्रन्थ की भूमिका से स्पष्ट है[1], लेकिन कुछ कारणों से वह अपने ग्रन्थ को इतिहास-रूप नहीं दे सका। अतः, वह 'कविवृत्तसंग्रह' मात्र है। पं० रामचन्द्र शुक्ल, डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' तथा उनके पश्चात् के लगभग सभी साहित्येतिहासकारों ने 'सरोज' को हिन्दी-साहित्य का प्रथम कविवृत्त-संग्रह माना है।

डा० रामकुमार वर्मा, हिन्दी में लिखित, हिन्दी साहित्य के इतिहास के रूप में 'सरोज' के पूर्व दो रचनाओं की सूचना देते हैं : प्रथम महेशदत्त शुक्ल का 'भाषाकाव्य-संग्रह' तथा मातादीन मिश्र का 'कवित्तरत्नाकर'।[2] डा० माताप्रसाद गुप्त ने 'सरोज' के पूर्व की दस कृतियों का उल्लेख किया है[3], किन्तु वे सब काव्यसंग्रह-मात्र हैं। इतिवृत्त का अभाव होने के कारण वे 'सरोज' की कोटि में नहीं आतीं। डा० वर्मा द्वारा सूचित उपर्युक्त दोनों रचनाओं का उल्लेख डा० गुप्त ने नहीं किया है।

शिवसिंह सेंगर ने 'सरोज' की भूमिका के प्रथम पृष्ठ पर लिखा है : 'हमको इस बात के प्रगट करने में कुछ सन्देह नहीं है कि ऐसी संग्रह कोई आज तक नहीं रची गयी। परन्तु, इस बात का विदित करना अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनना है।' 'सरोजकार' के इस कथन से विरोध प्रकट करने के लिए डा० रूपचन्द्र पारीख ने अपनी विचार-प्रतिक्रिया को 'परिषद्-पत्रिका' में प्रकाशित 'हिन्दी-साहित्य का पहला कविवृत्त' शीर्षक लेख में व्यक्त किया है।[4] डा० पारीख के विचारानुसार, सरोजकार का उपर्युक्त दावा निरर्थक है। सरोजकार ने महेशदत्त शुक्ल के 'भाषाकाव्य-संग्रह' नामक ग्रन्थ से 'सरोज-रचना' का ढंग लिया है। लेखक ने अपने लेख में दोनों ग्रन्थों ('भाषाकाव्य-संग्रह' एवं 'सरोज') का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर यह निष्कर्ष निकाला है कि 'भाषाकाव्य-संग्रह' 'सरोज' का प्रेरक और आधार-ग्रन्थ है। 'सरोज' हिन्दी का पहला कविवृत्त-संग्रह नहीं है। यह महत्त्व, सम्मान और गौरव तो 'भाषाकाव्य-संग्रह' को मिलना चाहिए।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि 'भाषाकाव्य-संग्रह' 'सरोज' से प्राचीन है, वह 'सरोज' का प्रेरक और आधारग्रन्थ भी है, किन्तु सेंगरजी ने 'सरोज-रचना' का ढंग पूर्णतः 'भाषाकाव्य-संग्रह' से ही ग्रहण किया है, श्रीपारीखजी का यह कथन उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। कारण यह है कि 'भाषाकाव्य-संग्रह' के अतिरिक्त सरोजकार को और भी एक ऐसा संग्रह-ग्रन्थ प्राप्त था, जो 'भाषाकाव्य-संग्रह' की प्रणाली पर ही निर्मित है। वह भी 'सरोज' का आधार-ग्रन्थ था। सरोजकार ने 'सरोज' के निर्माण में उससे भी पर्याप्त सहायता ली है। सेंगर जी ने स्वयं 'सरोज' की भूमिका में, आधार-ग्रन्थों के अन्तर्गत उसका नामोल्लेख किया है। हो सकता है कि सरोजकार ने 'सरोज-रचना' की प्रणाली

१. शिवसिंह सरोज (सं० डा० किशोरीलाल गुप्त), पृ० ७; प्र० हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग।
२. हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, तृ० सं०, पृ० १६।
३. हिन्दी-पुस्तक-साहित्य, पृ० ३५२
४. वर्ष ७. अंक ३, पृ० ८४-६०।

उसी ग्रन्थ से ग्रहण की हो। वह संग्रह-ग्रन्थ है – श्रीमातादीन मिश्र का 'कवित्तरत्नाकर'। यह कविवृत्तसंग्रह पूर्णतया 'भाषाकाव्य-संग्रह' की कोटि का है। इसका निर्माण और प्रकाशन-काल भी वही है, जो 'भाषाकाव्य-संग्रह' का है। किसी भारतीय द्वारा मूलतः हिन्दी में निर्मित हिन्दी के प्रथम कविवृत्त-संग्रह होने का सम्पूर्ण श्रेय डा० साहब ने 'भाषाकाव्य-संग्रह' को प्रदान किया है, जो उचित नहीं है। 'कवित्तरत्नाकर' भी इस सम्मान का उतना ही अधिकारी है, जितना कि 'भाषाकाव्य-संग्रह'।[1] यहाँ 'कवित्तरत्नाकर' का परिचय दिया जा रहा है।

मातादीन मिश्र द्वारा संकलित 'कवित्तरत्नाकर' भी 'भाषाकाव्य-संग्रह' की ही कोटि का ग्रन्थ है। मिश्रजी ने इसे सं० १६३० वि० में कालिन ब्रोनिंग के आदेशानुसार संकलित किया था[2] –

नभ (०) राम (३) अंक (६) ससि (१) मनहि आनि
विक्रम के सम्वत लेहु जानि।
श्री कालिन ब्रोनिंग हुक्म दीन
तब मिश्र ग्रन्थ निर्माण कीन॥

सं० १६३२ वि० में यह ग्रन्थ नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से छपा और निस्फील्ड की आज्ञा से पाठ्यक्रम में निर्धारित हुआ[3] –

भुज (२) राम (३) निधि (६) जलनिधि कुमार (१)
यह विक्रम संवत् पुनि विचार।
निस्फील्ड बहादुर महाराज
इस्कूल शिशुन के पठन काज॥
छप जाय ग्रन्थ यह हुक्म दीन।
अरु कोर्स मद्धि मंजूर कीन।

यह ग्रन्थ दो भागों में विभक्त है। प्रथम और द्वितीय भाग में कुल मिलाकर ४२ कवियों की रचनाएँ संकलित हैं। दोनों भागों के अन्त में कवि-परिचय भी गद्य में दिया

---

१. डा० धीरेन्द्रनाथ सिंह ने अपने 'सुन्दरीतिलक : अन्वेषण-अनुचिन्तन' (परिषद्-पत्रिका, वर्ष ११, अंक १ में प्रकाशित) नामक लेख में तुलसी की 'कविमाला' (सं० १७१२ वि०) को हिन्दी का प्रथम कविवृत्त-संग्रह लिखा है और उसमें ७५ कवियों के वृत्त संकलित होने का उल्लेख किया है। लेखक का यह उल्लेख अशुद्ध है, क्योंकि उसमें कवियों की कविताओं का संग्रह किया गया है, उनके इतिवृत्त का नहीं। लेखक अपने इसी लेख में आगे इस बात को स्वीकार भी करता है। यह भी ज्ञात होना चाहिए कि हिन्दी के साहित्यिक इतिहास के आधारभूत ग्रन्थ कविवृत्त-संग्रहों के साथ-साथ काव्यसंग्रह-ग्रन्थ भी हैं। 'सरोज' साहित्यिक इतिहास नहीं, बल्कि 'कविवृत्त-संग्रह' ही है। हाँ, हिन्दी-साहित्य के इतिहास का यह प्रमुखतम आधार तथा सूत्रग्रन्थ है। मूल हिन्दी में लिखित 'सरोज' से पूर्व के दो ही कविवृत्त-संग्रह ('भाषाकाव्य-संग्रह' तथा 'कवित्तरत्नाकर') प्राप्य हैं, शेष सभी रचनाएँ 'काव्यसंग्रह' मात्र हैं।

२. 'भाषाकाव्य-संग्रह' ग्रन्थ का निर्माण भी सं० १६३० में हुआ था।

३. 'भाषाकाव्य-संग्रह' का प्रकाशन-काल भी सं० १६३२ है।

गया है।[1] सरोजकार ने इस परिचय से लाभ उठाया है। यह ग्रन्थ काशी की 'कारमाइकेल लाइब्रेरी' में उपलब्ध है। ग्रन्थ में संकलित (संग्रहकार-सहित) ४२ कवियों के नाम इस प्रकार हैं –

१. कादिर, २. कुंजगोपी, ३. कृष्ण, ४. केशवदास, ५. खगनिया, ६. गिरिधर कविराय, ७. गुरुदत्त, ८. घनश्याम, ६. घाघ, १०. चन्दबरदाई, ११. छत्रसाल, १२. जलील बिलग्रामी, १३. तुलसीदास, १४. तोष, १५. देव, १६. नरहरि, १७. नरोत्तम, १८. नारायण, १६. पमार जानकीप्रसादसिंह, २०. प्रवीण राय, २१. वंशीधर, २२. बिहारी, २३. ब्रह्म, २४. भीष्म, २५.भूपनारायण भाट, २६. भूषण, २७. भोलानाथ, २८. मतिराम, २६. मलिक मुहम्मद जायसी, ३०. महेश, ३१. मातादीन मिश्र, ३२. यशवन्त सिंह, ३३. रहीम, ३४. राम, ३५. रामप्रसाद, ३६. रामरत्न भट्ट, ३७. शिवप्रसाद सितारेहिन्द, ३८. सुखदेव मिश्र, ३६. श्यामलाल, ४०. श्रीलाल, ४१. सबलसिंह चौहान और ४२. सूर।

कवित्तरत्नाकर के ४२ कवियों में से ४० का उपयोग सरोजकार ने किया है। खगनिया और रामरत्नभट्ट का उल्लेख 'सरोज' में नहीं हुआ है। ग्रन्थ के संकलयिता मातादीन मिश्र का परिचय सेंगरजी ने इस प्रकार दिया है[2] –

"मातादीन मिश्र, सरायमीरा। वि०। शाहनामे का अनुवाद हिन्दी में किया और कवित्तरत्नाकर नामक संग्रह बनाया। इस ग्रन्थ के बनाने में हमको इनसे बहुत सहायता मिली है।"

'भाषाकाव्य-संग्रह' और 'कवित्तरत्नाकर' दोनों में एक ही पद्धति का अनुसरण किया गया है। पहले काव्य-संग्रह और फिर कविवृत्त; ठीक इसी पद्धति का अनुसरण 'सरोज' में भी किया गया है, किन्तु सरोज में इन दोनों से बढ़कर अनेक ऐसी विशेषताएँ हैं, जो इन ग्रन्थों को अतिशायित करती रही हैं और आगे भी करती रहेंगी। साथ ही, उनसे सरोजकार के कथन की सार्थकता भी सिद्ध होती है। यथा :

१. सरोज में संकलन और कवि-परिचय वर्णानुक्रम से दिया गया है। उक्त दोनों ग्रन्थों में इस पद्धति का अनुसरण नहीं है।
२. उपर्युक्त दोनों ग्रन्थ हिन्दी मिडिल के विद्यार्थियों के उपयोग के लिए शिक्षा-विभाग की ओर से पाठ्यग्रन्थ के रूप में बनवाये गये हैं, सम्पादकों की निजी प्रेरणा के परिणाम नहीं हैं। 'सरोज' साहित्यसेवा की दृष्टि से भ्रान्तियों का निराकरण करने के लिए, अधिक से अधिक कवियों का सन्-संवत् और वृत्त देने के लिए प्रस्तुत किया गया है।
३. उक्त दोनों ग्रन्थ लघु प्रयास-मात्र हैं। इन दोनों की तुलना में सरोज-निर्माण विशाल प्रयास है, जिसमें ८३८ कवियों की कविताएँ संकलित हैं और १००३ कवियों के जीवनवृत्त दिये गये हैं। सरोज आरम्भिक समय से हरिश्चन्द्र तक के हिन्दी-साहित्य के भूत

---

१. 'भाषाकाव्य-संग्रह' की भाँति इस ग्रन्थ का भी न तो काव्य-संग्रह महत्त्वपूर्ण है, न ही कविवृत्त ही। इन दोनों ग्रन्थों का केवल ऐतिहासिक महत्त्व है।

२. दे० 'शिवसिंह सरोज', कवि-सं० ७१२।

और वर्तमान को समेटकर भविष्य को भी अपने पूर्ण प्रभाव-क्षेत्र में समाहित कर लेता है। हिन्दी-साहित्य का ऐसा कौन-सा इतिहास-ग्रन्थ है, जो सरोज का ऋणी न हो। अतः, परिमाण की दृष्टि से 'सरोज' उक्त दोनों ग्रन्थों से अधिक गौरव और महत्ता का अधिकारी है।[१]

यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से किसी भारतीय द्वारा मूल रूप से हिन्दी में निर्मित हिन्दी के प्रथम कविवृत्त-संग्रह कहलाने के अधिकारी 'भाषाकाव्य-संग्रह' और 'कवित्तरत्नाकर' दोनों हैं, तथापि व्यावहारिक एवं वास्तविक दृष्टि से तो यह सम्मान सरोज को ही दिया जा सकता है।

सरोज और उससे पूर्ववर्ती उपर्युल्लिखित ग्रन्थ इतिहास नहीं है, वे सभी कविवृत्त-संग्रह हैं, फिर भी वे हिन्दी-साहित्य के इतिहास के आधार-ग्रन्थ हैं और उनमें इतिहास का प्रमुखतम सूत्रग्रन्थ 'शिवसिंहसरोज' है। निष्कर्ष रूप में –

१. गार्सां द तासी का ग्रन्थ 'इस्तवार द ला लितरेत्यूर ऐन्दुई ऐ ऐन्दूस्तानी' अद्यावधि ज्ञात सामग्री के आधार पर हिन्दी का प्रथम कविवृत्त-संग्रह है।

२. मौलवी करीमुद्दीन का ग्रन्थ 'तज्किरा-इ-शुअरा-इ-हिन्दी' किसी भारतीय द्वारा संकलित हिन्दी-साहित्य का प्रथम कविवृत्त-संग्रह है।

३. महेशदत्त शुक्ल का 'भाषाकाव्य-संग्रह' और मातादीन मिश्र का 'कवित्तरत्नाकर' दोनों ग्रन्थ किसी भारतीय द्वारा मूलतः हिन्दी में निर्मित, ऐतिहासिक दृष्टि से, हिन्दी के प्रथम कविवृत्त-संग्रह कहलाने के अधिकारी हैं।

४. शिवसिंह सेंगर कृत 'शिवसिंहसरोज' किसी भारतीय द्वारा मूल रूप से हिन्दी में लिखा हुआ, व्यावहारिक और वास्तविक दृष्टि से हिन्दी का प्रथम कविवृत्त-संग्रह है। यह हिन्दी-साहित्य के इतिहास का प्रमुखतम आधार एवं सूत्रग्रन्थ है।

५. डा० ग्रियर्सन का ग्रन्थ 'द माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आव हिन्दुस्तान' हिन्दी-साहित्य का प्रथम इतिहास-ग्रन्थ है।

६. मिश्रबन्धुओं द्वारा लिखित 'मिश्रबन्धुविनोद' किसी भारतीय द्वारा मूल रूप से हिन्दी में लिखा गया हिन्दी-साहित्य का प्रथम इतिहास-ग्रन्थ है।

४.२ हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी

कुछ विद्वान् हिन्दी-कहानियों का आरम्भ एक प्रकार से इंशा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' से मानने के पक्ष में हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में आधुनिक कहानी की कथात्मकता की कुछ झलक उसमें मिलती है, किन्तु इसकी रचना प्राचीन कथा-पद्धति पर हुई है। कथानक, पात्र तथा भाषा सभी उसे प्राचीन कथाओं के निकट ले जाते हैं। अतः कहानी-कला की दृष्टि से उसको आधुनिक कहानी नहीं कहा जा सकता।

वस्तुतः, आधुनिक हिन्दी-कहानी पाश्चात्य साहित्य की देन है। पाश्चात्य संस्कृति

---

१. दे० 'सरोज-सर्वेक्षण', पृ० ४३ : डा० किशोरीलाल गुप्त (प्र०सं०)।

से सम्पर्क, नयी शिक्षा-पद्धति, सामाजिक एवं राजनैतिक आन्दोलन, गद्य के परिष्कार आदि के परिणामस्वरूप इस नयी विधा का सूत्रपात हुआ, जिसका रूप अंग्रेजी के 'शार्ट स्टोरी' के हिन्दी-पर्याय के रूप में सामान्यतया ग्रहण किया जाता है। अत: पाश्चात्य शिल्प-विधि के अनुसार लिखी गयी कहानियों को ही आधुनिक कहानी की कोटि में रखा जा सकता है।

हिन्दी की आधुनिक कहानियों का आरम्भ बीसवीं शताब्दी से होता है। 'सरस्वती', 'सुदर्शन' तथा 'इन्दु' आदि प्रसिद्ध हिन्दी-पत्रिकाएँ इन हिन्दी-कहानियों की जननी हैं। इन कहानियों के प्रचार-प्रसार में इन पत्रिकाओं का बहुत बड़ा हाथ रहा है। उक्त पत्रिकाओं में अनूदित कहानियों के साथ ही हिन्दी की मौलिक कहानियों का भी प्रकाशन वर्तमान शती के आरम्भ से हुआ, किन्तु हिन्दी की पहली मौलिक कहानी कब और किसने लिखी, ठीक-ठीक यह कह सकना कठिन है।

आधुनिक कहानियों का आरम्भ हिन्दी की किस मौलिक कहानी से माना जाए अर्थात् हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी कौन-सी है, इस पर विवाद है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास और हिन्दी-कथा-साहित्य के इतिहास-लेखकों ने इस सम्बन्ध में अपने भिन्न-भिन्न मत उपस्थित किये हैं। अत:, यह तथ्य विचारणीय हो गया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' में 'सरस्वती' में प्रकाशित कुछ मौलिक कहानियों के नाम वर्ष-क्रम में देकर इस सम्बन्ध में अपना मन्तव्य इस प्रकार दिया है[१] –

''इनमें से यदि मार्मिकता की दृष्टि से भावप्रधान कहानियों को चुनें तो तीन मिलती हैं – 'इन्दुमती', 'ग्यारह वर्ष का समय' और 'दुलाई वाली'। यदि 'इन्दुमती' किसी बंगला-कहानी की छाया नहीं है, तो हिन्दी की यही पहली मौलिक कहानी ठहरती है। इसके उपरान्त 'ग्यारह वर्ष का समय', फिर 'दुलाई वाली' का नम्बर आता है।''

शुक्ल जी ने किशोरीलाल गोस्वामी कृत 'इन्दुमती' को प्रथम मौलिक कहानी माना तो है, किन्तु उन्हें उसकी मौलिकता में सन्देह है। ऐसे में उनका निर्णय अनिश्चयात्मकता की स्थिति को प्राप्त कर लेता है।

डा० श्रीकृष्णलाल ने अपने शोध-प्रबन्ध 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास' में तो 'इन्दुमती' को सर्वप्रथम मौलिक कहानी माना है[२] और अपने द्वारा सम्पादित 'हिन्दी कहानियाँ' नामक पुस्तक की भूमिका में इस पर शेक्सपियर के प्रसिद्ध नाटक 'टेम्पेस्ट' की छाप मानते हैं।[३] इस प्रकार डा० श्रीकृष्णलाल का मत भी वदतो व्याघात दोष से पीड़ित होकर द्विविधाग्रस्त हो जाता है।

डा० श्रीकृष्णलाल के प्रथम मत का खण्डन करते हुए डा० लक्ष्मीनारायण लाल ने 'इन्दुमती' को सर्वप्रथम हिन्दी-कहानी तो स्वीकार किया है, किन्तु उन्होंने इसे सर्वप्रथम

---

१. दे० पृ० ४६२ (बारहवाँ संस्करण)।

२. दे० पृ० ३२२

३. दे० भूमिका-भाग, पृ० २३।

मौलिक कहानी नहीं माना है।[1] उनके अनुसार, शिल्प-विधि की दृष्टि से 'सरस्वती' के तीसरे वर्ष में प्रकाशित रामचन्द्र शुक्ल लिखित 'ग्यारह वर्ष का समय' शीर्षक कहानी हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी है।[2]

हिन्दी-साहित्य कोश में 'कहानी' शीर्षकान्तर्गत सन् १९०७ की 'सरस्वती' में प्रकाशित 'बंग महिला' की 'दुलाई वाली' नामक कहानी को ही हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी स्वीकार किया गया है और इससे पूर्व प्रकाशित तथाकथित सभी मौलिक कहानियों को कहानी-शिल्प-सौन्दर्य के अभाव में नकार दिया गया है।[3] किन्तु डा० ब्रह्मदत्त शर्मा ने अपने शोध-प्रबन्ध में किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' कहानी को ही, उस पर लगे 'टेम्पेस्ट' अथवा किसी 'बंगला-कहानी' की छाया के लांछन का परिहार करते हुए, विषयवस्तु, पात्र तथा वातावरण आदि की दृष्टि से हिन्दी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी बतलाया है।[4]

यद्यपि, प्रथम मौलिक कहानी-विषयक निर्णय में पं० रामचन्द्र शुक्ल का 'इन्दुमती' के सम्बन्ध में मत संदेहात्मक है और अन्य विद्वानों के मत भी भिन्न-भिन्न हैं,[5] तथापि तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कहानियों में आधुनिक विद्वानों में प्रायः सभी ने इसे ही हिन्दी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी स्वीकार किया है, किन्तु इतिहास, कालक्रम एवं शिल्प-विधि आदि के विचार से यह तथ्य प्रामाणिक न होने के कारण विचारणीय है।

आज से पचास-पचपन वर्ष पूर्व भी यह प्रश्न विवादास्पद होने के कारण महत्त्वपूर्ण एवं विचारापेक्ष था। उस समय ऐसे विषयों की जाँच-पड़ताल करने में स्वयं पं० पद्मसिंह शर्मा विशेष रुचि लेते थे। एक दिन अपनी मित्र-मण्डली में उन्होंने इसी प्रश्न को उठाया। पहली मौलिक कहानी कौन सी है, और इस तथ्य की खोज करने के लिए तत्कालीन हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं की छानबीन की। भारतेन्दु-युग की सभी पत्र-पत्रिकाओं को उलटने-पलटने पर भी ऐसी कोई कहानी न मिली, जिसे पहली मौलिक कहानी कहा जा सके। तत्पश्चात् द्विवेदी-युग की प्रारम्भिक पत्र-पत्रिकाओं को टटोला गया।

सन् १९०० ई० के आरम्भ से 'सरस्वती' और 'सुदर्शन' दो प्रसिद्ध हिन्दी-मासिक पत्रिकाओं का प्रकाशन शुरू हुआ था। 'सरस्वती' बाबू श्यामसुन्दरदास आदि के सम्पादक-मण्डल द्वारा सम्पादित होकर इंडियन प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित होती थी और 'सुदर्शन' पं० माधवप्रासद मिश्र के सम्पादकत्व में प्रसिद्ध उपन्यासकार बाबू देवकीनन्दन

१. दे० 'हिन्दी कहानियों की शिल्प-विधि का विकास', पृ० ५४।
२. दे० वही, पृ० ५६।
३. दे० पृ० २३७, भाग १।
४. दे० हिन्दी-कहानियों का विवेचनात्मक अध्ययन, पृ० ११२।
५. कुछ विद्वान् १९०१ में 'छत्तीसगढ़' में प्रकाशित माधवराव सप्रे की कहानी 'एक टोकरी-भर मिट्टी' को यह पद देना चाहते हैं और कुछ आलोचक जयशंकर प्रसाद की 'ग्राम' नामक कहानी को हिन्दी की प्रथम आधुनिक कहानी मानते हैं।

खत्री के लहरी प्रेस, काशी से निकलता था।

पं० पद्मसिंह शर्मा और उनकी मित्र-मण्डली ने इन सबकी खोज-बीन करने के पश्चात् कालक्रम, शिल्प-विधि तथा ज्येष्ठता आदि का ध्यान रखते हुए, उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी कौन-सी है। उनका और उनकी मित्र-मण्डली का यह निर्णय उनके एक मित्र पं० झाबरमल्ल शर्मा ने जनवरी १९३३ ई० के 'विशाल भारत' के 'कहानी-अंक' में प्रकाशित कराया था।[1] उन्होंने पं० पद्मसिंह शर्मा के इस महत्त्वपूर्ण निर्णय की घोषणा करते हुए लिखा है –

''हिन्दी में पहली कहानी स्वर्गीय पं० माधवप्रसाद मिश्र द्वारा लिखित 'मन की चंचलता' शीर्षक तत्सामयिक 'सुदर्शन' में प्रकाशित हुई थी। वर्तमान स्टाइल-पद्धति पर हिन्दी में कहानी या आख्यायिका लिखने का आरम्भ सर्वप्रथम पं० माधवप्रसाद मिश्र ने किया था। अतएव वे ही हिन्दी के प्राथमिक कहानी-लेखक हैं। उस दिन हमारी विचार-सभा में तर्क-वितर्क के बाद यही निर्णय हुआ था। कई वर्षों के बाद 'विशाल भारत' के 'कहानी-अंक' के प्रकाशन के प्रसंग में हिन्दी के आदि कहानी-लेखक के शुभ नामानुसन्धान का यह रिजल्ट (फल), आशा है, हिन्दी-साहित्य-रसिकों द्वारा दिलचस्पी से पढ़ा जाएगा।''

किन्तु, खेद है कि लेखक की आशा पूरी नहीं हो सकी। सभी अन्धकारावृत्त रहे। किसी ने आज तक पुनः इस प्रश्न पर गवेषणात्मक दृष्टि डालने का प्रयत्न नहीं किया। सभी पिष्टपेषण करते रहे और आज भी उसी स्थिति में हैं। इतने वर्ष बीतने पर भी आदरणीय पंडित जी के निर्णय पर किसी ने विचार तक करना उचित न समझा।

ऐतिहासिक क्रम से देखने पर भी 'मन की चंचलता' कहानी ही सर्वप्रथम ठहरती है। 'मन की चंचलता' और 'इन्दुमती' इन दोनों कहानियों के प्रकाशन में मात्र कुछ महीनों का अन्तर है। यह अन्तर 'मन की चंचलता' कहानी को ही हिन्दी की प्रथम आधुनिक मौलिक कहानी का स्थान देता है और पं० माधवप्रसाद मिश्र को हिन्दी के प्रथम मौलिक कहानीकार का।

पं० माधवप्रसाद मिश्र अपने समय के बड़े प्रसिद्ध ओजस्वी लेखक थे। ये संस्कृत-हिन्दी दोनों के अच्छे विद्वान् थे। राष्ट्र के प्रति इनकी अटूट निष्ठा थी और ये भारतीय संस्कृति की रक्षा के सतत अभिलाषी थे। इनकी लेखनी अत्यन्त सशक्त थी। 'सुदर्शन' का सम्पादक नियुक्त होने पर अपने सम्पादन-काल में इन्होंने उसमें साहित्य-सम्बन्धी बहुत से लेख, समीक्षाएँ और विविध विषयों पर अनेक निबन्ध लिखे थे। खेद है कि यह पत्र केवल दो वर्ष, चार महीने चलकर बन्द हो गया। मिश्र जी सफल लेखक, सम्पादक और निबन्ध कार के साथ ही कुशल कहानीकार भी थे। इन्होंने 'मन की चंचलता' के अलावा 'पुरोहित का आत्मत्याग', 'दया का फल', 'लड़की की बहादुरी', 'विश्वास का फल', 'बड़ा बाजार', 'दयालु मिथिलेश' और 'पितृभक्ति का फल' आदि कहानियाँ भी लिखी थीं, किन्तु पौराणिक कहानियों के अनुवादक के रूप में प्रसिद्धि हो जाने के कारण इनके मौलिक कहानीकार

---

१. दे० पृ० १७८।

का रूप आच्छन्न हो गया।

पुनश्च :

मेरे इस लेख पर डा० वेदप्रकाश अमिताभ की एक प्रतिक्रिया (पत्ररूप में) 'परिषद्-पत्रिका' के जनवरी १९८२ के अंक (वर्ष २१, अंक ४) में प्रकाशित हुई है, जिसमें उन्होंने मेरी स्थापना के सम्बन्ध में लिखा है – ''यह स्थापना कोई नयी नहीं है। डा० मुरारीलाल शापित ने अपनी शोधकृति 'पं० माधवप्रसाद मिश्र का प्रमुख कथा-साहित्य' में यह धारणा बहुत पहले व्यक्त की थी।'' उन्होंने अपने इन्हीं विचारों को व्यक्त करते हुए मुझे व्यक्तिगत रूप से एक पत्र भी लिखा था।

इस सम्बन्ध में निवेदन है कि डा० अमिताभ ने अपनी प्रतिक्रियान्तर्गत उक्त शोध कृति के प्रकाशन-काल का कोई उल्लेख नहीं किया है, जिससे मैं अपने इस लेख के लेखन-समय की जाँच कर वास्तविकता से परिचित हो सकता। सम्भव है, मेरा यह लेख ही पहला हो, क्योंकि मेरा उक्त लेख भी लिखे जाने के काफी समय बाद प्रकाशित हो पाया है और फिर इस दिशा में हम दोनों के स्वतन्त्र प्रयास हैं। यदि शापित जी की धारणा का मेरी इस स्थापना से समर्थन होता है, तो इससे पं० माधवप्रसाद मिश्र हिन्दी के मौलिक कहानीकार हैं और उनकी कहानी 'मन की चंचलता' हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी है, इस शोध-निष्कर्ष की ही पुष्टि होती है। अतः यह प्रतिक्रिया महत्त्वहीन है।

श्री अमिताभ जी का यह लिखना कि ''हिन्दी कहानी का जन्म ईसाई मिशनरियों के हाथों हुआ था.......और 'जमींदार का दृष्टान्त' (१८७१ ई०) के लेखक रैवरेण्ड जे० न्यूटन को ही हिन्दी-कहानी का जनक मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए, जब तक इससे पहले लिखी गयी अन्य कहानी न मिले।'' किन्तु वास्तविकता यह है कि इस विषय में डा० साहब की स्थिति भ्रमात्मक है, क्योंकि 'जमींदार का दृष्टान्त' एवं 'छली अरब की कथा' आदि कहानियाँ मूलतः हिन्दी में लिखित कहानियाँ न होकर अनूदित कहानियाँ हैं और फिर 'हिन्दी की पहली कहानी' (मूल रूप में हिन्दी में लिखित, अनूदित नहीं) एवं 'हिन्दी की पहली मौलिक कहानी' कौन-सी है, ये भिन्न-भिन्न दो तथ्य हैं। दोनों को एक मानकर विचार करना उचित नहीं है। मेरे लेख का प्रतिपाद्य (उद्देश्य) 'हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी' कौन-सी है, इस तथ्य का निश्चय करना था, न कि 'हिन्दी की पहली कहानी कौन-सी है', इस तथ्य की स्थापना करना। अमिताभ जी ने भ्रमित होकर दोनों का घालमेल कर दिया है, जो अनुपयुक्त है। यह भी उल्लेख्य है कि श्री किशोरीलाल गोस्वामी द्वारा लिखित 'प्रणयिनी-परिणय' (जिसे डा० बच्चन सिंह ने पहली कहानी माना है) कहानी न होकर उपन्यास है, जिसका रचना-काल सन् १८८७ है और यह उनका पहला उपन्यास है। इसका प्रकाशन १८९० में भारत जीवन प्रेस, काशी से हुआ था। अतः हिन्दी की पहली मौलिक कहानी होने का श्रेय 'मन की चंचलता' नामक कहानी को ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

४.३ पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का नाट्यशास्त्र

संस्कृत साहित्य से जिस प्रकार हिन्दी-साहित्य को रिक्थ क्रम में सभी कुछ मिला है, उसी प्रकार नाट्य-साहित्य भी प्रचुर मात्रा में प्राप्त हुआ है और नाट्यकला के लक्षण-ग्रन्थ भी प्राप्त हुए हैं। यही कारण है कि हिन्दी नाटकों का उद्भव संस्कृत नाटकों की छाया में हुआ और हिन्दी में नाट्य-लक्षणग्रन्थ भी संस्कृत-नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों के आधार पर निर्मित हुए। ऐसी अनुकरणात्मक स्थिति का होना स्वाभाविक ही है, किन्तु इसी के साथ यह भी ध्यातव्य है कि हिन्दी-साहित्य नव्य यूरोपीय सम्पर्क-प्रभाव से अछूता नहीं रहा है। विशेषकर अंग्रेजी-साहित्य से इस प्रकार के प्रभाव स्वत: लक्षित हैं। ऐसी दशा में पौर्वात्य एवं पाश्चात्य नाट्य सिद्धान्तों के समन्वित रूप के आधार पर ही नाट्य तत्त्वों की स्थापना की जाकर हिन्दी में नाट्यशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों का लिखा जाना श्रेयस्कर है। अस्तु।

अब तक की जानकारी के अनुसार हिन्दी नाट्य-जगत् में हिन्दी में लिखा गया सबसे पहला नाट्यशास्त्र नारायणकवि कृत 'नाट्य दीपिका' है। गोकुल-निवासी नारायण ने इसकी रचना दतिया-नरेश भवानी सिंह की आज्ञा से की थी। ग्रन्थ में रचना-काल का अभाव है, किन्तु राजा भवानी सिंह सं० १९१४ वि० में गद्दी पर बैठे थे। अत: इसी के आसपास किसी समय इसकी रचना हुई होगी। इसमें प्राय: संस्कृत नाट्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों के आधार पर नाट्य-कला की बातों का वर्णन हुआ है। इसकी विशेषता इस बात में है कि हिन्दी में यह नाट्यशास्त्र पर प्रथम पुस्तक है और गद्य में लिखी गयी है। इस दृष्टि से इसका अपना निजी महत्त्व है।

हिन्दी का दूसरा नाट्यशास्त्र गणेशकवि कृत 'दशरूपक' है। यह नाट्यशास्त्र गणेश कवि ही कृत 'साहित्यसागर' नामक काव्य-शास्त्र ग्रन्थ का अंश है। असनी-निवासी गणेश कवि ने इसकी रचना सं० १९२० के आसपास अपने आश्रयदाता काशी-नरेश ईश्वरीनारायण सिंह के समय में की थी। छन्दप्रधान इस लक्षण-ग्रन्थ का प्रणयन कवि ने संस्कृत के धनंजय कृत 'दशरूपक', विश्वनाथ कृत 'साहित्य-दर्पण' तथा भरतमुनि कृत 'नाट्यशास्त्र' के आधार पर किया है।

तदनन्तर इस क्रम में भारतेन्दु जी द्वारा लिखित 'नाटक' नामक लघु ग्रन्थ आता है। यह सं० १९४० वि० में लिखा गया था। एक प्रकार से यही हिन्दी का पहला लक्षण-ग्रन्थ है, क्योंकि नारायण कवि एवं गणेश कवि कृत ग्रन्थ संस्कृत नाट्यशास्त्र ग्रन्थों के आधाराश्रित अधिक हैं। इनमें अपनी मौलिकता नहीं के तुल्य है और न ही स्पष्ट शास्त्रीय विवेचना है। इनके ग्रन्थों से हम संस्कृत के नाट्यशास्त्र-सम्बन्धी नियमों को ही जान सकते हैं, किन्तु हिन्दी-नाटकों को दृष्टि में रखकर लिखा जाने वाला सबसे पहला लक्षण-ग्रन्थ भारतेन्दु का 'नाटक' नामक यह लघु ग्रन्थ ही माना जाएगा। भारतेन्दु जी ने 'नाटक' नामक ४६ पृष्ठों के अपने इस छोटे-से ग्रन्थ में 'नाटक' के लक्षण, नाटक-निर्माण की रीति तथा नाटक का इतिहास लिखा है। इसकी रचना में उन्होंने संस्कृत तथा अंग्रेजी दोनों भाषाओं के नाट्यकला विषयक तत्समय प्राप्त ग्रन्थों को आधार बनाया और स्थान-स्थान पर अपनी स्वतन्त्र विवेचना भी करते गये हैं, परन्तु रचनाओं की आलोचना में कुछ भी

नहीं प्रस्तुत किया।

भारतेन्दु जी के पश्चात् हिन्दी में नाट्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ-लेखन-परम्परा कुछ गतिमान हुई और पं० बलदेव प्रसाद मिश्र का 'नाट्य प्रबन्ध' एवं पं० बलवन्त कमलाकर का 'नाट्यशास्त्र प्रबन्ध' आदि रचनाएँ प्रकाश में आयीं। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखित 'नाट्यशास्त्र' नामक ग्रन्थ भी इसी शृंखला की एक कड़ी है।

युगाचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में आना, हिन्दी-साहित्य में युगान्तर लाने वाली घटना थी। उनके आगमन से उस समय साहित्यिक जीवन में एक नवीन स्फूर्ति का संचार हुआ। द्विवेदी जी ने लेखक और भाषा-शिक्षक दोनों रूपों में साहित्य-सेवा की। इतना ही नहीं, सम्पादक, भाषा-परिष्कारक, निबन्धकार, आलोचक, कवि आदि अनेक रूपों में उनकी प्रतिभा का प्रसार हुआ। उन्होंने अपने कृतित्व से हिन्दी-साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में मार्गदर्शन किया और प्रेरणा प्रदान की। यही कारण है कि हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में द्विवेदी जी का इतना प्रभाव पड़ा कि उनकी साहित्य-सेवा का काल 'द्विवेदी युग' के नाम से अभिहित किया गया। यह समय हिन्दी के विकास और उत्कर्षोन्मुखता का समय था।

हिन्दी-साहित्य की अनेक नवीन प्रवृत्तियों का श्रीगणेश यद्यपि भारतेन्दु-काल में हो गया था, किन्तु उनमें एक विषम स्थिति व्याप्त होने से उन्हें व्यवस्था की आवश्यकता थी। साहित्य की इस अव्यवस्थित पीठिका में द्विवेदी जी का आविर्भाव हिन्दी-साहित्य के लिए महत् फलदायक सिद्ध हुआ। द्विवेदी जी ने अपने साहित्यिक शासन से हिन्दी-क्षेत्र की प्रवृत्तियों को एक व्यवस्था प्रदान की और हिन्दी-साहित्य के विविध अंगों की वृद्धि एवं पुष्टि करते हुए उसे प्रगति-पथ पर अग्रसर किया।

हिन्दी-साहित्य के अन्य क्षेत्रों की तरह ही हिन्दी-नाट्य साहित्य के उस अपकर्ष-काल में नाटककारों, पाठकों और दर्शकों को नाट्य कला का ज्ञान कराने के लिए द्विवेदी जी ने नाट्यशास्त्र की रचना की।

द्विवेदी जी ने नाट्यशास्त्र नामक इस निबन्ध को यद्यपि सन् १९०३ में लिखा था, किन्तु जो सन् १९१० में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ।[1] इसमें उन्होंने भारतीय नाट्य साहित्य की प्राचीनता के दिग्दर्शन के साथ रूपक, उपरूपक, पात्र, कल्पना, भाषा, रचना-चातुर्य और वृत्ति आदि का संक्षेप में विवरण दिया है। अपनी इस पुस्तक में द्विवेदी जी ने पं० बलवन्त कमलाकर द्वारा लिखित नाट्यशास्त्र के हिन्दी-अनुवाद का भी उल्लेख किया है, जिस पर अनुवादक महाशय ने मूल लेखक का नामोल्लेख नहीं किया है।

द्विवेदी जी ने इस पुस्तक की रचना आचार्य-पद्धति पर की है। उनकी आचार्य-पद्धति और संस्कृत की परम्परागत आचार्य-पद्धति में पर्याप्त अन्तर है। उन्होंने सिद्धान्त-निरूपण करते समय अनावश्यक बातों को छोड़ दिया है। उनकी आचार्य-पद्धति पर की गयी आलोचना की विशेषता यह है कि उन्होंने हिन्दी विद्यापीठ के वास्तविक आचार्य-पद से

---

१. डा० माताप्रसाद गुप्त ने 'हिन्दी पुस्तक साहित्य' में द्विवेदी जी के इस 'नाट्यशास्त्र' का प्रकाशन-काल पृ० १२८ व २७३ पर सन् १९११ और पृ० ५४४ पर सन् १९१२ का उल्लेख किया है, जो सही नहीं है।

ही सिद्धान्त-समीक्षा की है, कोरा सिद्धान्त-निरूपण ही उनका ध्येय नहीं रहा, जैसा कि उन्होंने स्वयं लिखा है –

''ये सब पूर्वोक्त भेद हमने, यहाँ पर वाचकों के जानने के लिए दिखा तो दिये हैं, परन्तु हमारा यह मत है कि हिन्दी में नाटक लिखने वालों के लिए इन सब भेदों का विचार करना आवश्यक नहीं। इन भेदों का विचार करके इनमें से किसी एक शुद्ध प्रकार का नाटक लिखना इस समय प्राय: असम्भव भी है। देश, काल और अवस्था के अनुसार लिखे गये सभी नाटक, जिनसे मनोरंजन और उपदेश मिले, प्रशंसनीय हैं। वे चाहे हमारे प्राचीन आचार्यों के सारे नियमों के अनुकूल बने हों, चाहे न बने हों, उनसे लाभ अवश्य ही होगा। इससे यह अर्थ न निकालना चाहिए कि नाट्यशास्त्र के आचार्यों में हमारी श्रद्धा नहीं है। हमारे कहने का तात्पर्य इतना ही है कि ये सब जटिल नियम उस समय के लिए थे, जिस समय भरत और धनंजय आदि ने अपने ग्रन्थ लिखे हैं। इस समय उनको यदि कोई परिवर्तित दशा में प्रयोग करे और ऐसा करके यदि वह सामाजिकों का मनोरंजन कर सके तथा अपने खेल के द्वारा वह सदुपदेश भी दे सके तो कोई हानि की बात नहीं।'' (नाट्यशास्त्र, पृष्ठ २९)।

इसी से नाटक के क्षेत्र में भी यथार्थ नाट्यकला से अनभिज्ञ नाट्यकारों और 'इंदर सभा', 'गुलबकावली' आदि में रुचि रखने वाले दर्शकों को प्रशस्त पथ पर लाने के लिए उन्होंने इस नाट्यशास्त्र की रचना की, क्योंकि द्विवेदीजी की दृष्टि में नाटक केवल मनोरंजन की ही वस्तु नहीं है, अपितु स्वस्थ मनोरंजन के साथ ही कोई सार्थक उपदेश या शिक्षा भी मिलनी चाहिए, तभी उसकी सार्थकता भी है। उन्होंने लिखा है –

''नाट्यकला का फल उपदेश देना है। उसके द्वारा मनोरंजन भी होता है और उपदेश भी मिलता है। चाहे जैसा नाटक हो और चाहे जिसने उसे बनाया हो, उससे कोई न कोई शिक्षा अवश्य मिलनी चाहिए। यदि ऐसा न हुआ तो नाटककार का प्रयत्न व्यर्थ है और दर्शकों का नेत्र-व्यापार भी व्यर्थ है। जो लोग 'इन्दर-सभा' और 'गुले बकावली' आदि खेल, जो पारसी थियेटर वाले आजकल प्राय: खेलते हैं, देखने जाते हैं, उन्हें अपना लाभ-हानि सोचकर वहाँ पधारना चाहिए।'' (नाट्यशास्त्र, पृ० ५७)।

विषय की दृष्टि से इस पुस्तक का परिगणन साहित्यशास्त्र के अन्तर्गत है। उनके आचार्यत्व को मुखरित करने वाले परम्परावादी निबन्धों में इस पुस्तकाकार निबन्ध 'नाट्यशास्त्र' का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने संस्कृत की तद्विषयक सामग्री को यद्यपि उसी रूप में प्रस्तुत किया है, किन्तु अनावश्यक तथ्य-विस्तार को ग्रहण नहीं किया। केवल उपयोगी बातों का ही उल्लेख किया है।

नाट्यशास्त्र द्विवेदी जी के विचारात्मक निबन्धों के व्याख्यात्मक रूप को प्रकट करता है। इसमें उन्होंने पाठकों को गहन विवेचना द्वारा किसी विषय को भली-भाँति अवगत कराने का प्रयास किया है। इसी से इसकी शैली विवेचनापरक है और भाषा सरल एवं प्रांजल है। युग-सापेक्ष इस पुस्तक का अपना एक विशेष महत्त्व है, जिससे तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति होती है।

साहित्य के सभी क्षेत्रों में हिन्दी को प्रगति-पथ पर ले जाने का श्रेय द्विवेदी जी को है। सारथी-रूप में उनका किया गया प्रत्येक कार्य महत्त्वशाली है। वे वस्तुतः युगान्तरकारी सूत्रधार हैं।

४.४ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कृतित्व

हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल मुख्यतः आलोचक के रूप में विख्यात हैं, किन्तु स्मरण रहे कि शुक्ल जी कोरे आलोचक-समीक्षक ही नहीं थे, अपितु उच्च कोटि के शैली-निर्माता, निबन्धकार, विज्ञ इतिहासकार, भावुक कवि, समर्थ अनुवादक, सफल अध्यापक और कुशल सम्पादक भी थे। वस्तुतः साहित्य-साधना के क्षेत्र में उनका कृतित्व उनकी बहुमुखी प्रतिभा की देन है। उनका आलोचक-रूप इतना व्यापक एवं प्रभावशाली है कि उसने साहित्य की अन्य विधाओं में किये गये उनके कार्यों को एक प्रकार से आच्छन्न ही कर लिया है और यही कारण है कि साहित्य का पाठक उनके अन्य विविध कृतित्व रूपों से अनभिज्ञ-सा ही रहता आया है, किन्तु उनका अन्य कृतित्व रूप भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और गौरवशाली है। कहना न होगा कि इतिहास, आलोचना, निबन्ध और अनुवाद के क्षेत्र में शुक्ल जी अपने पूर्ववर्ती साहित्यकारों से आगे थे। वे सच्चे अर्थ में साहित्य के आचार्य थे।

शुक्ल जी ने युग और परिस्थिति के अनुसार गद्य तथा पद्य दोनों में ही मौलिक साहित्य-निर्माण के साथ अनुवाद-कार्य भी किया। आगे इनकी प्रतिभा के विविध एवं बहुमुखी रूपों की परिचायक उनकी यथासम्भव सभी रचनाओं का क्रमबद्ध परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

आलोचना (व्याख्यात्मक)

१. तुलसी-ग्रन्थावली की भूमिका (गोस्वामी तुलसीदास) : यह शुक्ल जी की प्रथम प्रौढ़ आलोचनात्मक कृति है। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की ओर से प्रकाशित 'तुलसी ग्रन्थावली' के तीसरे खण्ड में 'प्रस्तावना' शीर्षक से शुक्ल जी ने एक बड़ा आलोचनात्मक प्रबन्ध लिखा था। बाद में यही प्रस्तावना संशोधित होकर 'गोस्वामी तुलसीदास' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। अनन्तर इस पुस्तक में से 'जीवन-खण्ड' निकालकर 'भक्ति-पद्धति' और 'काव्य-पद्धति' के प्रसंग बढ़ाये गये हैं। अब पुस्तक अपने विशुद्ध आलोचनात्मक रूप में है।

तुलसीदास जी आचार्य शुक्ल के सर्वाधिक प्रिय एवं आदर्श कवि थे। आलोचना के काव्य-सिद्धान्तों की प्रेरणा तुलसी के काव्यानुशीलन से ही उन्हें उपलब्ध हुई थी। उनके पाण्डित्य और विश्लेषणात्मक मेधा का प्रथम परिचय हिन्दी-जगत् को इसी के द्वारा मिला। इसका प्रकाशन-काल सन् १६२३ ई० है।

२. भ्रमरगीतसार की भूमिका (सूरदास) : सूर-सम्बन्धी यह भूमिका अपनी संक्षिप्तता में ही मूल्यवान् है। इसका प्रकाशन सन् १६२६ में हुआ था। इसमें जीवनवृत्त

तथा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का उल्लेख नहीं हुआ है। इस भूमिका को विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने परिवर्द्धित रूप में 'सूरदास' नाम से सम्पादित कर पुस्तकाकार प्रकाशित करा दिया है। इसमें मिश्र जी ने 'भक्ति का विकास', 'श्री वल्लभाचार्य', 'सूर का जीवनवृत्त' तथा 'काव्य में लोकमंगल' नामक चार अध्याय और जोड़ दिये हैं। सूरदास की भावभूमि का प्रथम दर्शन लोगों को इसी के द्वारा हुआ।

दुर्भाग्य से सूर-साहित्य की सम्यक् और सर्वांगपूर्ण समीक्षा का अवसर आचार्य शुक्ल को नहीं मिल पाया। यह उनकी सूर-विषयक महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक रचना है।

३. जायसी-ग्रन्थावली की भूमिका : सन् १९२४ ई० में आचार्य शुक्ल ने जायसी की सांगोपांग साहित्य-समीक्षा इस भूमिका के रूप में प्रकाशित की। किसी प्रबन्धात्मक रचना का ऐसा सर्वांगपूर्ण विवेचन हिन्दी में दूसरा नहीं है। जायसी-सम्बन्धी भूमिका विस्तार की दृष्टि से तीनों भूमिकाओं में सबसे बड़ी है। यह २३ अध्यायों में विभक्त है। इसमें कवि के जीवन-वृत्त के साथ कवि की अन्तःप्रवृत्तियों का उद्‌घाटन करते हुए काव्य-शास्त्र की कसौटी पर कृति (पद्मावत) को कसकर उसका निर्णयात्मक शैली से मूल्यांकन किया गया है। वास्तव में हिन्दी-आलोचना की सर्वोत्तम उपलब्धि इस भूमिका को माना जा सकता है। शुक्ल जी की इस विवेचना के आधार पर जायसी महाकवि और सफल प्रबन्ध काव्यकार सिद्ध होते हैं।

शुक्ल जी ने व्यावहारिक और सैद्धान्तिक दोनों प्रकार की आलोचनाएँ लिखी हैं। उनकी व्यावहारिक या व्याख्यात्मक आलोचना-शैली का परिपक्व एवं परिष्कृत रूप तुलसी, सूर और जायसी-जैसे महाकवियों की कृतियों के सम्पादन के साथ लिखी गयी भूमिकाओं में देखने को मिलता है।

४. काव्य में रहस्यवाद : सन् १९२९ ई० में शुक्ल जी ने 'रहस्यवाद' का विश्लेषण एक लम्बे निबन्ध के रूप में पुस्तकाकार ला० भगवानदीन जी के साहित्य भूषण कार्यालय से प्रकाशित कराया था। अब यह चिन्तामणि, भाग-२ में संकलित है। इस निबन्ध में काव्य में प्रचलित कुछ और वादों – मुख्यतः कलावाद और अभिव्यंजनावाद के साथ रहस्यवाद या छायावाद की मीमांसा हुई है। इसके अनुसार रहस्यवाद, काव्य की एक 'शाखा-विशेष' है उसका सामान्य स्वरूप नहीं। इसमें उन्होंने 'अभिव्यक्तिवाद' और 'सामंजस्यवाद' नाम दिया है और जिसे वे 'भारतीय काव्य दृष्टि की विशेषता' मानते हैं। शुक्ल जी रहस्यवाद के सम्बन्ध में कुछ स्वतन्त्र विचार रखते थे। वास्तव में इस निबन्ध में खण्डन-मण्डन और गम्भीर विवेचन का मनोरंजक सामंजस्य है।

५. काव्य में अभिव्यंजनावाद : इस नाम से जो निबन्ध 'चिन्तामणि, भाग-२' में संकलित है, वह वस्तुतः १९३५ ई० के इन्दौर में हुए चौबीसवें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की साहित्य-परिषद् के अध्यक्ष-पद से दिया गया भाषण है। सम्मेलन के मंच से साहित्य-विषयक ऐसा गम्भीर भाषण दूसरा नहीं दिया गया। इसका 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' नाम सम्पादक पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र का दिया हुआ है। इसमें आचार्य शुक्ल ने क्रोंचे के 'अभिव्यंजनावाद' की लम्बी चर्चा करते हुए उसका तीव्र प्रतिवाद किया है। क्रोंचे के

मत का विरोध उन्होंने केवल इसीलिए किया था कि उसका बुरा प्रभाव हिन्दी के रचनात्मक साहित्य पर न पड़े। उन्होंने क्रोंचे के अभिव्यंजनावाद को कुन्तक के वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान बताया है। यह भाषण साहित्य की स्थायी निधि के सभी आवश्यक उपकरणों से संवलित है।

६. रस-मीमांसा : यह साहित्य-सिद्धान्त निरूपक ग्रन्थ है और पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित होकर शुक्लजी की मृत्यु के प्रायः आठ साल बाद सन् १९४९ ई० में प्रकाशित हुआ। मिश्रजी के उद्योग से ही यह सब सामग्री सुसंबद्ध रूप में पुस्तकाकार संकलित होकर प्रकाश में आ सकी है। शुक्लजी की सैद्धान्तिक आलोचना के सर्वश्रेष्ठ रूप का दर्शन इस ग्रन्थ में होता है। यह ग्रन्थ मुख्य रूप से आठ अध्यायों में विभक्त है। परिशिष्ट में शुक्ल जी की मूल अंग्रेजी और हिन्दी-अनुवाद के साथ वे टिप्पणियाँ भी पहली बार प्रकाशित हुई हैं, जिन्हें शुक्ल जी ने अपनी सिद्धान्त-विषयक पुस्तिका के लिए बनाया था। यह उनकी अन्तिम प्रकाशित पुस्तक है।

शुक्ल जी रसवादी आलोचक थे और स्वतन्त्र चिन्तक थे। उनके आलोचना-सिद्धान्तों का इस ग्रन्थ द्वारा बोध हो जाता है। शुक्ल-साहित्य के अध्येताओं के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है।

निबन्ध

आचार्य शुक्ल हिन्दी-आलोचना के ही नहीं, उसके निबन्ध-साहित्य के भी पथ-प्रदर्शक एवं सम्राट् हैं। इस क्षेत्र में उन्होंने अपनी थोड़ी-सी रचनाओं द्वारा ही युगान्तर उपस्थित कर दिया। उनके निबन्ध 'चिन्तामणि' नामक पुस्तक में संकलित हैं, जिसके तीन भाग प्रकाशित हुए हैं –

१. चिन्तामणि, भाग-१ : इस भाग में मनोविकार-विषयक एवं साहित्य-सम्बन्धी सत्रह निबन्ध संकलित हैं, जिनमें प्रथम दस मनोविकार-विषयक हैं और शेष सात साहित्य-सिद्धान्त तथा साहित्य-समीक्षा से सम्बन्ध रखनेवाले हैं। सन् १९१२ से लेकर १९१९ ई० तक 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (प्राचीन संस्करण) में मनोविकार-सम्बन्धी निबन्ध – 'मनोविकारों का विकास' शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित हुए थे। पहले ये सभी निबन्ध 'विचार-वीथी' (१९३०) शीर्षक निबन्ध-संग्रह में प्रकाशित हुए और बाद में उसका परिवर्द्धित एवं परिमार्जित संस्करण 'चिन्तामणि' प्रथम भाग के रूप में सन् १९३९ ई० में प्रकाशित हुआ। मनोविकारों पर हिन्दी-साहित्य में कदाचित् पहली बार ही इतना सूक्ष्म एवं मार्मिक विश्लेषण हुआ है। इनकी विवेचना में बौद्धिक पक्ष की प्रबलता होने पर भी हार्दिक पक्ष का सर्वथा अभाव नहीं है। इनमें लेखक ने वैज्ञानिक रीति से मनोविकारों की उत्पत्ति, स्थिति, प्रभाव आदि का वर्णन किया है। इन निबन्धों में निबन्ध-लेखन की दोनों शैलियों – अध्यापन शैली एवं निगमन शैली का सुगठित रूप देखने को मिलता है। ये निबन्ध शुक्ल जी की साहित्य को अनुपम देन हैं।

मनोविकारों से इतर निबन्ध सैद्धान्तिक समीक्षा (४ निबन्ध) और व्यावहारिक समीक्षा

(३ निबन्ध) के अन्तर्गत आते हैं। ये निबन्ध विषय और व्यक्तित्व दोनों का सुगठित एवं सुन्दर सामंजस्य प्रस्तुत करते हैं।

२. चिन्तामणि, भाग-२ : इसमें शुक्ल जी के तीन वृहदाकार निबन्ध संकलित हैं, जिनके शीर्षक हैं – 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य', 'काव्य में रहस्यवाद' और 'काव्य में अभिव्यंजनावाद'। ये विशालकाय निबन्ध सैद्धान्तिक समालोचना के रूप में लिखे गये थे, जो शुक्ल जी की मीमांसा-पद्धति के परिचायक हैं। पहले निबन्ध में प्रकृति के विविध रूपों की काव्य में उपादेयता या अनुपादेयता का शास्त्रीय विधि से विवेचन है। यह निबन्ध सर्वप्रथम सन् १९२३ की 'माधुरी' में प्रकाशित हुआ था, जिसने हिन्दी-विद्वानों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित किया था।

इस भाग के शेष दोनों निबन्धों के विषय में पहले ही लिखा जा चुका है। हाँ, अन्तिम दोनों निबन्धों का निबन्धत्व चिन्त्य है। कारण, उनके आकार की दीर्घता ने उन्हें निबन्ध की अपेक्षा प्रबन्ध अथवा पुस्तक का रूप-सा दे दिया है।

३. चिन्तामणि, भाग-३ : डा० नामवर सिंह ने इसे सम्पादित कर राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-२ से प्रकाशित कराया है। इसमें आचार्य शुक्ल के अब तक असंकलित इक्कीस निबन्ध संगृहीत हैं, जिनमें दो अनुवाद भी संकलित हैं – कार्डिनल न्यूमन की पुस्तक 'दि आइडिया आफ ए यूनिवर्सिटी' का 'लिटरेचर' शीर्षक निबन्ध तथा जोसेफ एडिसन के निबन्ध 'प्लेजर्स आफ इमैजिनेशन'। इसके अतिरिक्त हैकल की 'रिडल आफ द यूनिवर्स' के अनुवाद – 'विश्वप्रपंच की भूमिका' भी है। प्रथम दो अनुवाद 'साहित्य' तथा 'कल्पना का आनन्द' शीर्षक से आरम्भ में दिये गये हैं। प्रतीत होता है कि शुक्ल जी को इन निबन्धों ने चेतना के स्तर पर प्रभावित किया था। उन्होंने अपनी स्वतन्त्र-वृत्ति के आधार पर इनका अनुवाद किया है। वास्तव में ये छायानुवाद हैं। मूल निबन्धों की जिन बातों से वे सहमत नहीं थे, उन्हें अनुवाद में छोड़ भी दिया गया है और इस प्रकार ये अनुवाद मौलिक लेखन-जैसे स्तर के हैं। इनका प्रकाशन सन् १९०४-०५ में रचना के पहले दौर में हुआ था। इनके अतिरिक्त 'बुद्ध-चरित', 'शशांक' आदि की भूमिकाएँ भी संकलित हैं।

इसी भाग में शुक्ल जी की छोटी-छोटी टिप्पणियाँ भी हैं, जहाँ उन्होंने अपना मन्तव्य संकेत से, संक्षेप में कहा है। बाबू काशीनाथ खत्री, फ्रेडरिक पिंकाट, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रेमघन आदि से सम्बद्ध उनकी टिप्पणियाँ उन व्यक्तित्वों की स्वीकृति है, जिनके लिए शुक्ल जी का आदर-भाव है। निश्चय ही चिन्तामणि का यह भाग आचार्य शुक्ल का क्रमिक विकासमान व्यक्तित्व समझने में सहायक है।

निबन्ध-लेखन शुक्ल जी के साहित्यिक व्यक्तित्व का प्रधान अंग था। अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भ में ही उन्होंने स्वतन्त्र ढंग से निबन्ध-लेखन का प्रयास किया था और कालान्तर में उनके निबन्धों में गम्भीरता और सघनता आती चली गयी। चिन्तामणि के निबन्धों के अलावा शुक्ल जी ने कुछ अन्य निबन्ध भी लिखे हैं। 'उपन्यास', 'महाकवि सूरदास', 'हिन्दी और हिन्दुस्तानी', 'मुसलमान बादशाहों के सिक्कों में हिन्दी-लिपि',

'हिन्दी-साहित्य का पूर्व मध्यकाल' आदि लेख नागरी प्रचारिणी पत्रिका के विभिन्न अंकों में प्रकाशित हुए थे।

कतिपय विद्वान् 'त्रिवेणी' को भी उनका निबन्ध-संग्रह मानते हैं, किन्तु उसमें वस्तुत: जायसी-ग्रन्थावली, भ्रमरगीतसार तथा तुलसी-ग्रन्थावली की भूमिकाओं को ही संक्षिप्त करके संगृहीत किया गया है अर्थात् यह शुक्ल जी के तीन समालोचनात्मक प्रबन्धों के विशिष्ट अंशों का संग्रह है, कोई स्वतन्त्र पुस्तक नहीं है। अत: उसे निबन्ध-संग्रह कहना उचित नहीं। इस प्रकार यदि शुक्ल जी को हिन्दी में आधुनिक निबन्धों का जन्मदाता कहा जाए तो कोई अत्युक्ति न होगी।

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास : इसका सर्वप्रथम प्रकाशन 'हिन्दी साहित्य का विकास' नाम से सन् १९२९ ई० में 'हिन्दी-शब्दसागर' की भूमिका के रूप में हुआ था। तत्पश्चात् इसका संशोधित एवं परिवर्द्धित रूप पुस्तकाकार उक्त नाम से सन् १९३० में प्रकाशित हुआ और बाद में संस्करणों में भी यह प्रक्रिया चालू रही। 'इतिहास' का वर्तमान रूप सन् १९४० में संशोधित होकर तैयार हुआ था। वैज्ञानिक पद्धति पर हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखकर इतिहास-लेखन की उन्नत परम्परा का सूत्रपात शुक्ल जी ने किया। काल-विभाजन, नामकरण तथा प्रवृत्ति-विश्लेषण आदि की दृष्टि से यही हिन्दी-साहित्य का पहला वास्तविक इतिहास माना जाता है। यह इतिहास हिन्दी-साहित्य का एकमात्र दिशा-बोध करानेवाला प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसी कारण अध्ययन-अध्यापन और प्रचार की दृष्टि से आज भी उनके इतिहास का सर्वोपरि स्थान है। शुक्ल जी के यश को चिरस्थायी बनाने में उनके इतिहास-ग्रन्थ का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

२. हिन्दुस्तानी का उद्गम : इसका प्रकाशन पहले 'हिन्दी और हिन्दुस्तानी' शीर्षक से सन् १९३८ ई० में नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४३ में हुआ था। वास्तव में यह फैजाबाद में प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में पठित भाषण है। अनन्तर यह 'हिन्दुस्तानी का उद्गम' नाम से एक छोटी पुस्तिका के रूप में काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से १९३८ में ही प्रकाशित हुआ। इसमें हिन्दुस्तानी के स्वरूप और इतिहास के विश्लेषण के साथ इसमें उनके भाषा-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण विचार समाविष्ट हैं।

भूमिकाएँ

वैसे तो आचार्य शुक्ल की अधिकांश आलोचनाएँ भूमिका-रूप में ही लिखी गयी हैं और उन्होंने अपने द्वारा अनूदित ग्रन्थों के आदि में भी मौलिक भूमिकाएँ लिखी हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त भी उन्होंने अन्य लेखकों की पुस्तकों की भूमिकाएँ लिखी हैं, जो उनके दृष्टिकोण को समझने में सहायक हैं। 'हिन्दी गद्य-शैली का विकास' (डा० जगन्नाथ शर्मा), 'शेष स्मृतियाँ' (डा० रघुवीर सिंह), 'विनय-पत्रिका' (सं० वियोगी हरि), 'भारतेन्दु-साहित्य' (स्व सम्पादित), 'कूट कलस' (गुरुनारायण सुकुल), 'कुणाल नाटक' (डा० कैलाशनाथ भटनागर), 'कुसुम-संग्रह' (बंग महिला), 'मानसरोवर और कैलास' (श्री सुशीलचन्द्र भट्टाचार्य द्वारा लिखित और श्री रामचन्द्र वर्मा द्वारा अनूदित), 'मीरा

की प्रेम-साधना' (डा० भुवनेश्वर मिश्र 'माधव') तथा 'प्रेमघन-सर्वस्व' (संपादित) की भूमिकाएँ शुक्ल जी द्वारा लिखी गयी हैं।

शुक्ल जी की ऐसी लिखी भूमिकाओं का अपना एक विशेष महत्त्व है। वे पाठक को मूल पुस्तक के द्वार तक पहुँचा देने में सहायक हैं। उनमें बहुधा पुस्तकों की तात्त्विक समीक्षा भी रहती है। सम्भव है, इनके अलावा भी शुक्ल जी ने अन्य पुस्तकों की भूमिकाएँ लिखी हों, उनकी खोज की जानी चाहिए।

काव्य-साहित्य

शुक्ल जी ने अपने साहित्यिक जीवन का आरम्भ कविता द्वारा ही किया था। 'सरस्वती', 'आनन्द कादम्बिनी' आदि तत्कालीन पत्रिकाओं में इनकी कविताएँ प्रकाशित हुई थीं। इनकी सबसे पहली प्रकाशित रचना 'मनोहर छटा' नामक कविता है, जो सन् १९०१ की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी। उनकी समस्त फुटकर कविताओं का संग्रह 'मधु-स्रोत' नाम से पहले 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के एक अंक में प्रकाशित हुआ। बाद में पुस्तकाकार प्रकाशन हुआ। इनकी कविताएँ ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों में ही हैं।

फुटकर कविताओं के अतिरिक्त इन्होंने ब्रजभाषा में अंग्रेजी के 'लाइट आफ एशिया' नामक रचना के आधार पर 'बुद्धचरित' शीर्षक से एक प्रबन्ध-काव्य की रचना भी की थी। शुक्ल जी के काव्य-साहित्य में 'बुद्धचरित' का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अनूदित होते हुए भी यह प्रबन्ध-काव्य लेखक की मौलिकता की छाप लिये हुए है। 'बुद्धचरित' की भूमिका में भाषाओं का जो सूक्ष्म और गम्भीर विवेचन शुक्ल जी ने किया है, उससे उनका एक कुशल भाषाशास्त्री का रूप प्रतिष्ठापित होता है।

शुक्ल जी मूलतः कवि थे। वे भावुक एवं वन्य प्रकृति-सौन्दर्य के अत्यधिक अनुरागी थे। प्रकृति-प्रेमी होने के कारण इनकी कविताएँ प्रकृति-सौन्दर्यप्रधान हैं। शुक्ल जी के काव्य-साहित्य का ऐतिहासिक महत्त्व आज भी स्वीकार किया जाता है।

कहानी

शुक्ल जी ने लगभग १८-१९ वर्ष की आयु में 'ग्यारह वर्ष का समय' नामक हिन्दी-कहानी लिखी थी, जो सन् १९०३ ई० की सरस्वती में प्रकाशित हुई थी। स्वयं उन्होंने ही अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में हिन्दी की प्रारम्भिक मौलिक कहानियों में इसकी गणना की है। इस कहानी का अपना ऐतिहासिक महत्त्व है। यद्यपि केवल एक कहानी लिखने के बाद उन्होंने फिर कोई कहानी नहीं लिखी, तथापि उनकी इस एक ही रचना ने इस क्षेत्र में उन्हें अमर कर दिया।

जीवनी-साहित्य

आचार्य शुक्ल ने हिन्दी साहित्य का इतिहास तथा जायसी, सूर, तुलसी आदि के समीक्षात्मक ग्रन्थों में लिखित संक्षिप्त जीवन-वृत्तों के साथ ही काशीनाथ खत्री और फ्रेडरिक पिंकाट के जीवन-चरित भी लिखे थे, किन्तु उनका स्वतन्त्र रूप से लिखा

जीवन-चरित तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के फुफेरे भाई बाबू राधाकृष्णदास जी का है, जो पुस्तक-रूप में काशी नागरी प्रचारिणी सभा से सन् १६१३ में प्रकाशित हुआ था। जीवनी-साहित्य में उक्त जीवन-चरित का अपना महत्त्व है। यह जीवन-चरित लिखकर उन्होंने साहित्यकारों की जीवनियाँ लिखने का मार्ग परिष्कृत किया। यह जीवन-चरित सम्प्रति दुष्प्राप्य है।

ग्रन्थ एवं पत्रिका-सम्पादन

शुक्ल जी ने हिन्दी के कुछ प्रमुख आकर ग्रन्थों का सम्पादन भी किया था। इस दिशा में किया गया उनका कार्य ऐतिहासिक महत्त्व का है। उनके समय तक ग्रन्थों के वैज्ञानिक सम्पादन का कार्य आरम्भ नहीं हुआ था। इसलिए उन्होंने भाषा और अर्थ-परम्परा पर दृष्टि रखकर कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का सम्पादन किया। इस कार्य में शुक्ल जी की अपनी सीमाएँ रही हैं, किन्तु इससे उनके कार्य का महत्त्व कम नहीं होता। उनके द्वारा सम्पादित ग्रन्थ निम्नांकित हैं –

(१) तुलसी-ग्रन्थावली (सम्पादक-मण्डल के साथ) (२) भ्रमरगीत सार (३) जायसी-ग्रन्थावली, (४) भारतेन्दु-साहित्य (५) वीर सिंह देव चरित, (६) अनुराग बाँसुरी (पं० चन्द्रबली पाण्डेय के सहयोग से) मृत्यु के बाद प्रकाशित।

इनमें से 'भारतेन्दु-साहित्य' को छोड़कर शेष काव्य-ग्रन्थ हैं और पाठ-निर्णय की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें उन्होंने यथासम्भव मूल पाठ-प्राप्ति का उद्योग किया है, चाहे उनका रास्ता वैज्ञानिक भले ही न रहा हो।

ग्रन्थ-सम्पादन के अतिरिक्त शुक्ल जी ने पत्रिका-सम्पादन का कार्य भी किया था। वे प्रायः दस वर्षों तक 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के सम्पादक रहे। पत्रिका के प्राचीन संस्करण के सन् १६०६ से १६१४ तक एक बार और १६१८-१६ में दूसरी बार वे यह कार्य अकेले करते रहे। नवीन संस्करण में पुनः सन् १६३८-३६ और ४० ई० में सम्पादक-मण्डल के मुख्य सदस्य के रूप में उन्होंने इस कार्य में सहयोग किया। उनके सम्पादन-श्रम और योग्यता का वास्तविक परिचय तो उन अंकों को देखने से मिलता है, जो अकेले उनके द्वारा सम्पादित हुए हैं। उनके द्वारा लिखित सम्पादकीय टिप्पणियाँ अत्यन्त मूल्यवान् हैं, जिनसे उनकी विचारधारा और उनके तेजस्वी व्यक्तित्व का परिचय मिलता है।

कोश-सम्पादन

शुक्ल जी 'हिन्दी शब्दसागर' के सम्पादक-मण्डल के प्रमुख सदस्य थे। उन्होंने प्रारम्भ से अन्त तक इस कार्य में अपना महत्त्वपूर्ण योग दिया। कोश-विभाग में कार्य करते समय शुक्ल जी को अपने अध्ययन को व्यापक बनाने का पूरा अवसर मिला था और उसका पूरा उपयोग उन्होंने कोश-सम्पादन में किया था। इसीलिए बाबू श्यामसुन्दर दास जी का यह कथन उचित प्रतीत होता है कि 'कोश ने शुक्ल जी को बनाया और कोश को शुक्ल जी ने।' इस प्रकार ग्रन्थ-सम्पादन, पत्रिका-सम्पादन और कोश-सम्पादन में भी उनका कार्य ऐतिहासिक महत्त्व का है। शुक्ल जी ने कुछ स्कूली पाठ्य-पुस्तकों

का भी संकलन-सम्पादन किया था। इन पाठ्य-पुस्तकों का भी अपना महत्त्व है।

अनुवाद-कार्य

शुक्ल जी आलोचक, निबन्धकार, इतिहासकार एवं कवि होने के साथ ही समर्थ अनुवादक भी थे। उन्होंने अंग्रेजी और बंगला के विभिन्न विषयक ग्रन्थों एवं लेखों को अपनी स्वाभाविक शैली में हिन्दी-पाठकों के लिए सुगम बनाया। उन्होंने हिन्दी की मूल प्रकृति एवं भारतीय परिवेश को ध्यान में रखकर ही अंग्रेजी-ग्रन्थों का अनुवाद-कार्य सम्पन्न किया है। हिन्दी-भाषा की आन्तरिक प्रकृति पर पूर्ण अधिकार रखने के कारण शुक्ल जी अनुवाद का बहुत भव्य और आदर्श रूप प्रस्तुत कर सके। उनके अनुवादों में विषय की विविधता है। उनके अनुवादों में अंग्रेजी-भाषा से अनूदित रचनाओं की ही संख्या अधिक है। उनकी अंग्रेजी से अनूदित रचनाएँ पूर्ण भारतीय रचनाओं के समान प्रतीत होती हैं। उन्होंने गद्यानुवाद और पद्यानुवाद दोनों किये हैं, किन्तु उनके अधिकांश अनुवाद अक्षरशः अनुवाद न होकर द्विवेदी-युग के आदर्श के अनुरूप भावानुवाद या छायानुवाद हैं। उनके अनूदित ग्रन्थ निम्नांकित हैं –

गद्यानुवाद :

(१) *मेगास्थनीज का भारतवर्षीय वर्णन :* डा० स्वानबक के 'मेगस्थनीज इंडिका' नामक अंग्रेजी पुस्तक का यह अनुवाद है। यह सन् १९०५ में किया गया था और काशी इतिहास प्रकाशन समिति से इसका प्रकाशन हुआ था। शुक्ल जी ने इसके आरम्भ में लगभग १५ पृष्ठों की एक भूमिका अपनी ओर से जोड़कर भारत और यूनान के सम्पर्क पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

(२) *आदर्श जीवन :* यह डब्ल्यू०एच० डैवेन पोर्ट ऐडम्स के अंग्रेजी-ग्रन्थ 'प्लेन लिविंग एंड हाई थिंकिंग' का 'भारतीय दृष्टि से सम्पादित' अनुवाद है। कुछ लेखकों ने मूल पुस्तक के लेखक का नाम 'सैमुयेल स्माइल्स' लिखा है, जो भ्रामक है। स्माइल्स ने इस नाम की कोई पुस्तक लिखी ही नहीं। सन् १९१४ में काशी नागरी प्रचारिणी सभा से इसका प्रकाशन हुआ था। पुस्तक का मुख्य विषय आचरण का निर्माण और संस्कार है। इसकी भाषा हिन्दी की प्रकृति के इतनी अनुकूल है कि अनेक लोगों को भ्रम हुआ कि पूरी पुस्तक मौलिक है। यहाँ तक कि जब पुस्तक का दूसरा अध्याय 'सांसारिक जीवन' किसी पाठ्य-पुस्तक में 'मित्रता' शीर्षक से समाविष्ट किया गया, तो लोगों ने उसे पूर्णतया मौलिक माना। यह कोरा अनुवाद-ग्रन्थ नहीं है, बल्कि मूल पुस्तक के आधार पर लिखा गया है।

(३) *राज्य-प्रबन्ध-शिक्षा :* यह सर टी०माधव राव द्वारा लिखित 'माइनर हिंट्स' का अनुवाद है। इसका विषय नागरिक शास्त्र और शासन-विधि है। मूल ग्रन्थकार ने इसकी रचना महाराज सयाजीराव को राज्य-प्रबन्ध की शिक्षा देने के लिए की थी। इसकी भाषा बहुत ही सरल है।

(४) *विश्व-प्रपंच (दो भाग):* यह जर्मनी के प्रसिद्ध तत्त्वविद् एवं दार्शनिक हेवेल के

'रिडिल आफ दि यूनिवर्स' का हिन्दी-रूपान्तर है। यह भी विशुद्ध अनुवाद नहीं है। इसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय विज्ञान और दर्शन है। प्रारम्भ में लगभग १५० पृष्ठों की मौलिक भूमिका है, जिसका अध्ययन शुक्ल जी की दार्शनिक और शास्त्रीय मान्यताओं को हृदयंगम करने के लिए अनिवार्य है। सन् १९२१ में काशी नागरी प्रचारिणी सभा से दो भागों में इसका प्रकाशन हुआ था। जर्मन भाषा से अनूदित मैसकेब की अंग्रेजी पुस्तक से शुक्ल जी ने इसे हिन्दी में अनुवादित किया। ग्रन्थ में बीस प्रकरण हैं।

(५) *शशांक :* यह श्री राखालदास बंधोपाध्याय द्वारा लिखित 'शशांक' नामक बंगला उपन्यास का हिन्दी-रूपान्तर है। शुक्ल जी ने बंगला से केवल इसी एक रचना का अनुवाद किया है। यह ऐतिहासिक उपन्यास है। उपन्यास के अन्तिम अंश में कुछ घटाया-बढ़ाया गया है। कुछ नयी घटनाएँ और पात्र भी लाये गये हैं। मूल रचना दुःखान्त है, किन्तु अनूदित रचना सुखान्त है। इस प्रकार इसमें अनुवाद की विशुद्धता का अभाव है। विषय की स्पष्टता के लिए प्रारम्भ में पन्द्रह पृष्ठों की खोजपूर्ण भूमिका है। इस उपन्यास में तीन खण्ड हैं, जिनमें क्रमशः २२, १८ और १८ परिच्छेद हैं। अन्त में उपसंहार है।

पद्यानुवाद :

(६) *बुद्धचरित :* इस प्रबन्ध-काव्य की एडविन आर्नल्ड के 'लाइट आफ एशिया' नामक काव्य-ग्रन्थ के आधार पर रचना हुई है। इसका प्रकाशन सन् १९२२ में हुआ था। शुक्ल जी ने अपनी विवेक-शक्ति द्वारा अनपेक्षित प्रसंगों का त्याग और आवश्यक वर्णनों का ग्रहण किया है। इसकी भाषा ब्रज है और छन्द पुराने हैं। यह ग्रन्थ काव्यानुवाद का द्विवेदी-युगीन आदर्श प्रस्तुत करता है। प्रारम्भ में ४५ पृष्ठों की एक विस्तृत भूमिका 'काव्यभाषा' नाम से है, जिसमें हिन्दी की बोलियों – खड़ीबोली, ब्रज और अवधी का सारपूर्ण विवेचन किया गया है, जो उनके भाषाशास्त्री रूप का दिग्दर्शन कराता है। अपने मूल की अपेक्षा यह अनुवाद सुन्दर है। शुक्ल जी के काव्य-साहित्य में 'बुद्धचरित' का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अनूदित होते हुए भी यह प्रबन्ध-काव्य लेखक की मौलिकता की छाप लिये हुए है। इसमें आठ सर्ग हैं।

पुस्तकों के अतिरिक्त शुक्ल जी ने कुछ छोटे-बड़े लेखों के अनुवाद भी अंग्रेजी से किये हैं, जो तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए थे। इनमें दो लेख बड़े और महत्त्वपूर्ण हैं –

(१) *प्राचीन पारस का संक्षिप्त इतिहास :* यह नागरी प्रचारिणी पत्रिका (नवीन संस्करण, भाग १) के दो अंकों में वि०संवत् १९७७ में प्रकाशित हुआ था। इसकी रचना 'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' के 'फारस' नामक लेख के आधार पर हुई। विवादग्रस्त प्रसंगों पर पाद-टिप्पणियाँ जोड़कर लेख को भरा-पूरा बनाया गया है।

(२) *कल्पना का आनन्द :* यह एडीसन के 'प्लेजर्स आफ इमैजिनेशन' का अनुवाद है और 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (प्राचीन संस्करण) के नवें भाग (१९०४ ई०) में प्रकाशित हुआ था।

इनके अतिरिक्त 'अखंडत्व' शीर्षक से आलिवर लॉज के एक भाषण का अनुवाद 'सदाचार और उत्तम प्रकृति' डा० ब्राउन के 'फिलासफी आफ ह्यूमन माइंड' के आधार पर 'प्रगति वा उन्नति, उसका नियम और निदान' हर्बर्ट स्पेन्सर के 'प्रोग्रेस, इट्स ला एंड काजेज' के आधार पर 'साहित्य' न्यूमैन की 'आइडिया आफ ए यूनिवर्सिटी' के 'लिटरेचर' शीर्षक लेख के आधार पर अनुवाद प्रस्तुत किये हैं। प्राचीन इतिहास और संस्कृति सम्बन्धी उनके अनूदित कुछ उल्लेखनीय लेख हैं – (१) प्राचीन भारतवासियों का पहरावा (डा० राजेन्द्रलाल मित्र के एक लेख के आधार पर), (२) प्राचीन भारतवासियों की समुद्र-यात्रा ('डान' मैगजीन में प्रकाशित श्री हारण चन्द्र चकलेदार के एक लेख के आधार पर), (३) भारत के इतिहास में 'हूण' (दि इंडियन एंटिक्वेरी' में प्रकाशित प्रो० कृष्णस्वामी आयंगर के लेख के आधार पर), (४) बुद्धघोष (दि इंडियन एंटिक्वेरी के एक लेख के आधार पर), (५) प्राचीन भारत का एक शक राजा (पं० राधाकृष्ण की दी हुई सामग्री के आधार पर)।

इन लेखों द्वारा इतिहास, दर्शन और मनोविज्ञान आदि विषयों की ओर आचार्य शुक्ल की रुचि का परिचय मिलता है। शुक्ल जी के हिन्दी से सम्बन्धित तथा अन्य विषयों पर कुछ लेख अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं में भी प्रकाशित हुए थे। उन सबको एकत्र करने की जरूरत है।

अनुवाद-कार्य बड़े महत्त्व और उत्तरदायित्व का होता है और शुक्ल जी ने उसका निर्वाह बड़ी कुशलतापूर्वक किया है। वे विशुद्ध और वैज्ञानिक अनुवाद का लक्ष्य लेकर नहीं चले थे। मूल पुस्तक के आधार पर एक अन्य पुस्तक का तैयार किया जाना ही उनका उद्देश्य था। इस क्षेत्र में शुक्ल जी की सीमाएँ हैं। युग-सीमा को ध्यान में रखकर ही उनके अनुवाद-कार्य का मूल्यांकन होना चाहिए। साथ ही 'नागरी प्रचारिणी सभा' की जिस योजना के अन्तर्गत उन्होंने अपना अनुवाद-कार्य किया था, उसका भी ध्यान रखना आवश्यक है। हिन्दी-साहित्य में अनुवाद के क्षेत्र में किये गये आचार्य शुक्ल के कार्यों की अपनी महत्ता है। उसे उन्होंने एक प्रकार से अपनी प्रतिभा द्वारा मौलिक स्तर प्रदान किया है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि शुक्ल जी के समग्र कृतित्व का महत्त्व आज भी पूर्ववत् अक्षुण्ण है। आज भी उनकी प्रतिभा के आलोक में साहित्यकार, आलोचक, इतिहासकार एवं अनुवादक अपना मार्ग खोजकर स्वयं को कृतकृत्य समझते हैं। आज भी उनका व्यक्तित्व संसार के लिए दिशा-दर्शक का कार्य करता प्रतीत होता है।अपने जीवन की विषम परिस्थितियों से संघर्ष करके उन्होंने अपने अन्तस् में विद्यमान हिन्दी-प्रेम की जो अमर ज्योति जलायी थी, उससे आज भी हिन्दी-साहित्य-संसार का कोना-कोना देदीप्यमान है। उनका सम्पूर्ण कृतित्व एक ग्रन्थावली के रूप में सम्पादित कर प्रकाश में लाये जाने की जरूरत है।

४.५ प्रेमचन्द-साहित्य और उसका प्रकाशन-काल

किसी भी रचनाकार द्वारा रचित साहित्य के समीचीन अध्ययन में उसके समसामयिक परिवेश और काल का विशेष महत्त्व रहता है, क्योंकि उस परिवेश के अध्ययन की पूर्णता

के अभाव में कृतियों का समुचित मूल्यांकन नहीं हो पाता है। यही कारण है कि कृतियों के रचनाकार के साथ-साथ रचनाकाल का भी महत्त्व है। प्राय: यह देखा जाता है कि रचना तो व्यक्ति के साथ-साथ जुड़ी होने के कारण फिर भी पहचान ली जाती है, लेकिन इतिहास की गर्तें रचनाकार को दबा देती हैं। समकालीन लोक में अत्यन्त प्रसिद्ध अथवा निकृष्ट मानी जानेवाली रचनाओं का परवर्ती युग में अध्ययन साहित्येतिहास की दृष्टि से विशेष रहता है। इसलिए काल का सही-सही ज्ञान होना आवश्यक माना गया है।

भारतीय साहित्य के साथ यह विडम्बना रही है कि यहाँ रचनाकार को अधिक महत्त्व दिया गया, उसके युग को भुला दिया गया। यह प्रवृत्ति प्राचीन अथवा मध्ययुग में ही नहीं, अपितु आधुनिक युग में भी परिलक्षित होती है। हिन्दी-साहित्य के मूर्धन्य रचनाकर मुंशी प्रेमचन्द की रचनाओं के काल के सन्दर्भ में भी संशय रहा है। यही नहीं, उसके ठीक प्रकाशन-वर्ष भी अभी तक अनिश्चित हैं। यह आश्चर्य की बात है कि प्रेमचन्द-जैसे आधुनिक लेखक-विषयक तिथियाँ भी विवादग्रस्त हो गयी हैं। उनकी कृतियों के रचना-काल तथा प्रकाशन-तिथियों के देने में लेखक सतर्कता से काम नहीं ले रहे हैं। प्रेमचन्द-विषयक भ्रान्तिपूर्ण और अप्रामाणिक सूचनाओं का इतना ढेर आलोचना और अनुसंधान-ग्रन्थों में जमा हो चुका है कि उसका उल्लेख भी क्षोभ पैदा करनेवाला होगा। हिन्दी के विद्वान् और अन्वेषक प्राय: ऐसे विषयों में मूल आधारों तक पहुँचने का कष्ट उठाना या तो अनावश्यक समझते हैं या चाहते ही नहीं। यह दायित्वहीन मनोवृत्ति चिन्तनीय है।

प्रेमचन्द के जीवन तथा साहित्य-सम्बन्धी भ्रान्तियों की ओर ध्यान देने और दिलाने का श्रेय डा० गीतालाल को है, जिन्होंने जनवरी १९६० में 'साहित्य' (पटना) में प्रकाशित 'प्रेमचन्द के जीवन तथा साहित्य-सम्बन्धी तिथियों में भ्रान्तियाँ' लेख में इन भ्रान्तियों का उल्लेख करते हुए इनके निराकरण का भी प्रशंसनीय कार्य किया। उन्होंने उन मूल आधारों तक पहुँचने का प्रयास किया। उनका कार्य प्रारम्भिक होते हुए भी महत्त्वपूर्ण है।

प्रेमचन्द की कृतियों की प्रकाशन-तिथियों को प्रकाश में लाने के कार्य में डा० माताप्रसाद गुप्त का योगदान भी कुछ कम नहीं है। 'साहित्य' (अप्रैल १९६०) में प्रकाशित लेख 'प्रेमचन्द की कृतियों की प्रकाशन-तिथियाँ' और 'हिन्दी-पुस्तक-साहित्य' ग्रन्थ डा० गुप्त की सराहनीय कृतियाँ हैं। इस परम्परा में डा० गोपालराय का निबन्ध 'प्रेमचन्द के उपन्यासों का लेखन एवं प्रकाशन-काल' (उपन्यासकार प्रेमचन्द : सं० सुरेशचन्द गुप्त एवं रमेशचन्द गुप्त में संकलित) अपनी प्रामाणिकता के कारण विशेष उल्लेखनीय हैं। फिर भी इस दिशा में और कार्य करने की गुंजाइश है विशेषकर प्रेमचन्द के उर्दू में प्रकाशित उपन्यासों के सम्बन्ध में।

प्रेमचन्द की जीवनी को लेकर भी हिन्दी में दो अत्यन्त उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण कार्य प्रकाश में आये हैं – अमृतराय द्वारा लिखित 'प्रेमचन्द : कलम का सिपाही' (१९६२) और मदनगोपाल द्वारा लिखित 'कलम का मजदूर : प्रेमचन्द' (१९६५)। ये दोनों ग्रन्थ इन लेखकों की अनेक वर्षों की साधना और शोध के प्रतिफल हैं, लेकिन अब इस बात की आवश्यकता है कि अद्यतन शोध के प्रकाश में इन ग्रन्थों के संशोधित और परिमार्जित

संस्करण प्रकाशित हों।

प्रेमचन्द की कहानियों पर अभी उतने विस्तार और गहराई से विचार नहीं किया गया है, जितना अपेक्षित है। उर्दू कहानी-संग्रहों का कोई पुरसांहाल नहीं है। कौन से उर्दू कहानी-संग्रह कब निकले और उनमें कौन-सी कहानियाँ संकलित थीं, इसका प्रामाणिक विवरण अभी प्रकाश में नहीं आ पाया है। उर्दू कहानी-संग्रहों में संकलित कहानियों का किस शीर्षक से हिन्दी रूपान्तर किन कहानी-संग्रहों में छपा है, इसकी भी प्रामाणिक जानकारी नितान्त आवश्यक है। यही स्थिति हिन्दी-कहानी-संग्रहों में प्रकाशित हिन्दी-कहानियों के उर्दू-रूपान्तरों की है। प्रेमचन्द के समग्र साहित्य का वैज्ञानिक अध्ययन तभी सम्भव है, जब उनकी सारी रचनाओं के प्रकाशन का प्रामाणिक विवरण तैयार होकर सामने आए। प्रस्तुत भूमिका के साथ संलग्न विभिन्न तालिकाओं में ऐसा ही विनम्र प्रयास है, जो अनेक विद्वानों के ग्रन्थों और लेखों के आधार पर सप्रमाण प्रकाशित किया जा रहा है। इनसे प्रेमचन्द का साहित्य (उपन्यास एवं कहानी) सम्बन्धी प्रकाशन तिथि-क्रम सही रूप में सामने आ सकेगा, ऐसी आशा है –

४.५.१ प्रकाशित उपन्यासों की तालिका[१]

१. असरारे मुआबिद उर्फ देवस्थान-रहस्य : यह उपन्यास ८ अक्तूबर १९०३ से १ फरवरी १९०५ तक बनारस के उर्दू साप्ताहिक पत्र 'आवाज ए खल्क' में क्रमशः प्रकाशित हुआ था।[२] यह पहला उपन्यास अब 'मंगलाचरण' में सम्मिलित होकर सन् १९६२ में हिन्दी में भी प्रकाशित हो चुका है। इससे पूर्व यह पुस्तक-रूप में प्रकाशित हुआ था या नहीं, ऐसी कोई सूचना अब सुलभ नहीं है।

२. हम खुर्मा-ओ-हमसबाब : इस उपन्यास के दो संस्करण हुए। पहला बाबू महादेवप्रसाद वर्मा के यहाँ से, जिसकी सूचना निगम साहब ने दी है और दूसरा नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित हुआ।[३] प्रकाशन-तिथि किसी पर नहीं है। इसका प्रकाशन १९०६ में ही मानना उचित है, क्योंकि इसका पहला विज्ञापन सितम्बर १९०६ में 'जमाना' में मिलता है और फिर बराबर मिलता है। दोनों संस्करण तिथि-रहित तो हैं ही, साथ ही उनमें से एक पर प्रेस का नाम भी नहीं है। दूसरे पर नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ का नाम है और नवाबराय का नामोल्लेख 'किशना' नामक पुस्तक के लेखक के रूप में मुद्रित

---

१. प्रस्तुत शीर्षक में प्रेमचन्द जी के उपन्यासों के प्रकाशन-काल पर ही विचार किया गया है, उनके लेखन-काल पर नहीं।

२. मुंशी जी का यह आरम्भिक उपन्यास 'मुंशी धनपतराय उर्फ नवाबराय अलाहाबादी' के नाम से छपा था, दे० 'मंगलाचरण', पृ० १ पर प्रथम पृष्ठ की मुद्रित अनुप्रति।

३. दे० 'प्रेमचन्द : कलम का सिपाही', पृ० ६५३। २९-१-२१ को एक पत्र में मुंशी जी ने इम्तयाजअली 'ताज' को लिखा था कि यह नावल 'नवल प्रेस, लखनऊ' में छपा था। निगम साहब ने लिखा है कि इसे बाबू महादेवप्रसाद वर्मा ने छापा था। उपन्यास का दूसरा संस्करण निश्चय ही नवलकिशोर प्रेस से प्रकाशित हुआ था। दे० 'मंगलाचरण', पृ० १०१ पर मुख पृष्ठ की अनुप्रति। इसी में नीच की ओर उर्दू में 'बार दोम' छपा भी है।

है। 'किशना' का प्रकाशन दिसम्बर १९०६ में हुआ था। अतः नवलकिशोर प्रेस वाला संस्करण द्वितीय संस्करण है, जिसका प्रकाशन १९०७ में हुआ था और प्रेस के बिना नाम वाला संस्करण प्रथम संस्करण है, जिसका प्रकाशन-काल १९०६ है। अब यह 'मंगलाचरण' में सम्मिलित होकर हिन्दी में भी प्रकाशित हो गया है।

३. किशना : यह उपन्यास सम्प्रति अनुपलब्ध है, किन्तु इण्डिया आफिस लाइब्रेरी लन्दन की ग्रन्थ-सूची के विवरण से ज्ञात होता है कि दिसम्बर १९०६ में यह इण्डियन सोशल रिफार्म सीरीज के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ था।[1] इसका प्रकाशन बनारस के मेडिकल हाल प्रेस से हुआ था। इसका विज्ञापन सर्वप्रथम 'जमाना' के अगस्त १९०७ के अंक में छपा था और अक्तूबर-नवम्बर १९०७ के 'जमाना' के अंक में ही इसकी एक समालोचना निकली थी।[2] अब इसका आनुमानिक प्रकाशन-काल (१९०७) देने की आवश्यकता नहीं।

४. प्रेमा : 'हम खुर्मा-ओ-हम सवाब' का यह हिन्दी-रूपान्तर प्रेमचन्द के प्रथम हिन्दी उपन्यास के रूप में इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद से सन् १९०७ में प्रकाशित हुआ था।[3] इसकी एक प्रति नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के आर्यभाषा पुस्तकालय में उपलब्ध है। जुलाई १९०७ ई० 'हिन्दी-प्रदीप' में इसकी एक समीक्षा प्रकाशित हुई थी।[4] इसका दूसरा संस्करण प्रकाशित नहीं हुआ, किन्तु अब यह 'मंगलाचरण' में शामिल होकर पुनर्मुद्रित हुआ है। निगम साहब को लिखे १७ जुलाई १९२६ के अपने पत्र में उन्होंने स्वयं 'प्रेमा' का प्रकाशन-काल १९०४ बतलाया है।[5] जो निश्चय ही गलत है। शिवरानी देवी ने इस उपन्यास के सम्बन्ध में एक नयी सूचना दी है, किन्तु खेद है कि उस पर आज तक किसी ने विचार ही नहीं किया है। उन्होंने लिखा है कि "प्रेमा का नाम आगे चलकर 'विभव' हुआ"[6] इस सम्बन्ध में खोज की जानी चाहिए। मेरे विचार में कहीं यह 'बेवाह' का तो भ्रमित रूप नहीं है ? क्योंकि 'बेवाह', 'प्रतिज्ञा' का उर्दू रूपान्तर है और 'प्रतिज्ञा', 'प्रेमा' के आधार पर लिखा गया है। एक प्रकार से यह 'प्रेमा' का संशोधित-परिवर्धित रूप है। यद्यपि कथा के विकास में महत्त्वपूर्ण अन्तर आ गया है।

५. रूठी रानी : उर्दू में लिखा यह उपन्यास 'जमाना' में अप्रैल १९०७ से अगस्त

---

१. दे० 'सारिका', प्रेमचन्द-अंक, १६ जुलाई १९८०, पृ० ५२।

२. दे० कलम का मजदूर : प्रेमचन्द, पृ० ३९-४०।

३. 'प्रेमा' के मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि – "प्रेमा अर्थात् दो सखियों का विवाह। रोचक शिक्षाप्रद और नूतन उपन्यास / लेखक : बाबू नवाबराय बनारसी / प्रकाशक : इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद / प्रथम बार, १००० कापी / सन् १९०७ ईसवी। मूल्य १० आने (गुटका आकार पृ० सं० २३६)।" प्रेमा अनुवाद होते हुए भी एक प्रकार से मौलिक कृति है।

४. हिन्दी प्रदीप, जिल्द २७, सं० ७ जुलाई १९०७ प्रेमा। (उपन्यासकार प्रेमचन्द नामक पुस्तक के पृ० ३७ पर उद्धृत)।

५. दे० चिट्ठी-पत्री १, पृ० १९२। अमृतराय जी ने इसका आशय इस रूप में लिया है – "अब इस बात का यही आशय लेना ठीक होगा कि यह उपन्यास लिखा गया १९०४ में, पर छपा १९०७ में, जिसके बारे में अब कोई सन्देह नहीं।" (दे० प्रेमचन्द क.का.सि., पृ० ६५३) अब इसी रूप में इसकी व्याख्या की जा सकती है।

६. दे० प्रेमचन्द : घर में, पृ० २१।

१६०७ तक क्रमशः प्रकाशित हुआ था।[1] यह किसी हिन्दी पुस्तक का अनुवाद था। इसे ऐतिहासिक उपन्यास की संज्ञा दी जा सकती है। पुस्तक-रूप में इसके प्रकाशित होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। 'मंगलाचरण' में यह भी सम्मिलित किया जाकर प्रकाशित हो चुका है।

६. *सेवासदन (बाजारे हुस्न)* : यह उपन्यास पहले उर्दू में लिखा गया और छपा पहले हिन्दी में। इसका प्रथम संस्करण चैतन्य पुस्तकालय, गया घाट, पटना सिटी में उपलब्ध है, जिसके मुखपृष्ठ पर इसका प्रकाशन-काल 'प्रथम बार, संवत् १६७५' मुद्रित है।[2] डा० माताप्रसाद गुप्त ने अपने लेख में १६१६ ई० के बंगाल गजट में प्रकाशित प्रथम त्रैमासिक पुस्तक-सूची के आधार पर इसके प्रथम संस्करण की प्रकाशन-तिथि १५-१२-१८ दी हुई है[3], जो प्रामाणिक है। श्री अमृतराय जी ने इसे १६१६ के मध्य में प्रकाशित होना लिखा है[4], जो प्रथम संस्करण की सूचना के प्रकाश में गलत है। सं० १६७५ वि० का अर्थ है – मार्च (लगभग) १६१८ से मार्च (लगभग) १६१६ के बीच की अवधि, किन्तु किसी भी हालत में सं० १६७५ को खींचकर १६१६ के मध्य में नहीं लाया जा सकता। अन्य प्रमाणों से भी यह गलत ही सिद्ध होता है। स्वयं मुंशी जी ने २४ अप्रैल १६१६ को लिखे अपने एक पत्र में श्री दयानारायण निगम को सूचित किया था, "आप यह सुनकर खुश होंगे कि मेरे हिन्दी नाविल ने खूब शोहरत हासिल की और अक्सर नक्कादों ने उसे हिन्दी जबान का बेहतरीन नाविल कहा है। यह 'बाजारे-हुस्न' का तर्जुमा है।[5] इस उल्लेख से स्पष्ट है कि 'सेवासदन' अप्रैल १६१६ से काफी पहले प्रकाशित हो चुका था। फिर फरवरी १६१६ ई० की सरस्वती में 'सेवासदन' का परिचय प्रकाशित हुआ था।[6] इस परिचय से पूर्व भी १३ जनवरी १६१६ के 'प्रताप' (साप्ताहिक) में हिन्दी पुस्तक-एजेन्सी, कलकत्ता द्वारा इसका विज्ञापन प्रकाशित कराया जा चुका था।[7] इससे प्रकट है कि उपन्यास एक-दो मास पूर्व अवश्य प्रकाशित हो चुका था। अतः इसका प्रकाशन-काल १६१८ ही शुद्ध है।

'सेवासदन' का उर्दू मूल रूप 'बाजारे हुस्न' कई साल बाद १६२२ में प्रकाशित हुआ था। यह बात 'ताज साहब' को लिखे १६ फरवरी १६२२ और निगम साहब को

१. दे० 'प्रेमचन्द : कलम का सिपाही', पृ० ६५४ तथा 'कलम का मजदूर : प्रेमचन्द', पृ० ४४ व ३३४।
२. मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि – सेवासदन, लेखक – 'सप्तसरोज, नवनिधि, शेख सादी आदि के रचयिता श्रीयुत प्रेमचन्द, प्रकाशक – हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, १२६ हरिसन रोड, कलकत्ता, प्रथम बार सं० १६७५; २।।), पृ० संख्या ५१० के लगभग।" (उपन्यासकार, पृ० ३८ पर उद्धृत)।
३. दे० साहित्य, वर्ष ११, अंक १ में प्रकाशित 'प्रेमचन्द की कृतियों की प्रकाशन-तिथियाँ' शीर्षक लेख, पृ० ७२।
४. दे० प्रे. च. : क.का सि., पृ० १६३ व ६५४।
५. दे० चिट्ठी-पत्री १, पृ० ८३।
६. दे० सरस्वती, भाग २०, सं० २, फरवरी १६१६ ई० (उपन्यासकार प्रेमचन्द, पृ० ४० पर उद्धृत)।
७. दे० साहित्य, वर्ष १०, अंक ४, पृ० ४१ की पाद-टिप्पणी में उद्धृत। पं० पद्मसिंह शर्मा और श्री रामदास गौड़ की लिखी हुई 'सेवासदन' की समालोचना, जो दोनों के हस्ताक्षर से ८ सितम्बर १६१६ के 'स्वदेश' में निकली थी, पहली समालोचनाओं में नहीं है। अमृतराय जी का ऐसा लिखना गलत है। (दे० प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, पृ० ६५४)।

लिखे ३१ मई १९२२ के पत्रों से प्रमाणित है।[1]

'सेवासदन' का एक संक्षिप्त संस्करण प्रेमचन्द जी के जीवन-काल में ही हिन्दी पुस्तक-एजेन्सी, कलकत्ता से १९३४ ई० में प्रकाशित हुआ था।[2] इसके अन्य विद्यार्थी-संस्करण भी प्राकशित हुए हैं।

७. *वरदान (जलवए-ईसार) :* मूल उर्दू उपन्यास 'जलवए-ईसार' १९१२ ई० में 'इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद' से प्रकाशित हुआ था।[3] उसका हिन्दी-रूपान्तर 'वरदान' उर्दू संस्करण के लगभग नौ बरस बाद सर्वप्रथम अप्रैल १९२१ ई० के निकट पूर्व में, सम्भवतः १९२१ के आरम्भ में ही ग्रन्थ-भण्डार, बम्बई से प्रकाशित हुआ था।[4] अप्रैल १९२१ की सरस्वती में पुस्तक-परिचय स्तम्भ के अन्तर्गत इसका संक्षिप्त परिचय छपा था, जिसकी कुछ महत्त्वपूर्ण पंक्तियाँ इस प्रकार हैं [5] –

"वरदान : लेखक : श्रीयुत् प्रेमचन्द : प्रकाशक : मैनेजर, ग्रन्थ-भण्डार, लेडी हार्डिज रोड, माटूंगा, बम्बई। हिन्दी में अभी तक उच्च कोटि के मौलिक उपन्यासों का अभाव है। प्रेमचन्द जी ने 'सेवासदन' लिखकर हिन्दी के उपन्यास-लेखकों में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया है। यह आपका दूसरा उपन्यास है। इसमें वह विशेषता नहीं है, जो आपके 'सेवासदन' में है।.....छोटे आकार में २३९ पृष्ठों की सुन्दर जिल्द बँधी हुई पुस्तक का मूल्य २।) है।"

श्री अमृतराय भी इसको १९२१ में ही प्रकाशित होना लिखते हैं। उन्होंने लेखक की ओर से प्रकाशक को दिये गये अधिकार-पत्र पर १८ अक्तूबर १९२० की तिथि अंकित होने का और मई १९२१ में प्रकाशित एक पुस्तक के पीछे उसका विज्ञापन भी मिलने का उल्लेख किया है।[6] इसके प्रथम संस्करण की खोज होनी चाहिए।

८. *प्रेमाश्रम (गोश-ए-आफियत) :* इस उपन्यास का प्रकाशन हिन्दी-पुस्तक-एजेन्सी, कलकत्ता से १९२२ में ही हुआ था[7], १९२१ के पूर्वार्द्ध में नहीं, जैसा कि अमृतराय जी ने लिखा है।[8] जून १९२२ ई० की 'सरस्वती' के पुस्तक-परिचय स्तम्भ में इसका निम्नलिखित

---

१. दे० चिट्ठी-पत्री २, पृ० १३५ तथा दे० चिट्ठी-पत्री १, पृ० १२१। 'बाजारे हुस्न' का प्रकाशन १६ फरवरी १९२२ और ३१ मई १९२२ के मध्य हुआ।

२. दे० साहित्य, वर्ष ११, अंक १, पृ० ७४।

३. इस संस्करण पर लेखक का नाम 'नवाबराय' छपा था। यह 'नवाबराय' नाम से छपी हुई अन्तिम कृति है। इसका पुनर्प्रकाशन इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद से ही प्रेमचन्द के नाम से हुआ। १९२८ में यह हाईस्कूल के उर्दू-कोर्स में लगा था। (दे० कलम का मजदूर : प्रेमचन्द, पृ० ६७ व १८२ तथा प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, पृ० ११९ व ६५४)।

४. दे० उपन्यासकार प्रेमचन्द, पृ० ४३। मदनगोपाल जी ने इसे 'हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई' से प्रकाशित होना लिखा है, जो गलत है, (दे० कलम का मजदूर : प्रेमचन्द, पृ० ६४)।

५. दे० सरस्वती, वर्ष २२, अंक ४, अप्रैल १९२१, पुस्तक-परिचय (उ० प्रेमचन्द, पृ० ४४ पर उद्धृत)।

६. दे० प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, पृ० ६५४।

७. दे० उपन्यासकार प्रेमचन्द, पृ० ४५।

८. दे० प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, पृ० ६५४।

परिचय प्रकाशित हुआ था[1] –

"प्रेमाश्रम प्रेमचन्द जी का यह नया उपन्यास है, अभी हाल में प्रकाशित हुआ है। ६५५ पृष्ठों में यह पूरा हुआ है। अच्छे टाइप में अच्छे कागज पर छपा है। खद्दर की सुन्दर जिल्द बँधी है। कलकत्ता (१२६, हरिसन रोड) की हिन्दी-पुस्तक एजेन्सी ने इसे प्रकाशित किया है। मूल्य ३।।) है।"

मुंशी जी ने ३१ मई १६२२ के पत्र में 'निगम साहब' को अपने नये 'नाविल' के प्रकाशित होने की सूचना दी है। अपने ही १४ जुलाई १६२२ के पत्र में बिक्री का उल्लेख करते हुए निगम साहब को लिखा था – "नया नाविल एक हजार निकल गया।" यद्यपि इन दोनों पत्रों में उपन्यास का नामोल्लेख नहीं है, किन्तु पूर्वापर पत्र-प्रसंग से यह 'प्रेमाश्रम' ही है। पुन: १ अक्तूबर १६२२ के पत्र में तो अत्यन्त उत्साहपूर्वक 'प्रेमाश्रम' का स्पष्ट नाम देते हुए, उसकी बिक्री के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था – "आपको यह जानकर खुशी होगी कि प्रेमाश्रम की १२०० जिल्दें निकल गयीं। अब दूसरे एडीशन की तैयारी है।" इन पत्रों[2] से इसके प्रकाशन-काल का स्पष्टतया निर्णय हो जाता है। अप्रैल १६२१ की सरस्वती में प्रकाशित 'वरदान' के संक्षिप्त परिचय में 'वरदान' को प्रेमचन्द का दूसरा उपन्यास बताया है।[3] इससे भी यही ज्ञात होता है कि 'वरदान' के बाद 'प्रेमाश्रम' प्रकाश में आया। अन्यथा ऐसा न लिखा जाता।

इस उपन्यास के आरम्भ में संलग्न श्री रामदास गौड़ के 'अनुवचन' में उल्लिखित तिथि 'होली १६७६' भ्रमात्मक है। भ्रमवश '१६७८' के स्थान पर '१६७६' लिख गया जान पड़ता है। अत: १६२३ का अनुमान निरर्थक है। डा० गोपाल राय ने 'होली १६७६ वि०' की जो व्याख्या की है, वह समुचित है।[4] डा० (श्रीमती) गीतालाल ने अन्य प्रमाणों को खोजने की चेष्टा नहीं की, अन्यथा केवल 'होली १६७६' के आधार पर १६२२ ई० प्रकाशन-काल माननेवालों को अपने लेख में भ्रान्तिग्रस्त सिद्ध न करती। वैसे उनके तर्क निर्दोष हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।[5]

डा० गुप्त ने भी बंगाल के १६२२ ई० के गजट में प्रकाशित द्वितीय त्रैमासिक पुस्तक-सूची के आधार पर 'प्रेमाश्रम' की प्रकाशन-तिथि १३ अप्रैल १६२२ दी है[6], जो सही है।

'प्रेमाश्रम' लिखा पहले उर्दू में गया और छपा पहले हिन्दी में। लेखक ने शुरू में इसके तीन नाम सोचे थे – 'बांगेसेहरे', 'नाकाम' और 'नेकनाम'[7], लेकिन उर्दू-संस्करण

१. दे० उपन्यासकार प्रेमचन्द, पृ० ४६ पर उद्धृत – सरस्वती, वर्ष २२, अंक ६ जून १६२२।
२. इन पत्रों के लिए देखिये – चिट्ठी-पत्री १, पृ० १२१, १२६, १२७।
३. दे० उपन्यासकार प्रेमचन्द, पृ० ४४।
४. दे० वही, पृ० ४६।
५. दे० साहित्य, वर्ष १०, अंक ४, पृ० ४२।
६. दे० साहित्य, वर्ष ११, अंक १, पृ० ७२।
७. दे० प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, पृ० ६५४। निगम साहब को लिखे पत्रों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। (दे० चिट्ठी-पत्री १, पृ० ८६, ८७)।

भी इनमें से किसी नाम से प्रकाशित नहीं हुआ। उर्दू में यह 'गोशए-आफियत' शीर्षक से १६२८ ई० में दारुल अशायत, लाहौर से प्रकाशित हुआ था।[१]

'प्रेमाश्रम' का संक्षिप्त संस्करण भी प्रकाशित हुआ है तथा 'प्रेमोपहार' नामक पुस्तक में भी अन्य रचनाओं के साथ संकलित किया जाकर प्रकाशित हुआ है।

६. *रंगभूमि (चौगाने हस्ती)* : प्रेमचन्द जी का यह बृहत् उपन्यास दो भागों में सर्वप्रथम गंगा-पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ से सन् १६२५ ई० के आरम्भ में प्रकाशित हुआ था। इसके प्रथम संस्करण की प्रतियाँ पटना विश्वविद्यालय लाइब्रेरी, पटना आदि कई स्थानों में उपलब्ध हैं और प्रथम संस्करण की प्रति पर 'प्रथमावृत्ति सं० १६८१ वि०' मुद्रित है।[२] साथ ही उसमें 'सम्पादक का वक्तृत्व' १ फरवरी १६२५ का है।[३] अमृतराय जी एवं डा० गोपालराय ने 'वसन्त पंचमी सं० १६८१' मुद्रित होने का उल्लेख किया है।[४] इससे प्रकट है कि सम्वत् वाली तिथि 'माघ मास' की है और अंग्रेजी तिथि के अनुसार इसकी तिथि 'फरवरी १६२५' सही है। वसन्त पंचमी का उल्लेख भी इसी मेल में है। अमृतराय जी ने प्रथम संस्करण पर 'वसन्त पंचमी १६८१' छपा होने का उल्लेख करते हुए भी श्री शिवपूजन सहाय के नाम लिखी एक चिट्ठी के आधार पर इसे 'जनवरी १६२५' में ही प्रकाशित हो जाने का उल्लेख किया है[५], किन्तु यह सही नहीं है, क्योंकि उक्त चिट्ठी में ४० फार्म छपने का उल्लेख है, न कि पुस्तक के प्रकाशित होने का।[६] इसके बाद २२ फरवरी १६२५ के पत्र में स्पष्ट रूप से पुस्तक के प्रकाशित होने पर उसकी प्रति भेजे जाने का उल्लेख करते हुए, उस पर उनकी आलोचना का बड़ी बेसबरी से इन्तजार करने का उल्लेख है।[७] अतः बसन्त पंचमी सं० १६८१ (फरवरी १६२५) तिथि एकदम शुद्ध है।

यद्यपि रंगभूमि का मसविदा पहले उर्दू में तैयार किया गया था, पर पूरा उपन्यास अपने अन्तिम रूप में हिन्दी में लिखा गया और वही 'रंगभूमि' के नाम से पहले प्रकाशित हुआ।[८] 'रंगभूमि' का उर्दू-रूपान्तर 'चौगाने हस्ती' हिन्दी-संस्करण के तीन साल बाद सन् १६२८ ई० में 'दारुल अशायत, लाहौर' से प्रकाशित हुआ था।[६] श्री अमृतराय जी ने

---

१. दे० कलम का मजदूर : प्रेमचन्द, पृ० १८२ व ३३१-३२।

२. दे० उपन्यासकार प्रेमचन्द, पृ० ४८। मुख पृष्ठ की प्रतिलिपि – 'रंगभूमि (द्वितीय भाग) ; लेखक प्रेमचन्द, प्रकाशक – गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, २६-३० अमीनाबाद पार्क, लखनऊ, प्रथमावृत्ति, सं० १६८१ वि०।

३. दे० साहित्य, वर्ष १०, अंक ४, पृ० ४३।

४. दे० उपन्यासकार प्रेमचन्द, पृ० ४८ तथा प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, पृ० ६५५।

५. दे० प्रेमचन्द : कमल का सिपाही, पृ० ६५५।

६. चिट्ठी-पत्री २, पृ० २२१ (२१६ संख्यक पत्र)।

७. दे० चिट्ठी-पत्री २, पृ० २२१ (२१७ संख्यक पत्र)। इस सम्बन्ध में 'परिषद् पत्रिका' (पटना) वर्ष २०, अंक २ में डा० मंगलमूर्ति का 'रंगभूमि की पांडुलिपि' शीर्षक प्रकाशित लेख पठनीय है, जिसमें उसके प्रकाशन से सम्बन्धित कई नवीन तथ्य प्रकाश में आते हैं। दे० पृ० १३६-१४४।

८. दे० उपन्यासकार प्रेमचन्द, पृ० ४६।

६. दे० कलम का मजदूर : प्रेमचन्द, पृ० १८२, ३३१, ३३२। उर्दू 'चौगाने हस्ती' हिन्दी 'रंगभूमि' का अनुवाद है न कि हिन्दी 'रंगभूमि' किसी उर्दू-उपन्यास का। 'चौगाने हस्ती' की भूमिका तथा प्रेमचन्द

'चौगाने हस्ती' को १९२७ में प्रकाशित होना लिखा है[1], किन्तु 'चौगाने हस्ती' के दूसरे भाग की भूमिका में उल्लिखित मुंशी जी के कथन से १९२८ की ही पुष्टि होती है।[2] निगम साहब को लिखे ७ अक्तूबर १९२८ के पत्र से भी इसकी पुष्टि होती है।[3]

डा० गुप्त ने उ०प्र० गजट की तृतीय त्रैमासिक सूची १९२५ के आधार पर रंगभूमि की प्रकाशन-तिथि १५-४-२५ दी है।[4] इसमें उपर्युक्त विवेचन के आधार पर सन् (१९२५) तो सही है, किन्तु तिथि (१५/४) गलत है। रंगभूमि का संक्षिप्त संस्करण भी प्रकाशित हुआ है।

१०. कायाकल्प (पर्दए मजाज) : मूल रूप से हिन्दी में लिखा गया प्रेमचन्द जी का यह उपन्यास १९२६ में प्रकाशित हुआ था।[5] डा० गुप्त ने इसकी प्रकाशन-तिथि १-११-२६ दी है और प्रकाशक का नाम 'भार्गव बुक डिपो, बनारस' बताया है।[6] श्री अमृतराय ने प्रकाशनतिथि तो १९२६ ही दी है, किन्तु इसको प्रेमचन्द जी के प्रेस (सरस्वती प्रेस) से प्रकाशित होना लिखा है।[7] जनवरी १९२७ की 'सरस्वती' में प्रकाशित 'कायाकल्प' के परिचय से १९२६ प्रकाशन-काल की पुष्टि होती है।[8] निगम साहब को लिखे १७ जुलाई १९२६ के अपने पत्र में मुंशी जी ने 'कायाकल्प' के प्रकाशित होने का उल्लेख किया है[9], जिससे ज्ञात होता है कि 'नवम्बर' से कई मास पहले ही इसका प्रकाशन हो चुका था। 'माधुरी' के १९२६ के कई अंकों में 'कायाकल्प' का विज्ञापन इस प्रकार दिया है[10]—

'निकल गयी ! निकल गयी !! निकल गयी !!! प्रेमचन्द की दो नवीन रचनाएँ : कायाकल्प और प्रेम-प्रतिमा।'

'निर्मला' जो 'चाँद' कार्यालय (इलाहाबाद) से १९२७ में निकली, में भी कायाकल्प का उल्लेख है।[11] अत: इसकी प्रकाशन-तिथि १९२६ निर्विवाद है।

'कायाकल्प' का उर्दू-रूपान्तर 'पर्दए मजाज' १९३२ में प्रकाशित हुआ था। निगम साहब को लिखे २५ फरवरी १९३२ तथा १० अप्रैल १९३२ के पत्रों से इसकी पुष्टि होती

जी के एक पत्र से यह पूर्णतया स्पष्ट है। 'रंगभूमि' से यह अनुवाद 'इकबाल वर्मा सेहर हथगामी' ने किया था। इसके पारिश्रमिक के रूप में उन्हें दो सौ रुपये दिये गये थे, न कि ४०० रु० पर तसफिया हुआ था, जैसा कि अमृतराय जी ने लिखा है। इस सम्बन्ध में जिस पत्र का उल्लेख किया है, उसमें 'दो सौ' पर ही तसफिया होने का उल्लेख है। (दे० प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, पृ० ३७९-८० तथा चिट्ठी-पत्री १, पृ० १५५-५६-५७)।

१. दे० प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, पृ० ३८०। २. दे० वही, पृ० ३७९।
३. दे० चिट्ठी-पत्री १, पृ० १६६। मौ० अब्दुल माजिद दरियावादी को लिखा २८ सितम्बर १९२८ का पत्र भी द्रष्टव्य है, जिसमें 'चौगाने हस्ती' पढ़े जा चुकने का उल्लेख है (दे० चिट्ठी-पत्री २, पृ० २८०)।
४. दे० साहित्य, वर्ष ११, अंक १, पृ० ७३।
५. दे० कलम का मजदूर : प्रेमचन्द, पृ० ३३०-३३२ तथा उपन्यासकार प्रेमचन्द, पृ० ५२। आरम्भ में इसके तीन नाम रखे गये थे – 'असाध्य साधना', 'मायास्वप्न', 'आर्तनाद', किन्तु प्रकाशन 'कायाकल्प' नाम से हुआ।
६. दे० साहित्य, वर्ष ११, अंक १, पृ० ७३।
७. दे० प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, पृ० ६५५ व ३७६। यह सूचना भ्रामक है।
८. दे० सरस्वती, भाग २८, संख्या १ पुस्तक-परिचय (उपन्यासकार प्रेमचन्द पुस्तक के पृ० ५२ पर उद्धृत)।
९. दे० चिट्ठी-पत्री १, पृ० १६२
१०-११. दे० साहित्य, वर्ष १०, अंक ४, पृ० ४३ पर उद्धृत।

है।[१] मदनगोपाल जी ने एक स्थान पर इसको १९३० में प्रकाशित होना लिखा है, जो अशुद्ध है और दूसरे स्थान पर १९३२ में प्रकाशित होने का उल्लेख किया है, जो सही है।[२] इसका प्रकाशन सम्भवतः 'कृश्ना पबलिशर्स' ने किया था।[३] कायाकल्प के प्रथम संस्करण की खोज की जानी चाहिए। 'कायाकल्प' का 'मनोरमा' नाम से एक छात्रोपयोगी संस्करण भी प्रकाशित हुआ है।

११. *निर्मला* : यह उपन्यास सर्वप्रथम 'चाँद' के नवम्बर १९२५ से नवम्बर १९२६ तक के अंकों में क्रमशः प्रकाशित हुआ था।[४] जनवरी १९२७ के चाँद की निम्नलिखित सम्पादकीय टिप्पणी से इस सूचना की पुष्टि होती है – ''गत वर्ष श्रीयुत प्रेमचन्द जी ने 'चाँद' के प्रेमी पाठकों के समक्ष 'निर्मला' नामक उपन्यास उपस्थित करके वृद्ध-विवाहों के दुष्परिणामों का भयंकर दिग्दर्शन कराया था।''[५]

यह उपन्यास पुस्तक-रूप में १९२७ ई० में 'चाँद' कार्यालय, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ था। इसका प्रथम संस्करण आर्यभाषा पुस्तकालय, काशी एवं सिन्हा लाइब्रेरी, पटना में उपलब्ध है।[६] इसके मुखपृष्ठ पर 'जनवरी १९२७' प्रकाशन-तिथि मुद्रित है।[७] डा० गुप्त ने इसकी प्रकाशन-तिथि १२ जून १९२८ दी है[८], जो उपन्यास के मुखपृष्ठ पर मुद्रित तिथि के प्रकाश में अशुद्ध है। सम्भव है, यह दूसरे संस्करण की प्रकाशन-तिथि हो, क्योंकि प्रथम संस्करण छपने के साल-भर के अन्दर ही समाप्त हो गया था।[९] यह इसकी लोकप्रियता का प्रमाण है।

सम्भवतः इसी नाम से इसका उर्दू-संस्करण भी गिलानी इलैक्ट्रिक प्रेस, लाहौर से प्रकाशित हुआ था,[१०] लेकिन किस सन् में, यह अभी ज्ञात नहीं हो सका है।

१२. *प्रतिज्ञा (बेवा)* : यह उपन्यास सर्वप्रथम 'चाँद' के जनवरी १९२७ से नवम्बर १९२७ तक के अंकों में धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ था।[११] पुस्तक-रूप में यह उपन्यास सबसे पहले १९२९ ई० में सरस्वती प्रेस, बनारस से प्रकाशित हुआ

---

१. दे० चिट्ठी-पत्री, पृ० १९२-९४; २५०, २५२ संख्यक पत्र।

२. दे० कलम का मजदूर : प्रेमचन्द, पृ० ३३१-३३२।

३. दे० चिट्ठी-पत्री १, १९२।

४. दे० प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, पृ० ६५५।

५. दे० उपन्यासकार प्रेमचन्द, पृ० ५३।

६. दे० वही तथा साहित्य, वर्ष १०, अंक ४, पृ० ४३-४४। मदनगोपाल जी ने इसकी प्रकाशन-तिथि १९२९ व १९२६ दी है, जो पूर्णतया अशुद्ध है। दे० कलम का मजदूर : प्रेमचन्द, पृ० ३३१-३३२।

७. मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि – ''निर्मला, क्रान्तिकारी सामाजिक उपन्यास सेवासदन, प्रेमपूर्णिमा, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, प्रेमपचीसी, कायाकल्प आदि अनेक सुप्रसिद्ध पुस्तकों के रचयिता माधुरी के सम्पादक श्री प्रेमचन्द जी, प्र० चाँद कार्यालय, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण २०००, जनवरी १९२७। (उपन्यासकार प्रेमचन्द, पृ० ५३ पर उद्धृत)।

८. दे० साहित्य, वर्ष ११, अंक १, पृ० ७३।

९. दे० प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, पृ० ३९०

१०. दे० कलम का मजदूर : प्रेमचन्द, पृ० १८३।

११. दे० प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, पृ० ६५५। डा० (श्रीमती) गीतालाल के अनुसार 'प्रतिज्ञा' उपन्यास 'चाँद' के २७-२८ के अंकों में प्रकाशित हुआ था। (दे० साहित्य, वर्ष १०, अंक ४, पृ० ४४, पा०टि० ४) किन्तु उनका यह उल्लेख अशुद्ध है। डा० गोपालराय के अनुसार १९२८ के अंकों में 'प्रतिज्ञा' के परिच्छेद नहीं छपे हैं। (दे० उपन्यासकार प्रेमचन्द, पृ० ५५, पा०टि० ३)।

था।[1] डा० गुप्त ने इसकी प्रकाशन-तिथि '४-६-२६' दी है और प्रकाशक का नाम सरस्वती प्रेस, बनारस बताया है।[2] इस तथ्य की पुष्टि २२ जून १६२६ के 'मतवाला' में प्रकाशित 'प्रतिज्ञा की परख' शीर्षक एक लम्बे लेख से होती है, जिसमें 'चाकलेट विधाता' द्वारा 'प्रतिज्ञा' की कटु आलोचना प्रस्तुत की गयी थी।[3]

इसका उर्दू-रूपान्तर 'बेवा' नाम से १६३२ में सम्भवत: लखनऊ से प्रकाशित हुआ था। निगम साहब को लिखे १३ मई १६३२ तथा ७ जून १६३२ के पत्रों से इसकी पुष्टि होती है।[4] मदनगोपाल जी ने इसको १६३३ में प्रकाशित होना लिखा है[5], जो अशुद्ध है।

१३. गबन : यह उपन्यास मार्च १६३१ ई० में सरस्वती प्रेस, बनारस से प्रकाशित हुआ था। इसका प्रथम संस्करण आर्यभाषा पुस्तकालय, काशी में उपलब्ध है, जिस पर 'मार्च १६३१' अंकित है।[6] इसकी पुष्टि प्रेमचन्द के १८ फरवरी १६३१ के पत्र एवं जैनेन्द्र के २३ मार्च १६३१ के पत्र से होती है।[7] अधिकांश लेखकों ने इसकी प्रकाशन-तिथि के सम्बन्ध में भ्रामक सूचनाएँ प्राय: नहीं दी हैं। मदनगोपाल जी ने अपने ग्रन्थ के पृ० ३३१ पर इसको १६३१ में प्रकाशित होना लिखा है और पृ० ३३३ पर प्रकाशन-काल १६३० का उल्लेख किया है[8], जो गलत है।

इसके विद्यार्थी एवं संक्षिप्त संस्करण भी अलग से प्रकाशित हुए हैं तथा इसका 'चन्द्रहार' नाम से नाट्य रूपान्तर भी प्रकाश में आया है।

'गबन' का उर्दू रूपान्तर भी सम्भवत: १६३४ में प्रकाशित हुआ था।[9]

१४. कर्मभूमि (मैदाने अमल) : यह उपन्यास सरस्वती प्रेस, बनारस में १६३२ में प्रकाशित हुआ था। इसके सातवें संस्करण के निवेदन के अन्त में 'सितम्बर १६३२' मुद्रित है।[10] प्रेमचन्द के पत्रों से इसकी पुष्टि होती है। जैनेन्द्र को लिखे १५ अगस्त १६३२ के पत्र से पता चलता है कि उस समय 'कर्मभूमि' छप रही थी और बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखे १४ नवम्बर १६३२ के पत्र से ज्ञात होता है

---

१. दे० उपन्यासकार प्रेमचन्द, पृ० ५५ तथा कलम का मजदूर : प्रेमचन्द, पृ० ३३१-३३२।

२. दे० साहित्य, वर्ष ११, अंक १, पृ० ७३।

३. दे० उपन्यासकार प्रेमचन्द, पृ० ५५ पर उद्धृत।

४. दे० चिट्ठी-पत्री १, पृ० १६४-१६५; २५३-२५४ संख्यक पत्र।

५. देखें कलम का मजदूर : प्रेमचन्द, पृ० ३३१।

६. दे० उपन्यासकार प्रेमचन्द, पृ० ५६। मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि- 'गबन', लेखक – भारत विख्यात उपन्यास-सम्राट् श्री प्रेमचन्द जी, प्रकाशक - सरस्वती प्रेस, बनारस सिटी; प्रथम संस्करण, मार्च १६३१, मूल्य ३), पृ० संख्या ४३६।'

७. दे० चिट्ठी-पत्री २, पृ० २०; १० एवं ११ संख्यक पत्र। श्रीराम शर्मा को लिखे १३ मार्च १६३१ के पत्र से भी यही सिद्ध होता है (दे० वही, पृ० २११)।

८. दे० कलम का मजदूर : प्रेमचन्द। डा० गुप्त ने इसकी प्रकाशन-तिथि ६-५-३१ दी है, जिसका केवल सन् सही है (दे० साहित्य, वर्ष ११, अंक १, पृ० ७४)।

९. दे० चिट्ठी-पत्री २, पृ० ४३; जैनेन्द्र कुमार को लिखा १६ अप्रैल १६३४ का पत्र।

१०. दे० उपन्यासकार प्रेमचन्द, पृ० ५७।

कि वह प्रकाशित हो गयी थी।[१] श्री अमृतराय ने इसका प्रकाशन-काल अगस्त १६३२ लिखा है[२], जो सही नहीं है। उस समय तो वह छप रही थी। डा० गुप्त ने इसकी प्रकाशन-तिथि १८-१२-३२ दी है[३], जो उपर्युक्त विवरण के आधार पर सन् के अतिरिक्त सही नहीं है।

'कर्मभूमि' का हिन्दी-जगत् में खूब स्वागत हुआ। दिल्ली के 'अर्जुन' में प्रकाशित आलोचना का एक अंश 'हंस' दिसम्बर १६३२ अंक के विज्ञापन में उद्धृत है।[४]

'कमभूमि' का उर्दू-रूपान्तर 'मैदाने अमल' जामिया मिलिया (मक्तबा जामिया) देहली के एहतिमाम में छपा था। हिसामुद्दीन गौरी, हैदराबाद को लिखे १६ मार्च १६३५ के पत्र से इसकी जानकारी होती है।[५] जैनेन्द्र को लिखे २४ दिसम्बर १६३५ के पत्र में भी इसके उर्दू एडीशन में प्रकाशित होने का उल्लेख है।[६] मदनगोपाल जी ने इस उर्दू-रूपान्तर को १६३४ में प्रकाशित होना लिखा है[७], जो गलत जान पड़ता है।

'कर्मभूमि' के संक्षिप्त एवं विद्यार्थी संस्करण भी अलग से प्रकाशित हुए।

१५. *गोदान (गऊदान)* : प्रेमचन्द जी के इस अन्तिम पूर्ण उपन्यास का प्रकाशन हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई और सरस्वती प्रेस, बनारस, दोनों स्थानों से एक साथ जून १६३६ में हुआ था। इसका प्रथम संस्करण पटना कालेज लाइब्रेरी में उपलब्ध है।[८]

उषादेवी मित्रा के नाम ६ जून १६३६ ई० के अपने पत्र में मुंशी जी ने लिखा था – 'गोदान पूरा छप गया। बाइंडिंग होने पर भेजूँगा।' [६] १० जून १६३६ को उन्होंने फिर जैनेन्द्र को लिखा – 'गोदान निकल गया। कल तुम्हारे पास जाएगा। खूब मोटा हो गया है, ६०० से (ऊपर) गया। अपना विचार लिखना।'[१०]

इससे प्रकट है कि 'गोदान' का प्रकाशन जून १६३६ में हुआ और अमृतराय जी भी जून १६३६ में ही इसके प्रकाशित होने का उल्लेख करते हैं।[११] किन्तु अख्तर हुसैन 'रायपुरी' को लिखा २७ फरवरी १६३६ का पत्र विचारणीय है, जिसमें लिखा है – 'मेरा नया नावेल गोदान अभी हाल में निकला है। उसकी एक

---

१. दे० चिट्ठी-पत्री २, पृ० २६ व ८०।
२. दे० प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, पृ० ६५६।
३. दे० साहित्य, वर्ष ११, अंक १, पृ० ७४।
४. दे० कलम का मजदूर : प्रेमचन्द, पृ० २३८ पर उल्लिखित।
५. दे० चिट्ठी-पत्री २, पृ० १६१।
६. दे० वही, पृ० ६४।
७. दे० कलम का मजदूर : प्रेमचन्द, पृ० ३३१।
८. दे० उपन्यासकार प्रेमचन्द, पृ० ५८-५६, मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि – 'गोदान : लेखक प्रेमचन्द, सरस्वती प्रेस, बनारस।'
६-१०. दे० चिट्ठी-पत्री २, पृ० २०० व ६४।
११. दे० प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, पृ० ६५६।

जिल्द भेज रहा हूँ। 'उर्दू' में रिव्यू करना'[१], इस उल्लेख से प्रतीत होता है कि इसका प्रकाशन 'फरवरी १९३६' में ही हो गया था। अत: यह अन्तर द्रष्टव्य है।

गुप्त जी ने इसकी प्रकाशन-तिथि १० अगस्त १९३६ दी है[२], जो केवल 'सन्' की दृष्टि से सही है। वैसे 'गोदान' के प्रकाशन-काल (१९३६) के सम्बन्ध में आलोचकों में मतैक्य है।

अख्तर हुसैन रायपुरी को लिखे २७ फरवरी १९३६ (?) के पत्र से ज्ञात होता है कि मुंशी जी अपने हिन्दी उपन्यास 'गोदान' के उर्दू-रूपान्तर 'गऊदान' के प्रकाशन के लिए भी प्रयत्नशील थे[३], किन्तु यह ज्ञात नहीं हो सका कि उक्त उर्दू-रूपान्तर प्रकाशित हो सका या नहीं। यदि प्रकाशित हुआ तो कब और कहाँ से?

इसके विद्यार्थी एवं संक्षिप्त संस्करण भी प्रकाशित हुए हैं और 'होरी' नाम से इसका नाट्य रूपान्तर भी प्रकाशित हुआ है।

१६. *मंगलसूत्र* : प्रेमचन्द जी का अन्तिम उपन्यास, जो अधिकतर अन्तिम बीमारी के दिनों में लिखा गया और जिसे वे पूरा न कर सके, 'मंगलसूत्र' है।[४] अमृतराय जी के अनुसार यह सर्वप्रथम १९४८ में प्रकाशित हुआ था।[५] इसका प्रथम संस्करण हिन्दुस्तानी पब्लिशिंग हाउस, बनारस से प्रकाशित हुआ, किन्तु उसमें प्रकाशन-काल नहीं है।[६] 'प्रेमचन्द-स्मृति' में भी 'मंगलसूत्र' का प्रकाशन हुआ है।[७] अमृतराय जी के अतिरिक्त अन्य किसी लेखक ने 'मंगलसूत्र' की प्रकाशन-तिथि नहीं दी है। सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित 'मंगलसूत्र व अन्य रचनाएँ' शीर्षक पुस्तक में भी इसका प्रकाशन हुआ है।

प्रेमचन्द जी द्वारा तीन उपन्यास अनूदित होकर भी प्रकाशित हुए हैं –

१. सुखदास : यह जार्ज इलियट कृत 'साइलस मैरियर' का हिन्दी-अनुवाद है, जिसका प्रकाशन सन् १९२० में हिन्दी-ग्रन्थ रत्नाकर-कार्यालय, बम्बई द्वारा हुआ था।[८]

---

१. दे० चिट्ठी-पत्री २, पृ० २५०। अमृतराय जी ने इस पत्र की तिथि '२८ जुलाई १९३६' लिखी है (दे० प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, पृ० ६३८) यदि पत्र की यह तिथि सही है, तब तो 'गोदान' की प्रकाशन-तिथि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है और 'जून १९३६' पूर्णत: निर्विवाद हो जाता है।

२. दे० साहित्य, वर्ष ११, अंक १, पृ० ७५।

३. दे० चिट्ठी-पत्री २, पृ० २५०। उर्दू में 'गऊदान' का अनुवाद प्रेमचन्द जी की मृत्यु के बाद नहीं हुआ था, जैसा कुछ विद्वानों का विचार है, अपितु उर्दू उपन्यास की पांडुलिपि प्रेमचन्द जी के जीवन-काल में ही तैयार हो गयी थी, किन्तु सम्भवत: उसका प्रकाशन नहीं हो पाया था। उसका प्रकाशन न होने का कारण स्यात् उर्दू में उपन्यासों की अवहेलना थी।

४. दे० प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, पृ० ६३४ तथा कलम का मजदूर : प्रेमचन्द, पृ० ३२५।

५. दे० प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, पृ० ६५६।

६. दे० उपन्यासकार प्रेमचन्द, पृ० ५६।

७. इस पुस्तक के चयनकर्ता श्री अमृतराय जी हैं।

८. दे० साहित्य, वर्ष ११, अंक १, पृ० ७२। डा० गुप्त ने यह तिथि पुस्तक के प्रथम संस्करण के आधार पर दी है, जो प्रामाणिक है। मदनगोपाल जी ने १९२३ तिथि दी है, जो अशुद्ध है। दे० कलम का मजदूर : प्रेमचन्द, पृ० ३३४।

२. अहंकार : यह अनातोले फ्रांस कृत प्रसिद्ध उपन्यास 'थायस' का अविकल हिन्दी-अनुवाद है। इसका प्रकाशन 'राधाकृष्ण नेवटिया' द्वारा कलकत्ता से सन् १६२३ में हुआ था।[१]

३. आजाद कथा : रतननाथ 'सरशार' के 'फसानए आजाद' का यह हिन्दी-अनुवाद सरस्वती प्रेस, बनारस से दो भागों में १६२७ ई० में प्रकाशित हुआ था।[२]

४.५.२ प्रकाशित हिन्दी कहानी-संग्रहों की तालिका

क्र.सं.	संग्रह का नाम	प्रकाशन-संस्था	सन्
१.	सप्तसरोज[३]	हिन्दी पुस्तक एजेंसी, गोरखपुर	१६१७
२.	नवनिधि[४]	हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई	१६१८

---

१. डा० गुप्त ने यही तिथि दी है (दे० साहित्य, वर्ष ११, अंक १, पृ० ७२ तथा हि०पु०सा०, पृ० ५१४)। मदनगोपाल जी ने भी यही तिथि दी है। (दे० कलम का मजदूर : प्रेमचन्द, पृ० १४४, ३३०-३३४), किन्तु श्री अमृतराय ने इसकी प्रकाशन-तिथि १६२६ दी है। (दे० प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, पृ० ६५५)। मुझे १६२३ ही प्रामाणिक तिथि लगती है, पर अब तो इसका निर्णय प्रथम संस्करण की प्राप्ति से ही सम्भव है अथवा ऐसा कोई प्रमाणोल्लेख प्राप्त हो, जिसके आधार पर सही तिथि दी जा सके।

२. डा० गुप्त ने यही तिथि (८-१-२७) दी है (दे० हिन्दी पुस्तक साहित्य, पृ० ५६५ तथा साहित्य वर्ष ११, अंक १, पृ० ७३) किन्तु मदनगोपाल ने इसके प्रथम भाग को १६२५ में और दूसरे भाग को १६२६ में गंगापुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ से प्रकाशित होना लिखा है (दे० कलम का मजदूर : प्रेमचन्द, पृ० १६७; ३३०-३३४) अमृतराय जी ने १६२४-२५ के मध्य इसको अनूदित होना तो लिखा है, किन्तु इसकी कोई प्रकाशन-तिथि का उल्लेख नहीं किया है (दे० प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, पृ० ३५२)।

पद्मसिंह शर्मा को २२-१०-१६२५ को लिखे पत्र के प्रमाण से 'आजाद कथा' का प्रकाशन-काल १६२५ ठहरता है। उक्त पत्र में मुंशी जी ने लिखा था – "मैंने 'आजाद कथा' का दूसरा भाग बनारस से मँगाने के लिए पत्र लिखा है। आ जाये तो भेजूँ।" अतः इसकी प्रकाशन-तिथि का निर्णय भी प्रथम संस्करण के आधार पर ही सम्भव है।

३. प्रेमचन्द का सर्वप्रथम हिन्दी-कहानी-संग्रह।

४. 'नवनिधि' कहानी-संग्रह के प्रकाशक हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई के स्वामी एवं संचालक श्री नाथूराम प्रेमी थे। डा० इन्द्रमोहन कुमार सिन्हा ने 'हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई' और 'नाथूराम प्रेमी' को अलग-अलग दो प्रकाशक लिखा है तथा इन दोनों के द्वारा 'नवनिधि' के पृथक्-पृथक् दो संस्करण प्रकाशित किये जाने का उल्लेख किया है, जो भ्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इन तथाकथित दो संस्करणों में से एक का प्रकाशन-काल सं० १६७४ वि० बतलाया गया है और दूसरे का सन् १६१८ ई० लिखा है। (दे० प्रेमचन्दयुगीन भारतीय समाज, पृ० १०१)। ऐसा प्रतीत होता है कि डा० साहब को 'नवनिधि' के दो खंडित संस्करण हस्तगत हुए हैं। एक में उन्हें 'नाथूराम प्रेमी' के प्रकाशकीय वक्तव्य या भूमिका के अन्त में अंकित संवत् मिला तथा दूसरे में प्रथम संस्करण का सन्। वस्तुतः ये दोनों एक ही हैं। सं० १६७४ का यहाँ सन् १६१८ माना जाना ही उचित है, क्योंकि यह सन् १६१८ के आरम्भ का प्रकाशन है। डा० माताप्रसाद गुप्त ने बम्बई के गजट में १६१८ ई० में प्रकाशित प्रथम त्रैवार्षिक पुस्तक-सूची के आधार पर 'नवनिधि' के प्रथम संस्करण की प्रकाशन-तिथि '२०-१-१८' दी है। (दे० साहित्य, वर्ष ११, अंक १, पृ० ७२)। जो एक पुष्ट प्रमाण है। अतः एक ही सन् में दो प्रकाशनों का उल्लेख अनुपयुक्त है। जिन लेखकों ने सं० १६७४ में से ५७ घटाकर सन् १६१७ प्रकाशन-काल लिखा है, वह अशुद्ध है।

३. प्रेम-पूर्णिमा[1]	हिन्दी-पुस्तक एजेंसी, १२६ हरिसन रोड, कलकत्ता	१९१६ (?)
४. प्रेमपचीसी[2]	हिन्दी-पुस्तक एजेंसी, कलकत्ता	१९२३
५. प्रेमप्रसून	गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ	१९२४
६. प्रेमप्रमोद[3]	चाँद-कार्यालय, इलाहाबाद	१९२६
७. प्रेमप्रतिमा[4]	जगन्नाथप्रसाद, बनारस	१९२६
८. प्रेमद्वादशी	गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ	१९२६
९. प्रेमतीर्थ	सरस्वती प्रेस, बनारस	१९२९
१०. प्रेमचतुर्थी	हिन्दी पुस्तक एजेंसी, कलकत्ता	१९२९
११. अग्निसमाधि तथा अन्य कहानियाँ	नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ	१९२९
१२. पाँच फूल	सरस्वती प्रेस, बनारस	१९२९
१३. सप्त सुमन[5]	नन्दकिशोर ब्रदर्स, बनारस	१९३०
१४. प्रेमपंचमी[6]	गंगा फाइन आर्ट प्रेस, लखनऊ (गंगा पुस्तकमाला)	१९३१
१५. समरयात्रा और अन्य कहानियाँ[7]	सरस्वती प्रेस, बनारस	१९३२

---

१. डा० गुप्त ने १९२० के बंगाल-गजट में प्रकाशित प्रथम त्रैमासिक सूची के आधार पर 'प्रेमपूर्णिमा' के प्रथम संस्करण की प्रकाशन-तिथि '७-१-२०' दी है (दे० साहित्य, वर्ष ११, अंक १, पृ० ७२), जो अधिक प्रामाणिक है। यहाँ भी ऐसा लगता है कि वि० संवत् (१९७६) में से ५७ घटाकर सन् १९१९ प्रकाशन-काल दिया है।

२. डा० गुप्त ने '१९-९-२३' प्रकाशन-तिथि दी है (दे० साहित्य, वर्ष ११, अंक १, पृ० ७३) और डा० सिन्हा ने 'प्रेमपचीसी' का प्रकाशन-काल सन् १९२४ ई० दिया है (दे० प्रेमचन्दयुगीन भारतीय समाज, पृ० १०२), किन्तु डा० सिन्हा ने कोई प्रमाण नहीं दिया है। अतः डा० गुप्त की सूचना ही प्रामाणिक है।

इस कहानी-संकलन की एक विशेषता यह है कि इसमें उर्दू-प्रेमपचीसी की एक भी कहानी पुनः संकलित नहीं की गयी है।

३. इस संग्रह में प्रेमचन्द की उन सभी कहानियों का संग्रह है, जो इसके प्रकाशन-काल से पूर्व 'चाँद' में प्रकाशित हुई थीं। साथ में कुछ नयी कहानियाँ भी जोड़ दी गयी हैं।

४. इस संग्रह का प्रकाशन १९२६ में ही 'सरस्वती प्रेस, बनारस' तथा 'भार्गव पुस्तकालय, बनारस' से भी होना बतलाया जाता है। 'माधुरी' के १९२६ के कई अंकों में इसका विज्ञापन इस प्रकार दिया हुआ है— निकल गयी ! निकल गयी !! निकल गयी !!! प्रेमचन्द की दो नवीन रचनाएँ : 'कायाकल्प' और 'प्रेमप्रतिमा'।

५. इसी सन् में सरस्वती प्रेस, बनारस से भी इसका प्रकाशन होना बतलाया जाता है।

६. डा० गुप्त ने '१७-०४-३१' प्रकाशन-तिथि दी है (दे० सा० वर्ष ११, अंक १, पृ० ७४) और डा० सिन्हा ने 'प्रेम पंचमी' का प्रकाशन-काल सन् १९३० दिया है (दे० प्रेमचन्दयुगीन भारतीय समाज, पृ० १०४) किन्तु डा० सिन्हा ने अपने पक्ष में कोई प्रमाण नहीं दिया है। अतः डा० गुप्त की सूचना ही प्रामाणिक है।

७. इसका एक संस्करण केवल 'समरयात्रा' के नाम से सन् १९३० में सीताराम सेक्सरिया, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित हुआ था, जिसकी प्रकाशन-तिथि डा० गुप्त ने '१-७-३०' दी है (दे० सा० वर्ष ११, अंक १, पृ० ७४) और जो प्रकाशित होते ही सरकार द्वारा जब्त कर लिया गया था। इसमें सम्भवतः वही कहानियाँ हैं, जो १९३२ के संस्करण में हैं। विशेष जानकारी तो इनके मिलाने पर ही सम्भव है।

हिन्दुस्तानी पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद से भी यह संग्रह 'समरयात्रा और ग्यारह अन्य राजनीतिक कहानियाँ' नाम से प्रकाशित हुआ है। इसमें भी वही कहानियाँ हैं, जो सरस्वती प्रेस, बनारस के संस्करण में हैं।

१६. प्रेरणा और अन्य कहानियाँ	सरस्वती प्रेस, बनारस	१६३२
१७. प्रेमचन्द की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ[१]	राजपाल एंड संस, दिल्ली	१६३२
१८. पंच प्रसून	हिन्दी पुस्तक एजेंसी, कलकत्ता	१६३४
१६. नवजीवन[२]	हिन्दी पुस्तक एजेंसी, कलकत्ता	१६३५
२०. मानसरोवर, भाग-१	सरस्वती प्रेस, बनारस	१६३६
२१. मानसरोवर[३], भाग-२	सरस्वती प्रेस, बनारस	१६३६
२२. कुत्ते की कहानी	सरस्वती प्रेस, बनारस	१६३६
२३. कफन और शेष रचनाएँ[४]	सरस्वती प्रेस, बनारस	१६३७
२४. ग्राम्य जीवन की कहानियाँ	हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई	१६३८
२५. नारी-जीवन की कहानियाँ[५]	सरस्वती प्रेस, बनारस	१६३८
२६. जंगल की कहानियाँ[६]	सरस्वती प्रेस, बनारस	१६३८
२७. मानसरोवर, भाग-३	सरस्वती प्रेस, बनारस	१६३८
२८. मानसरोवर, भाग-४	सरस्वती प्रेस, बनारस	१६३६
२६. प्रेमपीयूष[७]	नन्दकिशोर एंड ब्रदर्स, बनारस १६४१ (?)	(१६३५)

१. डा० सिन्हा ने इस संग्रह के प्रथम संस्करण का प्रकाशन 'राजपाल एंड संस, दिल्ली' होना लिखा है, किन्तु मेरी जानकारी के अनुसार इसका प्रथम संस्करण लाहौर से निकला था। (द्वितीय संस्करण तो निश्चय ही १६३६ में लाहौर से ही निकला था।) प्रथम संस्करण में (१) मंत्र, (२) मुक्ति-मार्ग, (३)महातीर्थ, (४) रानी सारन्धा, (५) सती, (६) क्षमा, (७) पंच परमेश्वर, (८) प्रायश्चित्त, (६)शतरंज के खिलाड़ी, (१०) दो बैलों की कथा तथा (११) सुजान भगत कहानियाँ हैं, किन्तु अब जो कहानी-संग्रह इस नाम से प्राप्य है और जिसका प्रकाशन सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद से हुआ है, उसमें 'शतरंज के खिलाड़ी' और 'दो बैलों की कथा' के अतिरिक्त शेष दूसरी कहानियाँ हैं। प्रथम संस्करण की भूमिका को भी काट-छाँट उस पृष्ठ को, जिससे उक्त कहानी-संग्रह के प्रकाशन पर प्रकाश पड़ता है, निकाल दिया गया है। (दे० प्रेमचन्दयुगीन भारतीय समाज, पृ० १०४ व १०८)।

२. इसका एक संस्करण 'गोपाल पब्लिशिंग हाउस, बाँकीपुर पटना' से भी प्रकाशित होना बतलाया जाता है।

३. डा० गुप्त ने भी 'मानसरोवर' के प्रथम व द्वितीय – दोनों भागों का प्रकाशन-काल १६३६ ही दिया है। (दे० साहित्य वर्ष ११, अंक १, पृ० ७५), किन्तु मदनगोपाल जी ने भाग १ का प्रकाशन-काल १६३५ लिखा है (दे० कलम का मजदूर प्रेमचन्द, पृ० ३३१ व ३३३)।

संख्या २१ के बाद के सभी कहानी-संग्रह (केवल २६ सं० को छोड़कर) प्रेमचन्द जी की मृत्यूपरान्त प्रकाशित हुए हैं।

४. अब केवल 'कफन' नाम से ही इसका संस्करण उपलब्ध है। केवल पुस्तक के शीर्षक में ही भिन्नता है, कहानियों में कोई अन्तर नहीं।

५. इसका एक संस्करण 'हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, कार्यालय बम्बई' से भी प्रकाशित होना बतलाया जाता है।

६. इसका एक संस्करण 'हिन्दुस्तानी पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद' से भी प्रकाशित होना बतलाया जाता है।

७. डा० माताप्रसाद ने इस संकलन की प्रकाशन-तिथि '१३-१२-३५' दी है और इसका स्टैंडर्ड पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद' द्वारा प्रकाशित होना लिखा है। डा० गुप्त ने यह सूचना १६३६ के उ०प्र० गजट की प्रथम त्रैवार्षिक सूची के आधार पर दी है। उनकी सूचना प्रमाण-पुष्ट है। डा० सिन्हा ने कोई प्रमाण नहीं दिया है। अतः डा० गुप्त का उल्लेख ही स्वीकार्य है। प्रथम संस्करण की प्रकाशन-तिथि १६३५ ही प्रामाणिक है (दे० साहित्य वर्ष ११, अंक १, पृ० ७४)।

३०. अलग्योझा और अन्य कहानियाँ[1]	सरस्वती प्रेस, बनारस	१९४५
३१. निमन्त्रण और अन्य कहानियाँ	सरस्वती प्रेस, बनारस	१९४५
३२. लैला और दूसरी कहानियाँ[2]	सरस्वती प्रेस, बनारस	१९४५
३३. दो बहनें और दूसरी कहानियाँ[3]	सरस्वती प्रेस, बनारस	१९४६
३४. मानसरोवर, भाग-५	सरस्वती प्रेस, बनारस	१९४६
३५. मानसरोवर[4], भाग-६	सरस्वती प्रेस, बनारस	१९४६
३६. मानसरोवर, भाग-७	सरस्वती प्रेस, बनारस	१९४७
३७. मानसरोवर, भाग-८	सरस्वती प्रेस, बनारस	१९५०
३८. गुप्तधन, भाग-१	हंस प्रकाशन, इलाहाबाद	१९६२
३९. गुप्तधन, भाग-२	हंस प्रकाशन, इलाहाबाद	१९६२
४०. पचास कहानियाँ[5]	सरस्वती प्रेस, बनारस	१९६३
४१. प्रेमचन्द की अप्राप्य कहानियाँ[6]	सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद	प्रकाशित

प्रेमचन्द जी ने कुछ हिन्दी-कहानियों के संग्रह भी सम्पादित कर प्रकाशित कराये थे और टालस्टाय की कहानियों को अनूदित कर उसका भी एक संकलन प्रकाशित कराया था। इन कहानी-संग्रहों का विवरण इस प्रकार है –

१. टालस्टाय की कहानियाँ[7] (अनु.)	हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता	१९२३
२. मनमोदक[8] (सं०) (संशोधित संस्करण)	चाँद कार्यालय, इलाहाबाद	१९२६
३. गल्प समुच्चय (सं०)	सरस्वती प्रेस, बनारस	१९२८

---

१. अब 'अलग्योझा' शीर्षक से प्राप्त कहानी-संग्रह, यही कहानी-संकलन है। भिन्नता संकलन के शीर्षक में ही है। कहानियाँ वे ही हैं, जो प्रथम संस्करण में हैं।

२. अब यह कहानी-संकलन केवल 'लैला' शीर्षक से ही प्राप्य है। अन्तर केवल शीर्षक में है। कहानियाँ वे ही हैं, जो प्रथम संस्करण में हैं।

३. इसका क्रमोल्लेख डा० सिन्हा से छूट गया है। (दे० प्रेमचन्दयुगीन भारतीय समाज, पृ० १०७) ३२ के बाद ३४ क्रम संख्या का उल्लेख है। मैंने इस ३३ संख्यक कहानी-संग्रह के प्रकाशन-काल (१९४६) का उल्लेख अनुमान से किया है। यह १९४५ भी हो सकता है।

४. भाग ६, भाग ५ और भाग ७ के बीच का प्रकाशन है। भाग ५ का प्रकाशन १९४६ में हुआ और भाग ७ का प्रकाशन १९४७ में हुआ। इसलिए भाग ६ का प्रकाशन १९४७ से पूर्व अर्थात् १९४६ माना जा सकता है। भाग ६ का द्वितीय संस्करण १९४६ में हुआ था। (दे० प्रेमचन्दयुगीन भारतीय समाज, पृ० १०७)

५. इस नाम से प्रेमचन्द का कोई भी कहानी-संग्रह पहले नहीं निकला था। अतः यह प्रथम संस्करण ही है। इस संग्रह में 'वर्तमान संस्करण, १९६३ ई०' अंकित है। यहाँ वर्तमान शब्द भ्रामक है।

६. इसमें लगभग २० अज्ञात एवं अप्राप्य कहानियाँ संगृहीत की गयी हैं। इनके अतिरिक्त 'ठाकुर का कुँआ' इस नाम से अलग-अलग दो कहानी-संग्रह सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद से और प्रकाशित हुए हैं। इनमें से एक का मूल्य १२) है, जो बड़ा संकलन है। दूसरे का मूल्य ३) है। इसका प्रकाशन बाल-साहित्य के अन्तर्गत हुआ है। इस प्रकार के प्रकाशन व्यापारिक दृष्टि से किये गये हैं।

७. सम्भवतः २३ कहानियों का रूपान्तरण 'प्रेम प्रभाकर' नाम से छपवाया था।

८. इसका प्रथम संस्करण सन् १९२४ में स्वयं प्रेमचन्द जी ने छपवाया था।

४. गल्प-रत्न (सं०)	सरस्वती प्रेस, बनारस	१६२६
५. हिन्दी की आदर्श कहानियाँ[१] (सं)	ब्रजकिशोर, इलाहाबाद	१६३७

उपर्युक्त कहानी-संग्रहों के अतिरिक्त 'बालसाहित्य' और 'प्रौढ़ साहित्य' के नाम से तीन-तीन, चार-चार कहानियों की संग्रह-पुस्तिकाएँ भी प्रकाशित हुई हैं, जो किशोरों और नव-साक्षरों के उपयोग के लिए हैं। इन पुस्तिकाओं में उनके विविध कहानी-संग्रहों से ही कहानियों का चयन किया गया है। अतः इन छोटे-छोटे संग्रहों का अपना कोई स्वतन्त्र महत्त्व नहीं है।

यह लिखा जा चुका है कि प्रेमचन्द जी की कहानियों के संग्रह विभिन्न नामों से प्राप्त हैं। और साथ ही यह भी देखने में आता है कि इन संग्रहों में एक ही कहानी को चार-चार, पाँच-पाँच बार संकलित किया गया है। इससे कहानियों की वास्तविक संख्या निश्चित करने में असुविधा होती है। आवश्यकता इस बात की है कि उनकी कहानियों के संग्रहों का प्रामाणिक एवं वैज्ञानिक सम्पादन-प्रकाशन हो, जिससे कहानीकार के रूप में प्रेमचन्द जी का सही मूल्यांकन किया जा सके।[२]

४.५.३ प्राप्त कहानियों की काल-क्रमानुसार सूची[३]

क्र.सं.	कहानी	संग्रह का नाम	प्रकाशन	प्रकाशन-काल
१.	दुनिया का सबसे अनमोल रतन (रत्न)[४]	गुप्त-१	जमाना (?)	१६०७
२.	सांसारिक प्रेम और देशप्रेम (इश्के दुनिया और हुब्बे वतन)	गुप्त-१	जमाना	अप्रैल १६०८
३.	शोक का पुरस्कार[५] (सिला-ए-मातम)	गुप्त-१	सोजेवतन	१६०८
४.	शेख मखमूर[६]	गुप्त-१	सोजेवतन	१६०८

१. इस संकलन का प्रकाशन मुंशी जी की मृत्यु के बाद हुआ था।

२. समस्त कहानी-संग्रहों की सही प्रकाशन-तिथि शोधात्मक रूप में उनके प्रथम संस्करण अथवा वे संस्करण, जिनमें प्रथम संस्करण का तिथ्युल्लेख हो, प्राप्त कर उनके आधार से निश्चित की जाए। होना तो यह चाहिए कि प्रत्येक कहानी-संग्रह का रचना-काल मालूम किया जाए, किन्तु इससे पूर्व प्रत्येक कहानी का प्रकाशन-काल तो निरूपित किया ही जा सकता है।

३. मेरे विचार में प्रेमचन्द जी की कुल कहानियों की संख्या ३२० के लगभग है। खोज करने पर पाँच-दस कहानियाँ और मिल सकती हैं। प्रयत्न अवश्य होना चाहिए।

४. मुंशी जी ने अपने आत्मकथात्मक लेख में इसी कहानी को अपनी पहली कहानी बताया है और १६०७ में 'जमाना' में उसका छपना लिखा है, किन्तु आश्चर्य है कि 'जमाना' की फाइल में यह कहानी नजर नहीं आती। वैसे यह कहानी मुंशी जी के प्रथम उर्दू कहानी-संग्रह 'सोजेवतन' में संकलित होकर प्रकाशित हुई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि शायद 'जमाना' में यह कहानी छपी ही नहीं और सर्वप्रथम इसका प्रकाशन इसी संग्रह में हुआ था। खोज की जाकर इस तथ्य का निश्चय होना चाहिए।

५-६. यह ज्ञात नहीं हो सका कि ये दोनों कहानियाँ 'सोजेवतन' में प्रकाशित होने से पूर्व कहीं प्रकाशित हुई थीं या नहीं।

५.	पाप का अग्निकुंड (गुनाह का अग्निकुंड)	६; नवनि. (नवनिधि)	जमाना	मार्च १६१०[1]
६.	शिकार	१ (मानसरोवर)	जमाना	जून १६१०
७.	रानी सारंधा (उर्दू)	६; नवनि.; न.जी. (नवजीवन)	जमाना	सितम्बर १६१०
		(हिन्दी) जैन हितैषी		अगस्त १६१७
८.	बड़े घर की बेटी (उर्दू)	७; सप्तस; प्रे.द्वा.;	जमाना	दिसम्बर १६१०
	(सर्वप्रथम प्रेमचन्द नाम से)	नारी जी. (हिन्दी में)		जून १६१७
६.	विक्रमादित्य का तेगा (विकरमादित का तेगा)	गुप्त-१	जमाना	`जनवरी १६११
१०.	राजा हरदौल	६; नवनि.	जमाना	अप्रैल १६११
११.	आखिरी मंजिल	गुप्त-१	जमाना	अग.-सित. १६११
१२.	गरीब की हाय	८; प्रे.पू.(प्रेमपूर्णिमा)	जमाना	अक्तूबर १६११
१३.	आल्हा	गुप्त-१	जमाना	जनवरी १६१२
१४.	मामता (ममता)	५; नवनि.; स.सु. (सप्तसुमन)	जमाना	फरवरी १६१२
१५.	नसीहतों का दफ्तर	गुप्त-१	जमाना	मई-जून १६१२
१६.	राजहठ	गुप्त-१	जमाना	सितम्बर १६१२
१७.	तिरिया-चरित्तर (त्रियाचरित्र)	गुप्त-१	जमाना	जनवनी १६१३
१८.	अमावस्या की रात	६; नवनि०	जमाना	अप्रैल १६१३
१६.	धर्मसंकट	८; प्रे०पू०	जमाना	मई १६१३
२०.	मिलाप	गुप्त-१	जमाना	जून १६१३
२१.	अंधेर	गुप्त-१	जमाना	जुलाई १६१३
२२.	सिर्फ एक आवाज	गुप्त-१	जमाना	अग.-सित. १६१३
२३.	बाँका जमींदार	गुप्त-१	जमाना	अक्तूबर १६१३
२४.	अनाथ लड़की	गुप्त-१	जमाना	जून १६१४
२५.	खून सफेद	८; प्रे०पू०	जमाना	जुलाई १६१४
२६.	शिकारी और राजकुमार (उर्दू)[2]	८; प्रे०प्र०	जमाना	अगस्त १६१४
२७.	अपनी करनी	गुप्त-१	जमाना	सित.-अक्तू. १६१४
२८.	पछतावा	६; नवनि०	जमाना	नवम्बर १६१४
२६.	विस्मृति	७; प्रे०प०(प्रेमपचीसी)	जमाना	फरवरी १६१५
३०.	गैरत की कटार	गुप्त-१	जमाना	जुलाई १६१५
३१.	बेटी का धन	८; प्रे०पू०	जमाना	नवम्बर १६१५

१. अफसाना-ए-कुहन के नाम से।

२. शिकारी-राजकुमार (हिन्दी) स्वदेश (हिन्दी-साप्ता०) १८ अगस्त १६१६।

३२.	सौत-१ (गोदावरी)[1]	८; स०स०(सप्तसरोज)	सरस्वती	दिसम्बर १९१५
३३.	दो भाई (उर्दू)	७; प्रे०पू०; न०जी०	जमाना	जनवरी १९१६
		(हिन्दी)	लक्ष्मी	सितम्बर १९१८
३४.	सज्जनता का दण्ड	८; सप्तस०	सरस्वती	मार्च १९१६
३५.	पंच परमेश्वर (हिन्दी)	७; सप्तस०, प्रे०द्वा०	सरस्वती	जून १९१६
	पंचायत (उर्दू)	(प्रेमद्वादशी)	जमाना	मई-जून १९१६
३६.	घमण्ड का पुतला	गुप्त-१	जमाना	अगस्त १९१६
३७.	जुगनू की चमक	६; नविनि०; न.जी.	जमाना	अक्तूबर १९१६
३८.	धोखा	६; नवनि०	जमाना	नवम्बर १९१६
३९.	मर्यादा की बेटी	६; नवनि०	जमाना	जनवरी १९१७
४०.	ज्वालामुखी	८; प्रे०पू०	जमाना	मार्च १९१७
४१.	उपदेश	८; सप्तस०	जमाना	मई १९१७
४२.	ईश्वरी न्याय	५; प्रे०पू०;स०सु०	सरस्वती	जुलाई१९१७
४३.	महातीर्थ (हज्जे अकबर)[2]	७; प्रे०पू०; न०जी०	जमाना	सितम्बर १९१७ (?)
४४.	कप्तान साहब	५; पाँ०फू०(पाँच फूल)	जमाना	दिसम्बर १९१७
४५.	दुर्गा का मन्दिर	७; प्रे०पू०, प्रे०द्वा०;नव०जी०	सरस्वती	दिसम्बर १९१७
४६.	फतेह (विजय)	गुप्त-१	जमाना	अप्रैल १९१८
४७.	बलिदान	८; प्रे०पू०	सरस्वती	मई १९१८
४८.	वफा का खंजर	गुप्त-१	जमाना	नवम्बर १९१८
४९.	सेवा-मार्ग	८; प्रे०पू०	स्वदेश	फरवरी १९१९
५०.	आत्माराम (उर्दू)	७; प्रे०प०; प्रे०द्वा०;	जमाना	जनवरी १९२०
	(हिन्दी)	पं० प्र० (पंचप्रसून)	आज	२६-२७ मई १९२१
५१.	दफ्तरी (उर्दू)	८, प्रे०प०	कहकहशाँ	अक्तूबर १९१९
	(हिन्दी)		आज, हिं. सा.,	२४ अप्रैल १९२१
५२.	पशु से मनुष्य (इस्ला)	८; प्रे०प०	कहकशाँ	अप्रैल १९२०
५३.	मनुष्य का परमधर्म	३; प्रे०प्रतिमा	स्वदेश	जून १९२०
५४.	ब्रह्मा का स्वांग	८; प्रे०प०, न०जी०	(?)	मई १९२०
५५.	पुत्र-प्रेम	गुप्त-२	सरस्वती	जून १९२०
५६.	मृत्यु के पीछे	६; प्रे०प्र०; प्रे०पं०	सुबहे उम्मीद	सितम्बर १९२०

---

१. इसी नाम से उर्दू कहानी-संग्रह 'प्रेमबत्तीसी, भाग १' अग० १९२० में संकलित।

२. अमृतराय जी के अनुसार यह कहानी जमाना १९१७ के सितम्बर अंक में प्रकाशित हुई। (सिपाही, पृ० ६६२) किन्तु उनकी यह सूचना गलत है। जमाना में यह कभी नहीं छपी। उसकी फाइल में इसका कुछ पता नहीं चलता। मूलरूप में यह कहानी 'कहकशाँ' में प्रकाशित हुई और हिन्दी में 'महातीर्थ' के नाम से पहली बार 'प्रेम-पूर्णिमा' संग्रह में १९२० में छपी।

५७.	शान्ति-१ (गोपा-देवनाथ)	१; प्रे०द्वा०, प्रे०च० ग्राम्य० (प्रेमचतुर्थी)	उर्दू-प्रेमबत्तीसी भाग-२	१६२०
५८.	बूढ़ी काकी (उर्दू)	८; प्रे०प०; न०जी० (हिन्दी)	तहजीबे निसबाँ श्री शारदा	मई १६१८ जनवरी १६२१
५६.	विषम समस्या	८; प्रे०प०	जमाना	मार्च १६२१
६०.	विचित्र होली	३; प्रे०प्रतिमा	स्वदेश	मार्च १६२१
६१.	विंमाता	८; प्रे०प०	जमाना	अप्रैल १६२१
६२.	लाल-फीता[1]	– ; प्रे०च०	जमाना	जुलाई १६२१
६३.	लाग-डाँट	६; प्रे०प्र०; प्रे०च०	(?)	जुलाई १६२१
६४.	आदर्श विरोध	८; प्रे०प०	(?)	जुलाई १६२१
६५.	प्रारब्ध	७; प्रे०प०	(?)	अक्तूबर १६२१
६६.	त्यागी का प्रेम	६; प्रे०प्र०	मर्यादा	नवम्बर १६२१
६७.	मूठ	८; प्रे०प०	मर्यादा	जनवरी १६२२
६८.	हार की जीत[2]	८; प्रे०प०	मर्यादा	मई १६२२
६६.	स्वत्व-रक्षा	८; प्रे०प०	माधुरी	जुलाई १६२२
७०.	अधिकार-चिन्ता	६; प्रे०प्र०; प्रे०पं०	माधुरी	अगस्त १६२२
७१.	चकमा	६; प्रे०प्र०	(?)	नवम्बर १६२२
७२.	पूर्व संस्कार	८; प्रे०प०	माधुरी	दिसम्बर १६२२
७३.	परीक्षा-२ (नादिरशाह)	३; प्रे०प्रमोद	चाँद	जनवरी १६२३
७४.	राजभक्त	६; प्रे०प०, प्रे०पं०	माधुरी	फरवरी १६२३
७५.	नैराश्य-लीला	३; प्रे०प०, प्रे०प्रमोद	चाँद	अप्रैल १६२३
७६.	बौडम	८; प्रे०प०	(?)	अप्रैल १६२३
७७.	गृहदाह	६; प्रे०प्र०; प्रे०द्वा०;स० सु०; प्रे०प.; नारी जी०	(?)	जून १६२३
७८.	हजरतअली[3]	—	प्रभा	जुलाई १६२३
७६.	आपबीती	६; प्रे.प्र०	माधुरी	जुलाई १६२३
८०.	आभूषण	६; प्रे०प्र०; पं०प्र०; न०जी०; नारी जी०	माधुरी	अगस्त १६२३
८१.	कौशल	३; प्रे०प्रमोद; नारी जी०	चाँद	अगस्त १६२३
८२.	सत्याग्रह	३; प्रे० प्रतिमा, प्रे०द्वा०	माधुरी	दिसम्बर १६२३

१. यह कहानी केवल 'प्रेमचतुर्थी' में ही संगृहीत हुई। 'मानसरोवर' के किसी भाग में नहीं।
२. इस कहानी का प्रकाशन-काल डा० सिन्हा ने मार्च १६२२ दिया है। (दे० प्रेमचन्दयुगीन भारतीय समाज, पृ० ६४)।
३. यह कहानी किसी भी संग्रह में अभी तक संगृहीत नहीं हुई है। वास्तव में यह कहानी न होकर लेख अधिक है।

८३. सैलानी बन्दर	गुप्त-२	माधुरी	फरवरी १६२४
८४. वज्रपात	३; प्रे०प्रतिमा	माधुरी	मार्च १६२४
८५. नबी का नीति-निर्वाह	गुप्त-२	सरस्वती	मार्च १६२४
८६. मुक्ति-मार्ग	३; प्रे०प्रतिमा, प्रे०द्वा० प्रे०पी०	माधुरी	अप्रैल १६२४
८७. मुक्ति-धन	३; प्रे० प्रतिमा	माधुरी	मई १६२४
८८. सौभाग्य के कोड़े	३; प्रे०प्रतिमा	(?)	जून १६२४
८६. क्षमा	३; प्रे०प्रतिमा, प्रे०पी०	माधुरी	जून १६२४
६०. निर्वासन[1]	३; प्रे०प्रमोद	चाँद	जून १६२४
६१. नैराश्य	३; प्रे०प्रमोद	चाँद	जुलाई १६२४
६२. भूत	४; प्रे०प्रतिमा	माधुरी	अगस्त १६२४
६३. उद्धार	३; प्रे०प्रमोद	चाँद	सितम्बर १६२४
६४. दीक्षा	३; प्रे०प्रतिमा	माधुरी	सितम्बर १६२४
६५. शतरंज के खिलाड़ी[2]	३; प्रे०प्रतिमा, प्रे०द्वा०	माधुरी	अक्तूबर १६२४
६६. विनोद	३; प्रे०प्रतिमा	माधुरी	नवम्बर १६२४
६७. सवा सेर गेहूँ[3]	४; प्रे०प्रतिमा; प्रे०पी०	चाँद	नवम्बर १६२४
६८. तेंतर	३; प्रे०प्रमोद	चाँद	दिसम्बर १६२४
६६. डिक्री के रुपये	३; प्रे०प्रतिमा; प्रे०द्वा०; प्रे०पी०	माधुरी	जनवरी १६२५
१००. धिक्कार-१ (वंशीधर-मानी)	१ (मानसरोवर)	चाँद	फरवरी १६२५
१०१. नरक का मार्ग	३; प्रे०प्रमोद	चाँद	मार्च १६२५
१०२. सभ्यता का रहस्य	४; प्रे० प्रतिमा	मुाधरी	मार्च १६२५
१०३. विश्वास	३; प्रे०प्रमोद	चाँद	अप्रैल १६२५
१०४. मन्दिर और मस्जिद	गुप्त-२	माधुरी	अप्रैल १६२५
१०५. माता का हृदय	३; प्रे०प्रमोद	चाँद	जुलाई १६२५
१०६. भाड़े का टट्टू	३; प्रे०प्रतिमा	माधुरी	जुलाई १६२५
१०७. चोरी	५; प्रे०तीर्थ	माधुरी	सितम्बर १६२५
१०८. स्वर्ग की देवी	३; प्रे०प्रमोद	(?)	सितम्बर १६२५
१०६. दंड	३; प्रे०प्रमोद	चाँद	अक्तूबर १६२५
११०. लैला	३; प्रे०प्रतिमा	सरस्वती	जनवरी १६२६
१११. शूद्रा	२ (मानसरोवर)	चाँद	जनवरी १६२६

१. इस कहानी का प्रकाशन-काल डा० सिन्हा ने जुलाई १६२४ दिया है। (दे० प्रेमचन्दयुगीन भारतीय समाज, पृ० ६५)।

२. उर्दू में 'शतरंज की बाजी' नाम से 'जमाना' दिसम्बर १६२४ में।

३. इसी नाम से उूर्द-कहानी-संग्रह 'फिरदौसे खयाल' १६२६ में संकलित।

११२. प्रेमसूत्र[1]	गुप्त-२	सरस्वती	जनवरी १६२६
११३. मन्त्र-१ (लीलाधर चौबे)	५; प्रेमतीर्थ	माधुरी	फरवरी १६२६
११४. कजाकी	५; प्रे०तीर्थ; प्रे०पी०	माधुरी	अप्रैल १६२६
११५. लांछन-१ (जुगनू-खुर्शेद)	१ (मानसरोवर)	माधुरी	अगस्त १६२६
११६. ताँगेवाले की बड़	गुप्त-२	जमाना	सितम्बर १६२६
११७. रामलीला	५; प्रेमतीर्थ	माधुरी	अक्तूबर १६२६
११८. निमन्त्रण	५; प्रेमतीर्थ	सरस्वती	नवम्बर १६२६
११६. बहिष्कार	५; प्रेमतीर्थ	चाँद	दिसम्बर १६२६
१२०. हिंसा परमो धर्म	५; प्रेमतीर्थ	माधुरी	दिसम्बर १६२६
१२१. बड़े बाबू[2]	गुप्त-२	बहारिस्तान (?)	फरवरी १६२७
१२२. शादी की वजह	गुप्त-२	जमाना	मार्च १६२७
१२३. सती-१ (रत्नसिंह-चिंतादेवी)	५; प्रेमतीर्थ; स०सु० प्रे०पी०	माधुरी	मार्च १६२७
१२४. कामना-तरु	५; प्रेमतीर्थ	माधुरी	अप्रैल १६२७
१२५. सुजान भगत	५; अग्नि.; स०सु०; प्रे०पी०	माधुरी	मई १६२७
१२६. मन्दिर	५; प्रेमतीर्थ; स०सु०; प्रे०पी०	चाँद	मई १६२७
१२७. माँगे की घड़ी	४; अग्नि०	माधुरी	जुलाई १६२७
१२८. आत्मसंगीत	५; अग्नि०	माधुरी	अगस्त १६२७
१२६. ऐक्ट्रेस	५; अग्नि०	माधुरी	अक्तूबर १६२७
१३०. बोहनी[3]	गुप्त-२	भारत	(?) १६२८
१३१. मोटेराम जी शास्त्री[4]	गुप्त-२	माधुरी	जनवरी १६२८
१३२. अग्निसमाधि	५; अग्नि०	विशाल भारत	जनवरी १६२८
१३३. मन्त्र-२ (डा० चड्ढा)[5]	५; पां०फू०; प्रे०पी०	विशाल भारत	मार्च १६२८
१३४. दो सखियाँ	४; अग्नि०	माधुरी	मई १६२८
१३५. पिसनहारी का कुआँ	५; अग्नि०	माधुरी	जून १६२८
१३६. सुहाग का शव	५; अग्नि०	माधुरी	जुलाई १६२८
१३७. दारोगा जी	४; प्रेरणा०	माधुरी	अगस्त १६२८
१३८. अभिलाषा	३; प्रेरणा०	माधुरी	अक्तूबर १६२८

१. इसका प्रकाशन-काल डा० सिन्हा ने 'अप्रैल १६२६' दिया है। (दे० प्रेमचन्दयुगीन भारतीय समाज, पृ० ६६)।
२. इस कहानी को गुप्तधन-२ में 'खाके परवाना' से संकलित किया जाना लिखा है।
३. इस कहानी को 'गुप्तधन-२' में 'प्रेमचालीसी' से संकलित किया जाना लिखा है।
४. यह कहानी 'माधुरी' के मई १६२८ के अंक में दुबारा भी प्रकाशित हुई थी।
५. उर्दू में 'मन्तर' नाम से 'जमाना' फरवरी १६२८ में प्रकाशित।

१३९. विद्रोही	२(मानसरोवर)	माधुरी	नवम्बर १९२८
१४०. आगा-पीछा	४; प्रेरणा०	माधुरी	दिसम्बर १९२८
१४१. इस्तीफा	५; पां०फू०	भारतेन्दु	दिसम्बर १९२८
१४२. प्रायश्चित	५ (मानसरोवर)	सरस्वती	जनवरी १९२९
१४३. खुचड़	४; प्रेरणा०	माधुरी	फरवरी १९२९
१४४. गुल्ली-डंडा[1]	१ (मानसरोवर)	हंस	फरवरी (१९२९?) १९३३
१४५. न्याय	२ (मानसरोवर)	माधुरी	मार्च १९२९
१४६. फातिहा	७; पां०फू०	विशाल भारत	मार्च १९२९
१४७. पर्वत-यात्रा	गुप्त-२	माधुरी	अप्रैल १९२९
१४८. माँ	१; ग्राम्य०	माधुरी	जुलाई १९२९
१४९. कानूनी कुमार	१; समरयात्रा और अन्य कहानियाँ	माधुरी	अगस्त १९२९
१५०. अलग्योझा[2]	१; ग्राम्य०	माधुरी	अक्तूबर १९२९
१५१. घरजमाई	१; ग्राम्य०	माधुरी	नवम्बर १९२९
१५२. घासवाली	१(मानसरोवर)	माधुरी	दिसम्बर १९२९
१५३. कवच	गुप्त-२	विशाल भारत	दिसम्बर१९२९
१५४. दो कब्रें	४; प्रेरणा और अन्य कहानियाँ	माया	जनवरी १९३०
१५५. धिक्कार-२ (पासोनियस)	३; प्रे०प्रमोद	माधुरी	फरवरी १९३०
१५६. जुलूस	७; समर०	हंस	मार्च १९३०
१५७. सुभागी	१ (मानसरोवर)	माधुरी	मार्च १९३०
१५८. पत्नी से पति	७; समर०	माधुरी	अप्रैल १९३०
१५९. समरयात्रा	७; समर०	हंस	अप्रैल १९३०
१६०. शराब की दूकान	७; समर०	हंस	मई १९३०
१६१. पूस की रात	१; ग्राम्य०	माधुरी	मई १९३०
१६२. मैकू	७; समर०	हंस	जून १९३०
१६३. आहुति[3]	कफन०, समर०	हंस	नवम्बर १९३०
१६४. उन्माद	२ (मानसरोवर)	माधुरी	जनवरी १९३१
१६५. जेल (में)	७; समर०, नारी०जी०	हंस	फरवरी १९३१
१६६. लांछन-२ (देवी-मुन्नू-श्याम)	५; समर०; प्रेमतीर्थ	माधुरी	फरवरी १९३१
१६७. ढपोरशंख	४; प्रेरणा०	हंस	मार्च १९३१

१. उर्दू में 'गिल्ली-डंडा' नाम से 'वारदात' कहानी-संग्रह में १९३५ में संकलित।
२. उर्दू में 'अलहदगी' नाम से 'जमाना' फरवरी १९३० में प्रकाशित।
३. उर्दू में 'जेल' नाम से 'चन्दन' जनवरी १९३१ में प्रकाशित।

१६८. आखिरी टीला	१ (मानसरोवर)	हंस	अप्रैल १६३१
१६६. डिमान्स्ट्रेशन	४; प्रेरणा०, प्रे०पी०	प्रेमा	अप्रैल १६३१
१७०. होली का उपहार	कफन०, समर०	माधुरी	अप्रैल १६३१
१७१. प्रेरणा	४; प्रेरणा; प्रे०पी०	विशाल भारत	मई १६३१
१७२. प्रेम का उदय	४; प्रेरणा०;	हंस	जून १६३१
१७३. शाप (सैरे दरवेश)[1]	६; प्रे०प्र०	हंस	अगस्त १६३१
१७४. आखिरी तोहफा[2]	गुप्त-२	चन्दन	अगस्त १६३१
१७५. स्वामिनी	१; ग्राम्य०,नारी जी०	विशाल भारत	सित० १६३१
१७६. तावान	१ (मानसरोवर)	हंस	सितम्बर १६३१
१७७. दूसरी शादी	गुप्त-२	चन्दन	सितम्बर १६३१
१७८. दो बैलों की कथा[3]	२ (मानसरोवर)	हंस	अक्तूबर १६३१
१७६. सद्गति[4]	४; प्रेरणा०	विशाल भारत	अक्तू० १६३१
१८०. लेखक	कफन०	हंस	नवम्बर १६३१
१८१. सौत-२ (रजिया)	गुप्त-२	विशाल भारत	दिस० १६३१
१८२. चमत्कार	२ (मानसरोवर)	माधुरी	मार्च १६३२
१८३. गिला	१ (मानसरोवर)	हंस	अप्रैल १६३२
१८४. कुत्सा	२ (मानसरोवर)	जागरण (सा.)	जुलाई १६३२
१८५. झाँकी	१; ग्राम्य०	जागरण (सा.)	अगस्त १६३२
१८६. ठाकुर का कुँआँ	१; समर०, ग्राम्य०	जागरण (सा.)	अगस्त १६३२
१८७. कुसुम	१ (मानसरोवर)	चाँद	अक्तूबर १६३२
१८८. डामुल का कैदी	२ (मानसरोवर)	हंस	नवम्बर १६३२
१८६. बेटोंवाली विधवा	१; ग्राम्य; नारी जी०	चाँद	नवम्बर १६३२
१६०. नेउर	२ (मानसरोवर)	हंस	जनवरी १६३३
१६१. कायर	१ (मानसरोवर)	विशाल भारत	जन० १६३३
१६२. वेश्या	२ (मानसरोवर)	चाँद	फरवरी १६३३
१६३. रसिक सम्पादक	१ (मानसरोवर)	जागरण (सा.)	मार्च १६३३
१६४. बालक	२ (मानसरोवर)	हंस	अप्रैल १६३३
१६५. ज्योति	१ (मानसरोवर)	चाँद	मई १६३३
१६६. कैदी	२ (मानसरोवर)	हंस	जुलाई १६३३

१. 'सैरेदरवेश' का प्रकाशन चार किस्तों में हुआ था। पहली किस्त (अप्रैल १६१०) के लेखक का नाम भूल से नवाबराय छप गया था, किन्तु मई, जून, जुलाई के अंकों में नवाबराय का नाम नहीं छपा। एक प्रकार से बिना किसी नाम के (मात्र दाल-रे नाम से) 'जमाना' में यह कहानी प्रकाशित हुई थी।

२. इस कहानी को 'गुप्तधन-२' में 'आखिरी तोहफा' से संकलित किया जाना लिखा है।

३. उर्दू में 'दो बैल' नाम से 'चन्दन' नवम्बर १६३१ में प्रकाशित।

४. इसे 'सरस्वती' १६३३ दिसम्बर में प्रकाशित होना भी माना जाता है। उर्दू में 'नजात' नाम से 'आखिरी तोहफा' कहानी-संग्रह में १६३४ में संकलित।

१६७. ईदगाह[1] (हिन्दी)	१; ग्राम्य०	चाँद	अगस्त १६३३
१६८. दिल की रानी	१ (मानसरोवर)	चाँद	नवम्बर १६३३
१६६. नशा	१; ग्राम्य०	चाँद	फरवरी १६३४
२००. शान्ति-२ (बाबूजी-पत्नी)	७; पं० प्र०; नारी०जी०	भारती	फरवरी १६३४
२०१. मनोवृत्ति	१ (मानसरोवर)	हंस	मार्च १६३४
२०२. रियासत का दीवान	२ (मानसरोवर)	हंस	मई १६३४
२०३. जादू	२; नारी जी०	हंस	मई १६३४
२०४. दूध का दाम[2]	२ (मानसरोवर)	हंस	जुलाई १६३४
२०५. पंडित मोटेराम की डायरी	कफन०	जागरण (सा.)	जुलाई १६३४
२०६. मुफ्त का यश	२ (मानसरोवर)	हंस	अगस्त १६३४
२०७. बासी भात में खुदा का साझा	२ (मानसरोवर)	हंस	अक्तूबर १६३४
२०८. बड़े भाई साहब[3]	१; ग्राम्य०	हंस	नवम्बर १६३४
२०६. खुदाई फौजदार	२ (मानसरोवर)	हंस	नवम्बर १६३४
२१०. स्मृति का पुजारी	४ (मानसरोवर)	हंस	अप्रैल १६३५
२११. देवी-२	गुप्त-२	चाँद	अप्रैल १६३५
२१२. जीवन का शाप	२; नारी०जी०	चाँद	जून १६३५
२१३. गृहनीति	२; नारी०जी०	चाँद	अगस्त १६३५
२१४. पैपुजी	गुप्त-२	माधुरी	अक्तूबर १६३५
२१५. लाटरी	२ (मानसरोवर)	हंस	अक्तूबर १६३५
२१६. दो बहनें	कफन, नारी०जी०	माधुरी	अगस्त १६३६
२१७. रहस्य	कफन०	हंस	सितम्बर १६३६
२१८. कफन[4] (हिन्दी)	कफन०	चाँद	अप्रैल १६३६
२१६. क्रिकेट मैच	गुप्त-२	जमाना	जुलाई १६३७

कहानी-संग्रहों में संकलित वे शेष कहानियाँ, जिनका काल निर्देशोल्लेख एक प्रकार से अभी तक अप्राप्य है। (जिनका ज्ञात हुआ, उनका उल्लेख कर दिया गया है)।

२२०. अनुभव (१६३०)	१; समर
२२१. मोटर के छींटे	२ (मानसरोवर)
२२२. मिस पद्मा	२ (मानसरोवर)
२२३. नया विवाह	२ (मानसरोवर)
२२४. स्त्री और पुरुष	३; प्रे० प्रमोद

१. ईदगाह (उर्दू) 'इस्मत' १६३३ (वर्षगाँठ विशेषांक में)।
२. उर्दू में 'दूध की कीमत' नाम से 'दूध की कीमत' नामक उर्दू-कहानी-संग्रह में १६३७ में संकलित।
३. उर्दू में इसी नाम से 'जादेराह' कहानी-संग्रह में १६३६ में संकलित।
४. कफन (उर्दू) 'जामिया' १६३५ दिसम्बर में।

२२५. आधार	३. प्रे० प्रमोद		
२२६. एक आँच की कसर	३. प्रे० प्रमोद	चाँद	अगस्त १६२४
२२७. गुरु-मन्त्र	३. प्रे० प्रतिमा		
२२८. बाबाजी का भोग	३; प्रे० प्रतिमा		
२२६. तगादा	४; प्रेरणा		
२३०. सती-२ (मुलिया-कल्लू)	४; प्रेरणा; नारी०जी०		
२३१. मृतक भोज	(हिन्दी) ४; प्रेरणा०, उर्दू में 'जादे राह' नाम से इसी नाम के उर्दू-कहानी-संग्रह में जून १६३६ में संकलित।		
२३२. समस्या	४ (मानसरोवर)		
२३३. आँसुओं की होली	५; प्रेमतीर्थ		
२३४. यही मेरी मातृभूमि है[1] (हिन्दी)	६; प्रे०प्र०		
२३५. दुराशा	६; प्रे०प्र०		
२३६. बैंक का दिवाला (१६२१)[2]	७; प्रे०द्वा०; प्रे०च०; पं०प्र०		
२३७. शंखनाद[3]	७; प्रे०पू०; प्रे०द्वा०; पं०प्र०	प्रभा फरवरी १६१६	
२३८. जिहाद	७; पां०फू०		
२३६. बैर का अन्त	७; प्रे०प०; स०सु०		
२४०. सुहाग की साड़ी	७; प्रे०प०; न०जी०	प्रभा जनवरी १६२२	
२४१. लोकमत का सम्मान	७; प्रे०प०		
२४२. नागपूजा	७; प्रे०प०		
२४३. बोध	८; प्रे०पू०		
२४४. सच्चाई का उपहार	८; प्रे०पू०		
२४५. विध्वंस	८ ; प्रे०प०		
२४६. दुस्साहस	८ ; प्रे०प०		
२४७. गुप्तधन	८; प्रे०प०		
२४८. अनिष्ट शंका	८ ; प्रे०प०		
२४६. नमक का दारोगा[4] (हिन्दी०)	८; सप्त०स०		(जून १६१७ में)
२५०. परीक्षा-१ (सुजान सिंह)[5]	८; सप्त स०; प्रे.प०		

१. यह कहानी 'यही मेरा वतन है' शीर्षक से उर्दू-कहानी-संग्रह 'सोजेवतन' (१६०८) में प्रकाशित हुई थी। अत: इसकी प्रकाशन-तिथि जुलाई सन् १६०८ या इससे कुछ समय पूर्व है।

२. इसका प्रकाशन 'कहकशाँ' फरवरी १६१६ में हुआ था। हिन्दी में इसका प्रकाशन १६२१ में हुआ।

३. उर्दू में 'बाँगे सहर' नाम से 'प्रेमबत्तीसी-१' में अगस्त १६२० में संकलित।

४. यह कहानी उर्दू 'प्रेम-पचीसी' भाग-१ में प्रकाशित हुई थी। भाग-१ का प्रकाशन १६१५ में हुआ था। (दे० चिट्ठी-पत्री १, पृ० ४०)। अत: १६१५ या इससे पूर्व ही इसकी प्रकाशन-तिथि सिद्ध होती है। उर्दू में इसका प्रकाशन इसी नाम से 'हमदर्द' अक्तूबर १६१३ में हुआ था।

५. इसका प्रकाशन 'सप्तसरोज' (१६१७) में भी हुआ था। इससे पूर्व यह उर्दू में प्रकाशित हो चुकी थी। अत: १६१७ से पूर्व इसकी प्रकाशन-तिथि ठहरती है।

२५१. जुरमाना	कफन०		
२५२. मेरी पहली रचना[1]	कफन०	हंस	दिसम्बर १९३५
२५३. जीवनसार[1]	कफन०	हंस	फरवरी १९३२
२५४. काश्मीरी सेव	कफन०		
२५४. तथ्य	कफन०; नारी जी०		
२५६. प्रेम की होली	कफन०		
२५७. यह भी नशा, वह भी नशा	कफन०		
२५८. मुबारक बीमारी	गुप्त-१	उर्दू प्रेमबत्तीसी से संकलित	
२५९. वासना की कड़ियाँ	गुप्त-१	उर्दू प्रेमबत्तीसी से संकलित	
२६०. मनावन	गुप्त-१	उर्दू प्रेमपचीसी से संकलित	
२६१. नेकी (बेगरज-मुहसिन)[2]	गुप्त-१	उर्दू प्रेमपचीसी से संकलित	
२६२. कर्मों का फल	गुप्त-१	उर्दू प्रेमपचीसी से संकलित	
२६३. अमृत	गुप्त-१	उर्दू प्रेमपचीसी से संकलित	
२६४. इज्जत का खून	गुप्त-२	उर्दू प्रेमपचीसी से संकलित	
२६५. प्रतिशोध	गुप्त-२	उर्दू प्रेमचालीसी से संकलित	
२६६. देवी-१ (अनाथ विधवा)	गुप्त-२	उर्दू प्रेमचालीसी से संकलित	
२६७. राष्ट्र का सेवक	गुप्त-२	उर्दू प्रेमचालीसी से संकलित	
२६८. बन्द दरवाजा	गुप्त-२	उर्दू प्रेमचालीसी से संकलित	
२६९. तिरसूल	गुप्त-२	उर्दू प्रेमचालीसी से संकलित	
२७०. नादान दोस्त	गुप्त-२	उर्दू खाकेपरवाना से संकलित	
२७१. खुदी	गुप्त-२	उर्दू खाकेपरवाना से संकलित	
२७२. स्वांग	गुप्त-२	उर्दू वारदात से संकलित	
२७३. कोई दुख न हो तो बकरी खरीद लो।	गुप्त-२	उर्दू वारदाता से संकलित	
२७४. होली की छुट्टी	गुप्त-२	उर्दू जादे राह से संकलित	
२७५. कातिल	गुप्त-२	उर्दू आखिरी तोहफा से संकलित	
२७६. कुत्ते की कहानी	कु०की० क०		
२७७. अन्तिम शान्ति	नारी जी०		
२७८. शेर और लड़का	जंगल		
२७९. बनमानुष की दर्दनाक कहानी	जंगल		
२८०. द. अफ्रीका में शेर का शिकार	जंगल		
२८१. गुब्बारे पर चीता	जंगल		

१. ये दोनों कहानियाँ न होकर लेख ही हैं।

२. 'बेगरज-मुहसिन' का प्रकाशन 'अदीब' के सितम्बर १९१० के अंक में हुआ था। यह छद्म नाम 'दाल-रे' के नाम से छपी थी।

२८२. पागल हाथी	जंगल		
२८३. साँप की मणि	जंगल		
२८४. बनमानुष खानसामा	जंगल		
२८५. मिट्ठू	जंगल		
२८६. पालतू भालू	जंगल		
२८७. बाग की खाल	जंगल		
२८८. मगर का शिकार	जंगल		
२८९. जुड़वाँ भाई	जंगल		
२९०. खौफे रुसवाई[१]	'अदीब'	उर्दू पत्रिका	सितम्बर १९११
२९१. दारु-ए-तल्ख[२]	'हमदर्द'	उर्दू पत्रिका	जुलाई १९१३
२९२. जंजीरे हवस[३]	'कहकशाँ'	उर्दू पत्रिका	सित.-अक्तू. १९१८
२९३. आबे हयात[४]	'सुबहे उम्मीद'	उर्दू पत्रिका	मार्च १९२०
२९४. गिरफ्तारी[५]			सम्भवत: १९३०
२९५. उसका अन्त[६]			
२९६. अश्के नदामत[७]			

सौत, शान्ति, परीक्षा, धिक्कार, मन्त्र, लांछन, सती, देवी एक ही शीर्षक से दो-दो भिन्न कहानियाँ हैं। इसलिए प्रत्येक के आगे तत्सम्बन्धी पात्रों का उल्लेख कोष्ठक में कर दिया गया है। प्रकाशन-काल के आधार पर उनके आगे १ व २ का निर्देश भी कर दिया गया है।

प्रश्नवाचक चिह्नवाली कहानियों का प्रकाशन-काल तो ज्ञात है, किन्तु वे कहाँ, किस पत्रिका में 'प्रकाशित हुई', यह ज्ञात नहीं हो सका। अन्यत्र अंकित यह चिह्न संदिग्धता का सूचक है।

उपर्युक्त कहानियों के अतिरिक्त प्रेमचन्द जी की लगभग २० अज्ञात एवं अप्राप्य कहानियों का एक संग्रह सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद से और प्रकाशित हुआ है।

प्रेमचन्द जी की कहानियों का शोधपूर्ण गम्भीर अध्ययन अपेक्षित है। उनकी उर्दू-हिन्दी सभी कहानियों की एक ऐसी तुलनात्मक तालिका (चार्ट) तैयार करने की आवश्यकता है, जिससे यह ज्ञात हो सके कि कौन कहानी किस रूप में कहाँ

१-३. इनका प्रकाशन हिन्दी में किस नाम से हुआ है, कुछ कहा नहीं जा सकता। 'खौफे रुसवाई' का नाट्य रूपान्तर श्री विष्णुप्रभाकर जी ने 'मनोवृत्ति' नाम से किया है।

४. यह मुंशी जी की मौलिक कहानी नहीं है। ये किन्हीं अंग्रेजी कहानी के तर्जुमे हैं। इसकी पुष्टि 'ताज' को लिखे एक पत्र से होती है। (दे० चिट्ठी-पत्री २, पृष्ठ ११६)।

५. इसका उल्लेख मिलता है, किन्तु इसका प्रकाशन कहाँ हुआ था, कुछ पता नहीं चला।

६. इसका प्रकाशन सम्भवत: 'जागरण' में हुआ था, क्योंकि इसके दण्ड में जागरण से २६-१०-३२ को दो हजार की जमानत माँगी गयी थी। (दे० चिट्ठी-पत्री २, पृ० २७)।

७. यह मुंशी जी की मौलिक कहानी नहीं है। ये किन्हीं अंग्रेजी कहानी के तर्जुमे हैं। इसकी पुष्टि 'ताज' को लिखे एक पत्र से होती है। (दे० चिट्ठी-पत्री २, पृष्ठ ११६)।

और कब सर्वप्रथम प्रकाशित हुई और उसका हिन्दी अथवा उर्दू रूपान्तर भी कहाँ और कब प्रकाशित हुआ। कौन कहानी-संग्रह (उर्दू-हिन्दी) कब निकले और उनमें कौन-कौन सी कहानियाँ संकलित थीं, इसका प्रामाणिक विवरण प्रकाश में आना चाहिए। उर्दू कहानी-संग्रहों में संकलित किन कहानियों का किस शीर्षक से हिन्दी-रूपान्तर किन हिन्दी-कहानी-संग्रहों में छपा है, इसकी भी प्रामाणिक जानकारी नितान्त आवश्यक है। प्रेमचन्द के समग्र साहित्य का वैज्ञानिक अध्ययन तभी सम्भव है, जब उनकी सारी रचनाओं के प्रकाशन का प्रामाणिक विवरण तैयार होकर सामने आये।

४.५.४ मृत्यूपरान्त प्रकाशित रचनाएँ

क्र.सं.	रचना का नाम	प्रकाशन-स्थल	काल
१.	कुत्ते की कहानी	सरस्वती प्रेस, बनारस	१६३६ ई० (८-१२-३६)
२.	हिन्दी की आदर्श कहानियाँ (सम्पादित)	ब्रजकिशोर, इलाहाबाद	१६३७ ई० (६-२-३७)
३.	कफन और शेष रचनाएँ	सरस्वती प्रेस, बनारस	१६३७ ई० (४-६-३७)
४.	सृष्टि का आरम्भ (अनु०) (बर्नाड शा के बैकटु मैथुसेला का अनुवाद)	सरस्वती प्रेस, बनारस	१६३८ ई० (१५-५-३८)
५.	जंगल की कहानियाँ	सरस्वती प्रेस, बनारस	१६३८ ई० (२४-६-३८)
६.	दुर्गादास	सरस्वती प्रेस, बनारस	१६३८ ई० (२६-६-३८)
७.	रामचर्चा	सरस्वती प्रेस, बनारस	१६३८ ई०
८.	नारी-जीवन की कहानियाँ	सरस्वती प्रेस, बनारस	१६३८ ई०
६.	ग्राम्य जीवन की कहानियाँ	सरस्वती प्रेस, बनारस	१६३८ ई०
१०.	मानसरोवर, भाग ३	सरस्वती प्रेस, बनारस	१६३८ ई०
११.	मानसरोवर, भाग ४	सरस्वती प्रेस, बनारस	१६३६ ई०
१२.	कुछ विचार	सरस्वती प्रेस, बनारस	१६३६ ई०
१३.	कलम, तलवार और त्याग (दो भाग)	सरस्वती प्रेस, बनारस	१६४० ई०
१४.	मानसरोवर, भाग ५	सरस्वती प्रेस, बनारस	१६४६ ई०
१५.	मानसरोवर, भाग ६	सरस्वती प्रेस, बनारस	१६४६ ई०
१६.	मानसरोवर, भाग ७	सरस्वती प्रेस, बनारस	१६४७ ई०
१७.	मानसरोवर, भाग ८	सरस्वती प्रेस, बनारस	१६५० ई०
१८.	साहित्य का उद्देश्य	प्र० शिवरानी प्रेमचन्द वितरक हंस प्रकाशन, इलाहाबाद	१६५४ ई०
१६.	गुप्तधन (दो भाग)	हंस प्रकाशन, इलाहाबाद	१६६२ ई०
२०.	मंगलाचरण	हंस प्रकाशन, इलाहाबाद	१६६२ ई०

२१.	विविध प्रसंग (तीन खण्ड)	हंस प्रकाशन, इलाहाबाद	१९६२ ई०
२२.	चिट्ठी-पत्री (दो खण्ड)[1]	हंस प्रकाशन, इलाहाबाद	१९६२ ई०
२३.	शबेतार	हंस प्रकाशन, इलाहाबाद	१९६२ ई०
२४.	सोजेवतन	हंस प्रकाशन, इलाहाबाद	१९६२ ई०
२५.	प्रेमचन्द की अप्राप्य कहानियाँ	सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद	प्रकाशित

४.५.५ प्रकाशित उर्दू-कहानी-संग्रहों की तालिका

क्र.सं.	संग्रह का नाम	प्रकाशन-संस्था	सन्
१.	सोजे वतन[2]	इसे स्वत: प्रकाशित किया था (जमाना प्रेस, कानपुर से)	१९०८
२.	प्रेमपचीसी[3] भाग-१	स्वयं ही (जमाना प्रेस, कानपुर से)	१९१५
३.	प्रेमपचीसी[4] भाग-२	सम्भवत: स्वयं ही (जमाना प्रेस, कानपुर से)	मार्च १९१८
४.	सैरे दरवेश[5]	स्वयं अपने खर्च पर जमाना प्रेस, कानपुर से	१९२० से पूर्व
५.	प्रेमबत्तीसी[6] भाग-१	जमाना प्रेस, कानपुर से	१९२०
६.	प्रेमबत्तीसी[7] भाग-२	इम्तियाज अली 'ताज' लाहौर द्वारा	१९२०
७.	फिरदोसये खयाल[8]	इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद	१९२९
८.	ख्वाब-ओ खयाल[9]	लाजपतराय एंड संस, लाहौर	१९२८
९.	खाके परवाना[10]	स्वयं ही (जमाना प्रेस, कानपुर से)	१९२८
१०.	प्रेमचालीसी[11] (चालीसा) (दो भागों में)	गिलानी प्रेस, लाहौर	१९३०

---

१. श्री मदनगोपाल द्वारा सम्पादित 'प्रेमचन्द के खतूत' मकतेबा जामिआ, नयी दिल्ली से १९६८ में उर्दू में भी प्रकाशित। इसमें कुछ नवीन चिट्ठियाँ संकलित हैं, जिनका संकलन हिन्दी-संस्करण में नहीं हो पाया।

२. दे० चिट्ठी-पत्री २, पृ० ७५ तथा कलम का मजदूर : प्रेमचन्द, पृ० ४८।

३. दे० चिट्ठी-पत्री १, पृ० ४० तथा वही, पृ० ८०।

४. दे० चिट्ठी-पत्री १, पृ० ६९-७१।

५. दे० चिट्ठी-पत्री २, पृ० १२२; किन्तु प्रतीत होता है कि इसका प्रकाशन १९१७ से भी पहले हो चुका था, क्योंकि निगम साहब को लिखे २३ मार्च १९१७ के पत्र में जमाना प्रेस, कानपुर से प्रकाशित पुस्तकों की सूची में इसका भी नाम है। (दे० चिट्ठी-पत्री १, पृ० ६२)।

६. दे० चिट्ठी-पत्री १, पृ० १०६-१०८।

७. दे० चिट्ठी-पत्री २, पृ० १२३। हिस्सा दोयम पहले प्रकाशित हुआ था और हिस्सा अव्वल बाद में। (दे० चिट्ठी-पत्री १, पृ० १०६)।

८-९. दे० कलम का मजदूर : प्रेमचन्द, पृ० १८२।

१०. दे० चिट्ठी-पत्री १, १९८-९९, भाग २, पृ० २८१।

११. दे० चिट्ठी-पत्री १, पृ० १७८-७९ तथा कलम का मजदूर : प्रेमचन्द, पृ० २३३।

११.	वारदात[1]	जामिया मिलिया, दिल्ली	१९३५
१२.	नजात[2]	तीर्थराम हरवंशलाल, लाहौर	
१३.	जादेराह[3]		जून १९३६
१४.	आखिरी तोहफा[4]		१९३४
१५.	दूध की कीमत[5]		१९३७
१६.	परवाज-खयाल[6]		
१७.	देहात के अफसाने[7]		

१. दे० चिट्ठी-पत्री २, पृ० १६१। १६ मार्च १९३५ के पत्र से ज्ञात होता है कि उस समय यह कहानी-संग्रह जामिया मिलिया दिल्ली के एहतमाम से छप रहा था।

२. दे० कलम का मजदूर : प्रेमचन्द, पृ० २३३।

३-४. उक्त दोनों कहानी-संग्रहों के प्रकाशन की पुष्टि 'गुप्तधन' भाग-२ की विषय-सूची से होती है, जिसमें इनसे कहानी ली जाने का उल्लेख है।

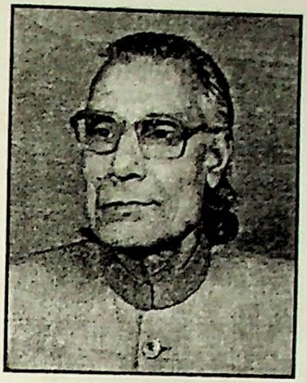
५. उर्दू में यह कहानी-संग्रह १९३७ में प्रकाशित हुआ था।

६. इस संग्रह के विषय में अभी कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अभी कोई प्रमाण इसके सम्बन्ध में मुझे प्राप्त नहीं हो सका है। मैं कह नहीं सकता कि इस नाम का उर्दू कहानी-संग्रह प्रकाशित हुआ या नहीं।

७. यह कोई मौलिक संकलन नहीं है। विभिन्न कहानी-संकलनों में से विशिष्ट कहानियों का चयन करके उक्त शीर्षक से प्रकाशित हुआ है।

प्रेमचन्द अपनी पाँच कहानियों – १. गुनाह का अग्निकुंड, २. सैरे दरवेश, ३. रानी सारंधा, ४. ब्रेगरज मुहसिन, ५. विकरमादित का तेगा पर आधारित 'ब्रगे सब्ज' नामक एक संग्रह प्रकाशित कराना चाहते थे, किन्तु उर्दू में इस नाम का प्रेमचन्द का कोई कहानी-संग्रह नहीं मिलता, सम्भवत: उसका प्रकाशन नहीं हो सका। दे० प्रेमचन्द के खतूत (सं० मदनगोपाल) दयानरायण निगम के नाम सितम्बर १९१० की चिट्ठी।

उर्दू-कहानी-संग्रहों के जो भी उल्लेख मुझे प्राप्त हो सके, उनके आधार पर यह सूची तैयार कर दी है। सम्भव है, इनके अतिरिक्त और भी कोई कहानी-संकलन प्रकाशित हुआ हो, किन्तु जिसकी जानकारी मुझे नहीं हो सकी। विद्वानों को इस ओर प्रयास करना चाहिए।



श्री वेद प्रकाश गर्ग

पिता का नाम: श्री तुलाराम जी
जन्म : ५–१२–१९२९ ई०
जन्म स्थान : मुजफ्फरनगर (उ० प्र०)
शिक्षा एवं व्यवसाय :
साहित्यरत्न, एल० टी०।
लगभग ४० वर्षों के अध्यापन कार्य के बाद जून १९९० ई० में सेवा–निवृत्त/संप्रति स्वतंत्र रूप से लेखन में संलग्न।

साहित्यिक उपलब्धि:
प्राचीन एवं मध्यकालीन इतिहास तथा हिन्दी साहित्य के अन्वेषक एवं संशोधक विद्वान् के रूप में हिन्दी की उच्च समीक्षा और शोध पत्रिकाओं के माध्यम से विद्वन्मंडली में प्रतिष्ठित।

सम्मान :
- मेरठ विश्वविद्यालय हिन्दी परिषद् द्वारा १९७८ ई० के मुजफ्फरनगर अधिवेशन में सम्मानित।
- षष्टिपूर्ति समारोह में २५ मई, १९९० ई० को सम्मानित।

प्रकाशित साहित्य:
१. हिन्दी की लगभग सभी प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में आठ सौ से ऊपर शोध लेख।
२. हिन्दी साहित्य की भ्रान्तियाँ और उनका निराकरण।
३. हिन्दी साहित्य का इतिहास समस्याएँ और समाधान
४. हिन्दी के सूफी कवि (प्रकाश्य)
५. प्रेमचन्द : जीवन और साहित्य (प्रकाश्य)
६. भारतीय इतिहास : संशोधनात्मक विवेचन (प्रकाश्य)

सम्पर्क : १४, खटीकान, मुजफ्फरनगर
(उ० प्र०)– २५१००२

कुसुम प्रकाशन
नवेन्दु सदन, आदर्श कालोनी
मुजफ्फरनगर (उ०प्र०)-२५१००१